साहित्य-रत्न-माला—४

अच्छी हिन्दी

[पाँचवाँ परिवर्द्धित संस्करण]

हिन्दी भाषा में होनेवाली सभी प्रकार की भूलों
का व्यवस्थित विवेचन

लेखक

रामचन्द्र वर्म्मा

(हिन्दी शब्द-सागर, संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर, उर्दू-हिन्दी कोश,
राजकीय कोश आदि के सम्पादक)

प्रस्तावना-लेखक

बाबूराव विष्णु पराड़कर

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय,

२० धर्म्मकूप, बनारस।

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्मकूप, बनारस।

पहला संस्करण, २०० पृष्ठ, २००० प्रतियाँ, मार्गशीर्ष २००१
दूसरा संस्करण, २७२ पृष्ठ, ४००० प्रतियाँ, आश्विन २००२
तीसरा संस्करण, ३४० पृष्ठ, ३००० प्रतियाँ, भाद्रपद २००४
चौथा संस्करण, ३७१ पृष्ठ, २००० प्रतियाँ, श्रावण २००५
पाँचवाँ संस्करण, ३७७ पृष्ठ, ४००० प्रतियाँ, भाद्रपद २००६

मुद्रक
मुकुन्ददास गुप्त 'प्रभाकर'
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।

मूल्य ३)

प्रस्तावना

दैनिक पत्र का दीर्घ काल तक संपादन करने का सौभाग्य वा दुर्भाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि वर्त्तमान स्थिति में, कम से कम भाषा की दृष्टि से, पत्र को 'शुद्ध' बनाना कितना कठिन काम हो गया है। इसका मुख्य कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली है, जिसमें प्राधान्य विदेशी साहित्य को और गौणत्व मातृ-भाषा के साहित्य को दिया जाता है। अपनी भाषा में अपने हृदय के भाव या विचार प्रकट करने की शिक्षा दी ही नहीं जाती। अँगरेजी में ग्रामर वा ईडियम की भूल हो जाय तो वह अक्षम्य समझी जाती है। विद्यार्थियों को उपदेश दिया जाता है कि परस्पर अँगरेजी में बातें करें, जिसमें उस भाषा में अपने भाव शुद्धता और सरलता-पूर्वक व्यक्त कर सकें। पर अपनी मातृ-भाषा में यही शक्ति या योग्यता प्राप्त करना भारतीय विद्यार्थी के लिए अनावश्यक समझा जाता है। फिर हिन्दी में सीखने का है ही क्या? जो हम बोलेंगे या लिखेंगे, वही हिन्दी है। अँगरेजो बालक के लिए पब्लिक स्कूलों और युनिवर्सिटियों में अँगरेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। उनके लिए यह नहीं कहा जाता कि अँगरेजी उनकी भाषा है, उसमें सीखना ही क्या है; वह जो बोलेंगे या लिखेंगे, वही अँगरेजी होगी।

इस उपेक्षा के कारण भारत कैसा ठगा जा रहा है! युनिवर्सिटियाँ और उनके स्नातकों की संख्या बराबर बढ़ती ही जा रही है—साथ ही बेकारी भी। पर इन विद्यापीठों में ज्ञान का लेश भी देश को—देश की जनता को—नहीं मिल रहा है। खेती और खाद जैसे विषयों पर बड़े-बड़े ग्रंथ अँगरेजी में लिखे और जनता के खर्च से छपवाये जा रहे हैं; पर उनका उपयोग जनता के लिए कुछ भी नहीं। भारत की सरकार इँग्लैंड की भाषा में प्रति वर्ष उपयोगी पुस्तिकाएँ छपवाती है, उसकी सारी रिपोर्टें उसी भाषा में निकलती हैं, पर देश के लिए उनका उपयोग कुछ भी नहीं। 'अधिक अन्न उत्पन्न करो' के विज्ञापन भी अँगरेजी में बड़े-बड़े अक्षरों में छपवाकर शहरों में

चपकाये जाते हैं। मानों हल लेकर खेत जोतनेवाला किसान अँगरेजी जान
है और शहरों के महलों में रहता है! भारतीयों के धन से अँगरेजी के ज्ञा
भंडार की जो यह पूर्त्ति अनवरत की जा रही है, उससे भी हमारा कुछ ला
हो जाता, यदि सरकार ही उन पुस्तक-पुस्तिकाओं का उल्था हिन्दी में व
देती। पर सरकार को इसकी परवा नहीं है। उसे तो दुनियाँ को दिखा
भर है कि इतना उद्योग कर रहे हैं। उसका उपयोग देश के लिए
और भारतवासी अधिक सम्पन्न—धन-सम्पन्न भी और ज्ञान-सम्पन्न भी—हं
यह उसका उद्देश्य नहीं है। जनता तक ज्ञान पहुँचाना उसका काम नहीं है
युनिवर्सिटियाँ यह काम कर सकती हैं, पर उनका इधर ध्यान ही नहीं है
मातृ-भाषा द्वारा ज्ञान-दान करने के संकल्प से ही संस्थापित काशी हिन्
विश्वविद्यालय भी जब इस ओर से उदासीन है, तब दूसरे विश्वविद्यालयों
संबंध में क्या कहा जाय! उस्मानिया युनिवर्सिटी ने अब तक उर्दू के लिए
क्या किया है और हिन्दू युनिवर्सिटी ने हिन्दी के लिए क्या किया है, इस
तुलना कर देखने से ही मेरे इस क्षोभ की सार्थकता सिद्ध हो जायगी।

इधर स्कूलों में अन्य विषयों की शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा देने का नियम
बनाया गया है। इसके लिए इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों की पुस्तकें
भी हिन्दी में तैयार की गई हैं। पर पुस्तकों को पढ़ने का अवसर जिन्हें
मिला है, वे यदि मातृ-भाषा प्रेमी हों तो अवश्य हिन्दी के भाग्य को रोते
होंगे। क्या भाषा है! लेखकों को हिन्दी व्याकरण का भी ज्ञान नहीं है,
मुहावरों यानी वाक्संप्रदायों की तो बात ही जाने दीजिए। यह देखकर सहज
ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हिन्दी का शिक्षा विभाग में इस प्रकार
प्रवेश पा जाना वस्तुतः वर है अथवा अभिशाप। पहले हमारे बालक मातृ-भाषा
जानने ही नहीं पाते थे, अब जानने पाते हैं तो विकृत और भ्रष्ट रूप में!
क्या अशुद्ध जानने की अपेक्षा न जानना ही अच्छा नहीं है! ऐसी दशा में
हमारे नवीन लेखकों को न मातृ-भाषा का पूरा ज्ञान होता है, न वे उसकी
परम्परा से परिचित होते हैं और न शुद्ध, सरल भाषा में अपने हृद्गत भाव
प्रकट कर सकते हैं। इसमें उन बेचारों का दोष ही क्या है?

भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग स्वतंत्र रूप से स्थापित हैं।

अवश्य ही उनमें हिन्दी की शिक्षा दी जाती है और अच्छी शिक्षा दी जाती है। पर मेरे क्षोभ का कारण यह नहीं है; क्योंकि जनता में ज्ञान-प्रचार का काम, अपने ज्ञान से देश को लाभान्वित करके उसके ऋण से अंशतः उऋण होने का काम, केवल हिन्दी के स्नातकों को ही नहीं करना है, सब विषयों के स्नातकों को करना है। अतएव जब तक विश्वविद्यालयों के सब विभागों में हिन्दी को उपयुक्त स्थान न मिलेगा, प्रत्येक स्नातक के लिए शुद्ध हिन्दी में अपना भाव और ज्ञान प्रकट करने की योग्यता प्राप्त करना आवश्यक न होगा, तब तक इस शोचनीय अभाव की पूर्ति न होगी।

विद्यालयों और विद्यापीठों में हिंदी की उपेक्षा का यदि केवल अभावात्मक परिणाम ही हमें भोगना पड़ता तो भविष्य में उसकी पूर्ति की आशा करके हम आत्म-सांत्वना कर लेते। पर परिणाम 'दुर्भावात्मक' हो रहा है। भाषा बिगड़ रही है, साहित्य ओजहीन—प्राणहीन हो रहा है। उसके शब्दों और वाक्यों में जाति की प्रकृति नहीं दिखाई देती। वह पर-जाति के हृदय का—उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं के प्रकाशन का—साधन हो रहा है। यह दोष हमारे नवीन लेखकों का नहीं, उनकी शिक्षा का है, जिसने उन्हें अपने आपको व्यक्त करने योग्य नहीं बनाया। उनमें ज्ञान-प्रचार की पवित्र भावना तो है, पर शब्द-सामर्थ्य नहीं है। उन बेचारों को मुरारि कवि के समान 'गुरुकुल-क्लिष्ट[1]' होने का अवसर ही नहीं मिला। जब गुरुजनों ने ही यह कृपा नहीं की, तो अपने सारस्वत का सार वे कहाँ से पाते?

एक समय था जब हम यह देख-देखकर दुःखित होते थे कि अँगरेजी के स्नातक अपनी मातृ-भाषा हिन्दी द्वारा देश और समाज की सेवा करने का यत्न ही नहीं करते। बहुसंख्या में अँगरेजीदाँ युवक मातृ-भाषा द्वारा देश-सेवा करने के लिए साहित्य-क्षेत्र में उतर पड़े। इसे हम हिन्दी का सौभाग्य समझते हैं। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। पर उन्हें विद्यार्थी-अवस्था में मातृ-भाषा की अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी, अपनी भाषा में अपने विचार और भाव प्रकट करने की शक्ति का विकास नहीं हुआ था। फलतः

१ देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतम्।
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥

वे जो लिखने लगे, उसके शब्द तो हिन्दी—कभी-कभी वह भी अशुद्ध अ-हिन्दी—पर वाक्य अंगरेजी, मुहावरे अँगरेजी, शैली अँगरेजी होने लग जिसके जी में जो आया, वह वही लिखने लगा, और वही हिन्दी कहलाने ल 'अस्माकूनां नैयायिकेषां अर्थनितात्पर्यम् शब्दनिकोश्चिन्ता' वाली संस्कृत उक्ति चरितार्थ होने लगी। यहीं नहीं, अर्थ का अनर्थ भी होने लगा। हि का कोई धनी-धोरी न रह गया। वार्धक्य और रोग के कारण पंडित महाव प्रसाद द्विवेदी की लेखनी शिथिल हो गई थी। और कोई वैसा प्रभावशा लेखक न रह गया था, जिसकी धाक लोगों पर जमती। राजनीतिक, सा जिक, वैज्ञानिक आदि बहुविध चर्चाएँ होने लगीं, पर भाषा बिलकुल अ पत्र, पत्रिकाएँ तथा भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें अधिकाधिक संख्या में निकल लगीं। पाठकों की संख्या बढ़ी, लेखकों की माँग बढ़ी। पर अच्छे लेख मिलना कठिन हो गया। स्कूल-कॉलेजों से निकलने पर अपनी भाषा से सर्व अनभिज्ञ लेखकों को लेकर बड़े-बड़े दैनिक पत्र निकाले जाने लगे। रेल अ डाक के समयों पर दृष्टि रखकर काम करना पड़ा। अंगरेजी तारों का जैसा-तैस अनुवाद कराके छपवा दिया। बड़ी-बड़ी और भद्दी गलतियों की ओर दू दिन सहकारियों का ध्यान दिलाया। कुछ ने ग्रहण किया, कुछ न कर सके जो एक भावना से प्रेरित होकर इस काम में आये, उन्होंने येन-केन-प्रकारे अपनी भाषा कुछ सुधार ली, कुछ वस्तुतः अच्छे लेखक हो गये; और शेष व चक्की पीसकर भी ज्यों-के-त्यों रह गये। जीविकोपार्जन मात्र जिनका ध्ये था, वे अधिक वेतन मिलते ही दूसरे काम में चले गये। उन स्थान पर फिर नये आये और पुरानी भूलें फिर नई हो गईं। आज त प्रायः यही दशा बनी है। आश्चर्य नहीं कि मेरे मित्र श्री रामचन्द्र वर्मा क सब प्रकार की अशुद्धियों के अनेक उदाहरण दैनिक पत्रों में मिल गये, औ वह भी विशेष-कर उन पत्रों में जिनसे मेरा सम्बन्ध रहा है। समाचार-पत्रों क इस त्रुटि का जितना खेद मुझे है, उससे अधिक और किसी को न होगा शायद इसी लिए वर्मा जी ने अपनी इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने को मुझ बाध्य किया। इस अवस्था की भूमिका तैयार करने में मेरा हाथ रहा है अत यह भी उचित ही है कि उसका स्वागत मैं ही करूँ।

दैनिक पत्र का सम्पादन-कार्य करते समय कई बार मेरे मन में आया कि नये लेखकों से प्रायः होनेवाली भूलों की एक सूची बनाकर उनसे बचे रहने की सलाह अपने सहकारियों को दूँ। कई सहकारियों ने भी अनेक बार इसके लिए मुझसे अनुरोध किया। पर जो काम टाला जा सके, उसे टालते रहने की अपनी प्रवृत्ति के कारण मैं अपनी इच्छा और भ्रातृ-तुल्य सहकारियों के अनुरोध की रक्षा कभी न कर सका। कभी लिखने बैठा भी तो कार्य की विशालता और अपने ज्ञान की अल्पता देखकर विरत हो गया। जो स्वयं न कर सका, उसके लिए कभी-कभी अपने साहित्यिक मित्रों से अनुरोध करता रहा। इनमें ही वर्मा जी हैं। मेरे कहने से पहले ही आप यह काम करने की ठान चुके थे और अपने स्वाभाविक अध्यवसाय से मसाला जमा कर रहे थे।

'अच्छी हिन्दी' न व्याकरण है, न रचना-पद्धति। वह साहित्य की शिक्षा नहीं देती, लेखन-कला भी नहीं सिखाती। कैसे लिखना चाहिए, यह भी वह नहीं बताती। केवल उन गड्ढों को दिखा देती है, जो नवीन लेखकों के मार्ग में प्रायः पड़ते हैं, और जिनसे उन्हें बचना चाहिए। अर्थात् वर्मा जी ने वह भूलें दिखा दी हैं जो नये और पुराने, पर असावधान लेखक प्रायः करते दिखाई देते हैं। इन भूलों का विश्लेषण करके आपने इन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँट दिया है। जैसे—'उत्तम रचना', 'अर्थ, भाव और ध्वनि', 'शब्द-प्रयोग', वाक्य-विन्यास', 'क्रियाएँ और मुहावरे', 'लिंग और वचन', 'छाया-कलुषित भाषा', 'समाचार-पत्रों की हिन्दी', 'अनुवाद की भूलें', 'फुटकर बातें' और 'हमारी आवश्यकताएँ'। इन शीर्षकों से ही विषय का ज्ञान होता है। 'भाषा की परिभाषा' विषय-प्रवेश है। 'अर्थ, भाव और ध्वनि' का अध्ययन उन लोगों को अवश्य करना चाहिए जो लेखन-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। यह साहित्य-शास्त्र का प्रवेश मात्र है। मेरा खयाल है कि जो लोग हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे हों, वे इस पुस्तक से और विशेषकर इस प्रकरण से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। उन्हें साहित्याध्ययन में इससे अच्छी सहायता मिलेगी। जो लोग कॉलेज या यूनिवर्सिटी में 'हिंदी' लेकर या लिये बिना ही संयोगवश हिन्दी के लेखन-

क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं, उनके लिए तो यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। यदि ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन किया जाय तो बहुत-सी ज्ञात और अज्ञात कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

मैं अपने पत्रकार युवक मित्रों से प्रार्थना करूँगा कि वे शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास, क्रियाएँ और मुहावरे, लिंग और वचन तथा समाचार-पत्रों की हिन्दी शीर्षक प्रकरण ध्यान-पूर्वक पढ़ें। प्रदान, उत्तीर्ण, निर्माण, निर्माता, स्थापित, संयोग, खेद, दुःख, शोक, घोर, गम्भीर, भीषण, विकट, उग्र, भयानक, प्रश्न, सहित, द्वारा, अन्दर आदि नित्य-व्यवहार के शब्दों और विभक्ति-प्रत्ययों के ठीक प्रयोग तथा नित्य कैसी हास्यजनक भूलें होती हैं, इसका बहुतों को तो ज्ञान भी नहीं होता। कर्मणि 'को' कहाँ होता है और कहाँ नहीं, इसका ज्ञान बहुत थोड़ों को होता है। हम बोल-चाल में कभी नहीं कहते 'उसने मकान को गिराया'; पर लिखते समय ऐसा ही हास्यजनक प्रयोग प्रायः किया करते हैं। यही स्थिति वाक्य-विन्यास की है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वर्मा जी ने अशुद्धियों का कोई उदाहरण गढ़कर नहीं दिया है। अधिकांश उदाहरण समाचार-पत्रों और शेष पुस्तकों से लिये गये हैं। वस्तुतः हमारे वाक्य 'हमारे' नहीं होते, वे अँगरेजी के होते हैं, केवल शब्द हमारे। जो अँगरेजी नहीं जानते, उनके लिए उन्हें समझना कठिन होता है। कुछ वाक्य तो ऐसे होते हैं कि उनके हिन्दी शब्दों के स्थान पर अँगरेजी शब्द रक्खे बिना अँगरेजी जाननेवाले भी उन्हें नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ, एक वाक्य लीजिए—'गाँवों तक समझे जानेवाले साहित्य से हम उच्चता वसूल करने की जिद छोड़कर सम्पर्क स्थापित करें।' इसका अर्थ क्या है? लेखक क्या करने का उपदेश दे रहा है? यत्न करने पर भी मैं तो अभी तक समझ नहीं पाया हूँ। 'उच्चता वसूल करना' कौन कला है? उसकी 'जिद' कैसे छोड़ें और 'सम्पर्क' किससे स्थापित करें? 'हम क्यों आँख मूँदते हैं कि अँगरेजी इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है?' क्या लेखक का कहना है कि ऐसी हिन्दी जो आँख मूँदकर लिखी गई हो, इस देश की साधारण भाषा बनाई जा सकती है? अथवा क्या लेखक इस बात पर खेद प्रकट कर रहा है कि अँगरेजी इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है? इसे हम देखकर भी

क्यों नहीं देखते? यदि ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता रहा तो 'तब के बाद हिन्दी बहुत आगे बढ़ी कही मानी जायगी' या नहीं, इसमें संदेह ही है। सारांश, इस प्रकार की भूलें हम नित्य कर रहे हैं—ऐसी भूलें, जिनपर यदि हम स्वयं ही विचार करें तो हम बिना लज्जित हुए नहीं रह सकते। नवीन लेखकों को इस काम में इस पुस्तक से बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है।

'क्रियाएँ और मुहावरे' वाला प्रकरण मेरे मत से सबसे अधिक महत्त्व का है। क्रियाओं के प्रयोग में अच्छे-अच्छे लेखक भी भूल कर जाते हैं, कुछ अभ्यासवश कुछ असावधानता के कारण और कुछ शीघ्र 'कॉपी' तैयार करने के फेर में। परन्तु यदि हमें हिन्दी का साहित्य बढ़ाना है, उसे पुष्ट और भाव-व्यंजक करना है, तो इस ओर ध्यान देना ही पड़ेगा। यह विषय इतना व्यापक है कि इसपर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। आशा है, कोई विद्वान् इधर ध्यान देंगे, अथवा काशी नागरी-प्रचारिणी सभा या हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ही यह कार्य अपने हाथ में लेगा। तब तक इस पुस्तक के इस प्रकरण से नवीन लेखकों को अवश्य लाभ उठाना चाहिए। जो शुद्ध हिन्दी लिखना चाहते हैं, उनसे मेरा अनुरोध है कि किस शब्द के साथ कौन सी क्रिया होनी चाहिए, यह जानने के लिए हिन्दी शब्द-सागर से सहायता लिया करें। वैसे मन, हाथ, मुँह, आँख जैसे साधारण शब्दों और उनसे बने मुहावरों का अध्ययन भी उसी पुस्तक से करें। उसे केवल कोष न समझकर अध्ययन की पुस्तक समझना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका परिश्रम विफल न होगा। मैं अभी तक ऐसा करता हूँ। मेरा नियम है कि लिखते समय यदि शब्द या मुहावरे के संबंध में कोई संदेह हो जाता है, तो उस समय उसका प्रयोग नहीं करता; अन्य शब्द से ही काम चला लेता हूँ। बाद जब शब्द-सागर देखकर अथवा किसी विद्वान् मित्र या सहयोगी से पूछकर शंका-निवृत्ति कर लेता हूँ, तब उसका प्रयोग करता हूँ।

एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इससे मेरे जैसे अन्य-भाषा-भाषी लेखक से बड़ी-बड़ी भूलें हो जाया करती हैं। लेखक-जीवन के प्रारम्भिक काल में मुझसे ऐसी बड़ी भूलें हुईं, जिनके लिए

मुझे लज्जित होना पड़ा था। (अब भी असावधानता से हो जाती हैं।) तब मैंने अपने लिए यह नियम बना लिया था कि लिखते-लिखते यदि मुझे मालूम होता कि जो शब्द मैं लिखने जा रहा हूँ. वह मराठी में भी आता है, तो उस समय मैं उसका प्रयोग नहीं करता था। पीछे कोष देखकर या गुरुजनों से पूछकर यह जानने का यत्न करता था कि उसका हिन्दी में किस अर्थ में और मराठी मे किस अर्थ में प्रयोग होता है। अपने अ-हिन्दी-भाषी मित्रों से मैं इस नियम का अनुसरण करने का अनुरोध करूँगा।

दो शब्द 'हिन्दी की प्रकृति' के संबंध में लिखकर मैं यह प्रस्तावना समाप्त करूँगा। भाषा की कोई प्रकृति होती है, इसका अनुभव प्रत्येक सुलेखक को है। हम अनुभव करते हैं कि एक शब्द बँगला, मराठी या गुजराती में अच्छा लगता है, पर हिन्दी में खटकता है। इसका कारण यही है कि वह हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। यही बात वाक्य विन्यास के संबंध में भी है। इस प्रकार हमें उस प्रकृति का परिचय नित्य मिला करता है, पर हम उसे पहचान नहीं सकते—जानकर भी नहीं समझते। इसकी व्याख्या करना उतना ही कठिन है, जितना आत्मा की। मेरा विचार था और वर्मा जी की भी इच्छा थी कि इस विषय पर कुछ टिप्पणी पुस्तक के अन्त में लिख दूँ। पर दुर्भाग्यवश मुझे समय नहीं मिला, न विचार करने की शान्ति। इसके लिए मैं वर्मा जी से क्षमा-याचना करता हूँ। यदि अवसर मिला तो अगले संस्करण में आत्म-संतोष प्राप्त करने का यत्न करूँगा। एक और बात के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। कुछ आलस्य और दुर्भाग्यवश यह प्रस्तावना लिखने में बहुत देर हो गई। लगभग दो महीने तक पुस्तक छपी पड़ी रही। वर्मा जी तगादा करते करते और मैं मुँह छिपाते-छिपाते थक गया। इसे प्रकाश्य रूप में स्वीकार करना ही इसका प्रायश्चित्त है।

काशी,
सौर १८ मार्गशीर्ष, २००१ वि० } बा० वि० पराड़कर

पहले संस्करण की भूमिका

दूसरों के दोष ढूँढ़ते फिरना कोई अच्छी बात नहीं है। नीति और धर्म दोनों इसे बुरा कहते हैं। परन्तु मैं अपने दुर्भाग्य को क्या कहूँ! मुझे आरम्भ से ही कुछ ऐसी दूषित प्रवृत्ति प्राप्त हुई थी जो बलपूर्वक मेरा ध्यान—चाहे एक विशिष्ट क्षेत्र में ही सही—दूसरों के दोषों की ओर आकृष्ट करती थी। वह क्षेत्र था भाषा का।

इस ईसवी शताब्दी के बिलकुल आरम्भिक सनों में, जब कि मेरी अवस्था बारह-तेरह वर्ष की ही थी और मैं हरिश्चन्द्र स्कूल के चौथे-पाँचवें दरजे में पढ़ता था, मैं अपने सहपाठियों को अशुद्ध बोलने पर प्रायः टोका करता था। पहले तो कुछ दिनों तक मेरे सहपाठी मेरी हँसी उड़ाते थे। पर धीरे-धीरे उनकी समझ में आने लगा कि मैं उन्हें जो कुछ बतलाता हूँ, वह ठीक बतलाता हूँ। फिर तो और लड़के भी दूसरों की भाषा-संबंधी भूलें पकड़ने लगे। कभी-कभी उन लोगों में झगड़ा भी हो जाता था। कोई कहता था कि यह प्रयोग ठीक है; और कोई कहता था कि नहीं, यह ठीक है। उस समय निर्णय कराने के लिए वे मेरे पास आते थे। मैं लज्जित भी होता था, संकुचित भी। कारण यह कि उनमें कुछ ऐसे लड़के होते थे जो अवस्था में भी मुझसे बड़े होते थे और पढ़ते भी थे ऊँचे दरजों में। फिर भी मैं उन्हें अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार बतला देता था कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है। और उस समय मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहता था, जब मैं देखता था कि मेरे निर्णय से दोनों पक्षों का समाधान हो गया! फिर भी वह सब था लड़कपन का खेलवाड़ ही।

उन्हीं दिनों मैं अपने सहपाठी स्व० बा० श्रीकृष्ण वर्मा के साथ उनके भारत-जीवन प्रेस में जाने लगा था। उनके चाचा स्व० बाबू रामकृष्ण वर्मा उन दिनों जीवित थे। काशी में उस जमाने में भारत-जीवन प्रेस ही

स्व० श्री जगन्नाथदास जी रत्नाकर, पं० किशोरीलाल जी गोस्वामी, बाबू देवकीनन्दन खत्री, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री आदि अनेक पूज्य महानुभावों के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। समय-समय पर अनेक बाहरी विद्वान् भी वहाँ आया करते थे। बाबू रामकृष्ण वर्मा उन लोगों के सामने मुझे बुलाकर बैठा देते थे और उन लोगों से तरह-तरह के उलटे-सीधे वाक्य बनवाकर मुझसे उनके शुद्ध रूप पूछा करते थे। शुद्ध रूप बतलाने पर अनेक बार मुझे उन पूज्य महानुभावों से आशीर्वाद भी मिला करता था। इस प्रकार धीरे-धीरे मानों मुझे भाषा शुद्ध करने की शिक्षा-सी मिलने लगी। परन्तु वह भी लड़कपन का खेलवाड़ ही था।

स्कूल में मेरी दूसरी भाषा उर्दू थी। हिन्दी मैं बिलकुल नहीं जानता था। भारत-जीवन में ही मैंने पहले-पहल हिन्दी सीखी और वहीं से मुझे हिन्दी का शौक शुरू हुआ। यह बात सन् १९०३ की है। परन्तु उस समय किसी बात में कोई गंभीरता नहीं थी। बारह-तेरह वर्ष के बालक में गम्भीरता हो भी कैसे सकती थी! परंतु ज्ञान का कुछ-कुछ बीजारोपण हो चला था।

भाषा के दोषों पर पहले-पहल कुछ गंभीरतापूर्वक विचार करने का अवसर मुझे शायद सन् १९०७-०८ में मिला था। उन दिनों काशी से एक औपन्यासिक मासिक-पत्र निकला करता था। एक दिन उसके कार्यालय की ओर से नीले रंग का छपा हुआ एक ऐसा पोस्ट कार्ड भारत-जीवन में आया, जिसके चारों ओर शोकसूचक काला हाशिया लगा था। उस कार्ड पर कार्यालय के व्यवस्थापक की ओर से (कहने की आवश्यकता नहीं कि उस कार्यालय के व्यवस्थापक, संचालक और मासिक पत्र के संपादक सब कुछ एक ही सज्जन थे) लिखा था—दुःख है कि इस कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुक्त......के एक मात्र पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इस [illegible]मय का अंक समय पर न निकल सका।' आदि। भारत-जीवन में कई [illegible]सियों ने वह कार्ड पढ़ा पर किसी का ध्यान उसमें के 'एक मात्र पिता' [illegible] गया। जब मैंने उसे देखा, तब मुझे उस मासिक-पत्र के संपादक के [illegible] की मृत्यु का तो दुःख हुआ ही—कारण यह कि सम्पादक जी स्कूल में [illegible] सहपाठी रह चुके थे—पर उससे भी अधिक दुःख इस बात का हुआ

उन्होंने 'एक मात्र' का अर्थ बिना समझे ही उसे अपने 'पिता' के आगे लगा दिया था। उन्होंने कहीं किसी समाचार-पत्र में पढ़ा होगा कि अमुक सज्जन के एक मात्र पुत्र का देहान्त हो गया। बस उन्होंने वही 'एक मात्र' अपने 'पिता' के साथ भी लगा दिया था। चलिए, भाषा मुहावरेदार हो गई!

उसी दिन से मैं भाषा के दोषों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा। उन दिनों भी भाषा में दोष होते थे, पर उतने अधिक नहीं, जितने अधिक आज-कल दिखाई देते हैं। थोड़े-से लोग हिन्दी लिखते थे; और जो कुछ लिखते थे, वह समझ-बूझकर लिखते थे और कुछ दिनों तक हिन्दी लिखना सीखकर तब लिखते थे। न तो आज-कल की तरह लेखकों की बाढ़ थी और न धाँधली। तब से अब तक प्रायः सभी क्षेत्रों में हिन्दी की बहुत अधिक उन्नति हुई है,—आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। देश के कोने-कोने में बहुत-से हिन्दी लेखक पैदा हो गये हैं। सभी उसे राष्ट्र-भाषा कहते हैं—सभी उसे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं। पर हिन्दी की इस सर्वाङ्गीण उन्नति के समय भी भाषा की जितनी अधिक दुर्दशा आज देखने में आती है, उतनी पहले कभी मेरे देखने में नहीं आई। आज-कल तो यह प्रथा सी चल गई है कि स्कूल या कॉलेज से निकले—चाहे पास होकर, चाहे फेल होकर—और हाथ धोकर पड़ गये बेचारी हिन्दी के पीछे। यदि सौभाग्यवश किसी समाचार-पत्र के कार्यालय में जैसे-तैसे कोई छोटी-मोटी जगह मिल गई और वहाँ चार छः महीने टिक गये, तो फिर क्या पूछना है! अब उनके मुकाबले में कोई हिन्दी लेखक ठहर नहीं सकता। सबके दोष निकालना, सबकी निन्दा करना, सबकी टीका करना और सबके लिए कहना कि उन्हें आता ही क्या है! जो लेखक स्वयं उनके जन्म काल से भी पहले से हिन्दी की सेवा करते आये हों, उन्हें भी ऐसे नये दिग्गज तुच्छ ठहराने में संकोच नहीं करते। और स्वयं नितान्त अशुद्ध भद्दी और ऊट-पटाँग भाषा में बे-सिर-पैर की बातें लिखने या अशुद्ध अनुवाद करने के सिवा और कुछ नहीं जानते। किसी के पास कुछ दिनों तक बैठकर कुछ सीखना या किसी से कुछ पूछना तो वे अपना अपमान समझते हैं! यदि कोई दया करके उन्हें कुछ बतलाना भी चाहे तो वे उसका अनादर भले ही न कर सकें, तो

स्व० श्री जगन्नाथदास जी रत्नाकर, पं० किशोरीलाल जी गोस्वामी, बाबू देवकीनन्दन खत्री, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री आदि अनेक पूज्य महानुभावों के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। समय-समय पर अनेक बाहरी विद्वान् भी वहाँ आया करते थे। बाबू रामकृष्ण वर्मा उन लोगों के सामने मुझे बुलाकर बैठा देते थे और उन लोगों से तरह-तरह के उलटे-सीधे वाक्य बनवाकर मुझसे उनके शुद्ध रूप पूछा करते थे। शुद्ध रूप बतलाने पर अनेक बार मुझे उन पूज्य महानुभावों से आशीर्वाद भी मिला करता था। इस प्रकार धीरे-धीरे मानों मुझे भाषा शुद्ध करने की शिक्षा-सी मिलने लगी। परन्तु वह भी लड़कपन का खेलवाड़ ही था।

स्कूल में मेरी दूसरी भाषा उर्दू थी। हिन्दी मैं बिलकुल नहीं जानता था। भारत-जीवन में ही मैंने पहले-पहल हिन्दी सीखी और वहीं से मुझे हिन्दी का शौक शुरू हुआ। यह बात सन् १९०३ की है। परन्तु उस समय किसी बात में कोई गंभीरता नहीं थी। बारह-तेरह वर्ष के बालक में गम्भीरता हो भी कैसे सकती थी! परंतु ज्ञान का कुछ-कुछ बीजारोपण हो चला था।

भाषा के दोषों पर पहले-पहल कुछ गंभीरतापूर्वक विचार करने का अवसर मुझे शायद सन् १९०७-०८ में मिला था। उन दिनों काशी से एक औपन्यासिक मासिक-पत्र निकला करता था। एक दिन उसके कार्यालय की ओर से नीले रंग का छपा हुआ एक ऐसा पोस्ट कार्ड भारत-जीवन में आया, जिसके चारों ओर शोकसूचक काला हाशिया लगा था। उस कार्ड पर कार्यालय के व्यवस्थापक की ओर से (कहने की आवश्यकता नहीं कि उस कार्यालय के व्यवस्थापक, संचालक और मासिक पत्र के संपादक सब कुछ एक ही सज्जन थे) लिखा था—दुःख है कि इस कार्यालय के 'अध्यक्ष श्रीयुक्त······के एक मात्र पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इस मास का अंक समय पर न निकल सका।' आदि। भारत-जीवन में कई आदमियों ने वह कार्ड पढ़ा पर किसी का ध्यान उसमें के 'एक मात्र पिता' पर न गया। जब मैंने उसे देखा, तब मुझे उस मासिक-पत्र के संपादक के पिता की मृत्यु का तो दुःख हुआ ही—कारण यह कि सम्पादक जी स्कूल में मेरे सहपाठी रह चुके थे—पर उससे भी अधिक दुःख इस बात का हुआ कि

उन्होंने 'एक मात्र' का अर्थ बिना समझे ही उसे अपने 'पिता' के आगे लगा दिया था। उन्होंने कहीं किसी समाचार-पत्र में पढ़ा होगा कि अमुक सज्जन के एक मात्र पुत्र का देहान्त हो गया। बस उन्होंने वही 'एक मात्र' अपने 'पिता' के साथ भी लगा दिया था। चलिए, भाषा मुहावरेदार हो गई!

उसी दिन से मैं भाषा के दोषों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा। उन दिनों भी भाषा में दोष होते थे, पर उतने अधिक नहीं, जितने अधिक आज-कल दिखाई देते हैं। थोड़े-से लोग हिन्दी लिखते थे; और जो कुछ लिखते थे, वह समझ-बूझकर लिखते थे और कुछ दिनों तक हिन्दी लिखना सीखकर तब लिखते थे। न तो आज-कल की तरह लेखकों की बाढ़ थी और न धाँधली। तब से अब तक प्रायः सभी क्षेत्रों में हिन्दी की बहुत अधिक उन्नति हुई है,—आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। देश के कोने-कोने में बहुत-से हिन्दी लेखक पैदा हो गये हैं। सभी उसे राष्ट्र-भाषा कहते हैं—सभी उसे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं। पर हिन्दी की इस सर्वाङ्गीण उन्नति के समय भी भाषा की जितनी अधिक दुर्दशा आज देखने में आती है, उतनी पहले कभी मेरे देखने में नहीं आई। आज-कल तो यह प्रथा सी चल गई है कि स्कूल या कॉलेज से निकले—चाहे पास होकर, चाहे फेल होकर—और हाथ धोकर पड़ गये बेचारी हिन्दी के पीछे। यदि सौभाग्यवश किसी समाचार-पत्र के कार्यालय में जैसे-तैसे कोई छोटी-मोटी जगह मिल गई और वहाँ चार छः महीने टिक गये, तो फिर क्या पूछना है! अब उनके मुकाबले में कोई हिन्दी लेखक ठहर नहीं सकता। सबके दोष निकालना, सबकी निन्दा करना, सबकी टीका करना और सबके लिए कहना कि उन्हें आता ही क्या है! जो लेखक स्वयं उनके जन्म काल से भी पहले से हिन्दी की सेवा करते आये हों, उन्हें भी ऐसे नये दिग्गज तुच्छ ठहराने में संकोच नहीं करते। और स्वयं नितान्त अशुद्ध भद्दी और ऊट-पटाँग भाषा में बे-सिर-पैर की बातें लिखने या अशुद्ध अनुवाद करने के सिवा और कुछ नहीं जानते। किसी के पास कुछ दिनों तक बैठकर कुछ सीखना या किसी से कुछ पूछना तो वे अपना अपमान समझते हैं! यदि कोई दया करके उन्हें कुछ बतलाना भी चाहे तो वे उसका अनादर भले ही न कर सकें, तो

भी उसे उपेक्ष्य समझेंगे। दुर्भाग्यवश ऐसे लेखकों की संख्या आज-कल हिन्दी में बराबर बढ़ती जा रही है।

प्रायः तीस वर्षों से हर साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन धूम-धाम से होते हैं। उनमें बड़े-बड़े और पूज्य विद्वान् एकत्र होते हैं। उनसे भी अधिक आदरणीय विद्वान् उनके सभापति होते हैं। भाषणों में हिन्दी के सभी अंगों की उन्नति के उपाय बतलाये जाते हैं। परन्तु भाषा की शुद्धता का कभी कोई प्रश्न ही किसी के सामने नहीं आता। स्वयं भाषा का स्वरूप विशुद्ध रखने के सम्बन्ध में कभी कोई एक शब्द भी नहीं कहता। शायद इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। और आवश्यकता समझी ही क्यों जाने लगी! हिन्दी हमारी मातृ-भाषा जो ठहरी। उसे हम जिस रूप में लिखेंगे, वही रूप शुद्ध होगा!

समाचार-पत्र, मासिक-पत्र, पुस्तकें सभी कुछ देख जाइए। सब में भाषा की समान रूप से दुर्दशा दिखाई देगी। छोटे और बड़े सभी तरह के लेखक भूलें करते हैं, और प्रायः बहुत बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। हिन्दी में बहुत बड़े और प्रतिष्ठित माने जानेवाले ऐसे अनेक लेखक और पत्र हैं, जिनकी एक ही पुस्तक अथवा एक ही अंक में से भाषा-सम्बन्धी सैकड़ों तरह की भूलों के उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं। पर आश्चर्य है कि बहुत ही कम लोगों का ध्यान उन भूलों की ओर जाता है। भाषा-सम्बन्धी भूलें बिलकुल आम बात हो गई हैं। विद्यार्थियों के लिए लिखी जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों तक की भाषा बहुत लचर होती है। यहाँ तक की व्याकरण भी, जो शुद्ध भाषा सिखलाने के लिए लिखे जाते हैं, भाषा-सम्बन्धी दोषों से रहित नहीं होते। जिन क्षेत्रों में हमें सबसे अधिक शुद्ध और परिमार्जित भाषा मिलनी चाहिए, जब उन्हीं क्षेत्रों में हमें भद्दी और गलत भाषा मिलती है, तब बहुत अधिक दुःख और निराशा होती है। मेरे परम प्रिय और मान्य मित्र स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल भी भाषा की यह दुर्दशा देखकर बहुत दुःखी होते थे। हिन्दी शब्द-सागर का सम्पादन करते समय हम लोगों को हिन्दी साहित्य के सभी मुख्य अंगों का सिंहावलोकन करना पड़ा था। उस समय भाषा-सम्बन्धी अनेक भूलें और विलक्षणताएँ हम लोगों के सामने आती थीं। एक बार हम लोगों का

यह विचार भी हुआ था कि हिन्दी के आठ प्रतिष्ठित तथा मान्य दिवंगत लेखकों और आठ वैसे ही जीवित लेखकों की मुख्य-मुख्य रचनाएँ एकत्र की जायँ; और उनमें से भाषा के दोष निकालकर इस दृष्टि से हिन्दी जगत् के सामने रक्खे जायँ कि लोग उस प्रकार के दोषों और भूलों से बचें। उस समय हम लोगों ने इस विषय का कुछ कार्य आरम्भ भी किया था औ एक-दो पुस्तकों से भूलें चुनी भी थीं। परन्तु इसके थोड़े ही दिनों बाद शुक्ल जी नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष विभाग छोड़कर हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये और मैं वहाँ अकेला पड़ गया। अतः वह काम उस समय जहाँ का तहाँ रह गया। कोई चार वर्ष पूर्व वह काम मैंने नये सिरे से आरम्भ किया था; और उसका फल इस पुस्तक के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

कुछ दिन पहले एक साहित्यिक झगड़े के प्रसंग में स्थानीय दैनिक 'आज' में श्री 'बृहस्पति' का एक लेख निकला था। उसमें एक स्थल पर लिखा था— 'इस समय हिन्दी बहुत उन्नत हो चुकने पर भी वैसी ही है, जैसे बिना एक मार्ग-दर्शक के सिर पर बोझ लादे[1] कोई पथिक बियाबान में निरुद्देश्य चला जा रहा हो।' उन्होंने यह भी लिखा था—'छोटा हो, बड़ा हो, हिन्दी में सभी तीसमार खाँ हैं।' मैं समझता हूँ, ये दोनों बातें अक्षरशः सत्य हैं। मैं मार्ग-दर्शक बनने का तो दावा नहीं करता। पर हाँ यह जरूर बतला देना चाहता हूँ कि भाषा के क्षेत्र में लोग क्यों, कहाँ और कैसे भटक रहे हैं।

आज-कल लोग सभी बातों में नयापन ढूँढ़ते हैं और अपनी कृतियों में कुछ-न-कुछ नयापन लाना चाहते हैं। उनमें वह प्रतिभा तो होती नहीं, जो सद्विचारों की जननी है। हाँ, उनके मस्तिष्क पर अँगरेजी का घटाटोप अवश्य छाया रहता है। मैं कई ऐसे सज्जनों को जानता हूँ जो अँगरेजी लिखते समय तो भाषा की शुद्धता का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं, पर हिन्दी लिखते समय शुद्धता का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। अपनी भाषा की प्रकृति से वे लोग बिलकुल अपरिचित होते हैं और हर बात में अँगरेजी का अनुकरण करते और उसी की शरण लेते हैं। यही कारण है

---

[1] और वह भी दिन-पर दिन बढ़ता हुआ। —लेखक।

कि आज-कल जटिल और निरर्थक भाषा लिखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। न तो कोई यह सोचता है कि हमारी इस कु-प्रवृत्ति के कारण भाषा में कितना भद्दापन आता है, न कोई यह देखता है कि हम अर्थ और अभिप्राय से कितना हटते चले जाते हैं। लोगों को इस कुमार्ग से बचने के लिए ही यह तुच्छ प्रयत्न किया गया है।

आज-कल देश में हिन्दी का जितना अधिक मान है और उसके प्रति जन-साधारण का जितना अधिक अनुराग है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारी भाषा सचमुच राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन होती जा रही है। लोग गला फाड़कर चिल्लाते हैं कि राज-काज में, रेडियो में, देशी रियासतों में सब जगह हिन्दी का प्रचार होना चाहिए। पर वे कभी आँख उठाकर यह नहीं देखते कि हम स्वयं कैसी हिन्दी लिखते हैं। मैं ऐसे लोगों को बतलाना चाहता हूँ कि हमारी भाषा में उच्छृङ्खलता के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। किसी को हमारी भाषा का कलेवर विकृत करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। देश के अनेक ऐसे प्रान्तों में हिन्दी का जोरों से प्रचार हो रहा है, जहाँ की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है। अतः हिन्दी का स्वरूप निश्चित और स्थिर करने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व उत्तर भारत के हिन्दी लेखकों पर ही है। उन्हें यह सोचना चाहिए कि हमारी लिखी हुई भद्दी, अशुद्ध और बे-मुहावरे भाषा का अन्य प्रान्तवालों पर क्या प्रभाव पड़ेगा; और भाषा के क्षेत्र में हमारा यह पतन उन लोगों को कहाँ ले जाकर पटकेगा। इसी बात का ध्यान रखते हुए पूज्य पं० अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी ने कुछ दिन पहले हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक और प्रचारक से कहा था—'आप अन्य प्रान्तों के निवासियों को हिन्दी तो पढ़ा रहे हैं और उन्हें अपना व्याकरण भी दे रहे हैं। पर जल्दी ही वह समय आवेगा, जब कि वही लोग आपके ही व्याकरण से आपको भूलें दिखावेंगे।' यह मानों भाषा की अशुद्धियोंवाले व्यापक तत्त्व की ओर गूढ़ संकेत था। जब एक बार हमारी समझ में यह तत्त्व अच्छी तरह आ जायगा, तब हम भाषा लिखने में बहुत सचेत होने लगेंगे। और मैं समझता हूँ कि हमारी भाषा की वास्तविक उन्नति का आरम्भ भी उसी दिन से होगा।

मैंने वह समय देखा है, जब कि भाषा पर स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त बहुत ही कड़ी और तेज निगाह रखते थे। उनके बाद बहुत दिनों तक यह काम स्व० आचार्य महावीरप्रसाद जी-द्विवेदी ने अपने हाथ में ले रक्खा था। उन दिनों जल्दी किसी को ऊलूल-जलूल भाषा लिखने का साहस ही नहीं होता था। और यदि कोई नौ-सिखुआ कुछ लिख भी जाता था, तो उसपर कड़ी फटकार पड़ती थी। पर आज-कल भाषा के क्षेत्र में पूर्ण स्वराज्य है! पहले तो कोई कुछ कहनेवाला ही नहीं है। और यदि कभी कोई कुछ कहना चाहे, तो आज-कल के स्वतन्त्र प्रकृतिवाले नवयुवक किसी की सुनते कब हैं! खूब मन-मानी चल रही है। जिसके जी में जो कुछ आता है, वही वह लिख चलता है। और छापनेवाले भी आँखें बन्द करके छापते चलते हैं। इसी लिए हिन्दीवालों के प्रति मेरा यह विद्रोह है। मैंने पहले दो तीन बार कुछ अवसरों पर हिन्दीवालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहा था। पर नक्कारखाने में तूती की आवाज नहीं सुनी गई। इसलिए इस बार मुझे विवश होकर अपने विचारों को इस पुस्तक का रूप देना पड़ा है। मैं हिन्दीवालों को इस बात के लिए विवश करना चाहता हूँ कि वे अपनी भूलें देखें और सुधारें। वे समझें कि जिस प्रकार—"आती है उर्दू जबाँ आते-आते।" उसी प्रकार हिन्दी भी लगातार प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने और सीखने पर ही, कुछ समय में, आती है। लेखक बनना 'खाला जी का घर' नहीं है। हर आदमी कलम हाथ में लेते ही लेखक नहीं बन सकता। मैं बहुत ही उत्सुकतापूर्वक हिन्दी के उन सौभाग्य पूर्ण दिनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब कि फिर कुछ योग्य और पूज्य विद्वान् हाथ में अंकुश लेकर हिन्दीवालों का यह स्वेच्छाचार रोकने का प्रयत्न करेंगे। ईश्वर वे दिन शीघ्र लावे! परन्तु जब तक वे दिन नहीं आते तब तक मैं ही अपने दुर्बल हाथों से उन्हें जगाने और सतर्क करने का प्रयत्न करता हूँ।

अन्त में मैं अपने इस प्रयत्न के विषय में भी कुछ निवेदन कर देना चाहता हूँ। इस पुस्तक में भूलों के जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे बहुत ही विस्तृत क्षेत्र से चुने गये हैं और मेरे तब तक के सम्पूर्ण संकलन के कदाचित् आधे भी नहीं हैं। लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी की अलग सेवा करने में

मुझे भाषा के संबंध में जिन बातों का थोड़ा-बहुत ज्ञान हुआ है, उन्हीं का निचोड़ इस पुस्तक में दिया गया है। सभी तरह के समाचार-पत्रों, सामयिक-पत्रों, पुस्तकों, भाषणों और बड़े-से-बड़े प्रतिष्ठित और मान्य लेखकों तक की भाषा-सम्बन्धी भूलों के अनेक उदाहरण इसमें दिये गये हैं। ये सब उदाहरण आज-कल के भी हैं, दस-बीस बरस पहले के भी हैं और इस शताब्दी के पहले दशक के भी। हिन्दी का कलेवर कलुष से बचाने के लिए ही विशुद्ध हृदय से यह साहस किया गया है। मेरे कुछ मित्र यह चाहते थे कि मैं उदाहरणों के साथ पत्रों, पुस्तकों और लेखकों के नाम भी दे दूँ। परन्तु किसी का उपहास करने या किसी को तुच्छ सिद्ध करने का स्वप्न में भी मेरा कभी विचार नहीं हुआ। अपना पांडित्य दिखलाना भी मेरा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है केवल हिन्दी के स्वरूप की रक्षा—रक्षा ही नहीं, वह स्वरूप विशुद्ध और उज्ज्वल करना। जब मैंने देखा कि हिन्दी के छोटे और बड़े, नये और पुराने सभी तरह के अधिकतर लेखक बिना किसी संकोच के भाषा का गला घोंट रहे हैं, तब मैं यह पुस्तक लिखने में प्रवृत्त हुआ। अतः कोई सज्जन भ्रम से यह न समझ बैठें कि मैंने उनपर किसी प्रकार का आक्षेप किया है अथवा उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। जिस विशुद्ध भाव से यह पुस्तक लिखी गई है, उसी विशुद्ध भाव से यह गृहीत भी होनी चाहिए। जो लोग इसे मेरी धृष्टता समझते हों, उनसे मैं इसी अवसर पर क्षमा भी माँग लेता हूँ।

मन-माने प्रयोग करनेवाले कुछ सज्जनों ने इस पुस्तक की चर्चा छिड़ने पर, आक्षेप किया है कि मेरा यह प्रयत्न भाषा के मार्ग में रोड़े अटकानेवाला है—मैं उसके पैरों में बेड़ियाँ डालना चाहता हूँ, आदि। पर यह बात नहीं है। वस्तुतः यह पुस्तक भाषा का स्वरूप विशुद्ध, स्थिर और कमनीय करने के उद्देश्य से लिखी गई है। आज-कल जो हिन्दी चल रही है, उसमें बहुत-कुछ परिमार्जन की आवश्यकता है; और जिस मार्ग पर वह चली है, वह बहुत ही भयावह है। हमें इसी समय सतर्क होना चाहिए।

जहाँ तक हो सका है, मैंने इस पुस्तक को व्याकरण के झगड़ों से बचाने का प्रयत्न किया है। उन्हीं अवसरों पर व्याकरण के नियमों का संकेत किया गया है, जिन अवसरों पर बिना ऐसा किये काम ही नहीं चल सकता था।

प्रत्येक विषय अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस पुस्तक में आये हुए बहुत-से विषय ऐसे हैं, जिनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है; और जिनका ठीक-ठीक वर्गीकरण बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि सारी सामग्री प्रस्तुत रहने पर भी मुझे यह छोटी-सी पुस्तक लिखने में तीन वर्ष लग गये। सभी प्रकरण दो-दो बार और कुछ प्रकरण तीन-तीन बार लिखने पड़े हैं। तिसपर नित्य मिलनेवाली नई-नई भूलें भी यथा-स्थान बढ़ाई गई हैं; और बहुत-सी बातें तो अगले संस्करण के लिए रख छोड़नी-पड़ी हैं। फिर भी विषय-विन्यास की दृष्टि से मेरा पूरा पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इसके सिवा अभी मैं इसमें और भी एक-दो प्रकरण बढ़ाना चाहता था। आशा है कि अगले संस्करण में वे प्रकरण भी आ जायँगे, और इस पुस्तक में भी बहुत-कुछ सुधार हो जायगा।

भूलें सबसे होती हैं। सम्भव है, मुझसे भी इस पुस्तक में कुछ भूलें हुई हों। कुछ सिद्धान्त स्थिर करने में मैं भूल कर सकता हूँ। दूसरों की भूलें सुधारने में भी कोई भूल हो सकती है; अथवा और कई तरह की भूलों की सम्भावना है। परन्तु मेरा मूल उद्देश्य सद् है और मैं आशा करता हूँ कि विद्वान् लेखक, पाठक और समालोचक मेरे उद्देश्य पर ही ध्यान रक्खेंगे। यदि वे इसमें कहीं सुधार या परिवर्तन आदि की आवश्यकता समझें तो कृपया मुझे सूचना दें। मैं सबके विचारों से समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करूँगा।

मेरी दृष्टि अब बहुत ही क्षीण हो चली है; इसलिए इस पुस्तक में प्रूफ सम्बन्धी बहुत-सी छोटी-मोटी भूलें रह गई हैं। आशा है, उदार पाठक मेरी असमर्थता का ध्यान रखते हुए इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

अन्त में मैं अपने उन आदरणीय मित्रों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि के कुछ अथवा अधिक अंश पढ़कर मुझे उत्साहित किया है और अनेक उपयोगी परामर्श तथा सूचनाएँ दी हैं। इनमें श्रीयुक्त बा० सम्पूर्णानन्द जी, पं० बाबूराव जी पराड़कर, पं० केशवप्रसाद जी मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्म्मा, श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, राय कृष्णदास जी, डा० मोतीचन्द चौधरी, पं० रामनारायण जी मिश्र और पं० बंशीधर जी विद्यालंकार मुख्य हैं। पराड़कर जी

का मैं इसलिए और भी अधिक अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इसके लिए प्रस्तावना भी लिखने की कृपा की है। यदि उक्त सब सज्जन मुझे उत्साहित न करते तो बहुत सम्भव था कि यह पुस्तक अभी और कुछ दिनों तक अँधेरे में ही रहती—प्रकाश में न आती।

एक अन्तिम निवेदन और है। उन्नति के वर्तमान युग में हमारी भाषा और लिपि की भी बहुत बड़ी आवश्यकताएँ हैं। इस पुस्तक के अन्तिम प्रकरण में उन आवश्यकताओं का भी कुछ निरूपण करने का प्रयत्न किया गया है। मैं बहुत नम्रतापूर्वक विद्वानों का ध्यान उन आवश्यकताओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। जहाँ साधारण हिन्दी लेखकों के लिए यह उचित है कि वे यह पुस्तक पढ़कर भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियों से बचने का प्रयत्न करें, वहाँ विद्वान् लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे विचारणीय तथा चिन्तनीय विषयों का निराकरण करें और भाषा तथा लिपि की आवश्यकताओं की पूर्त्ति का रा-पूरा प्रयत्न करें। यदि ये बातें हो जायँगी तो मेरा वह उद्देश्य भी सिद्ध हो जायगा, जिससे प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखी है।

काशी
प्रबोधिनी ११, सं० २००१

इस संस्करण की भूमिका

'अच्छी हिन्दी' का यह पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित हो रहा है। जैसा कि इसके सभी पाठक अच्छी तरह जानते हैं, इस पुस्तक के अब तक के सभी संस्करणों में बराबर बहुत से संशोधन, परिवर्त्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। इस पुस्तक का पहला संस्करण केवल २०० पृष्ठों का था परन्तु निरन्तर होते रहनेवाले परिवर्द्धनों के कारण इसकी पृष्ठ संख्या बढ़ती-बढ़ती इस बार ३७८ पृष्ठों तक पहुँच गई है और यह संस्करण ३७८ पृष्ठों का हो गया है। इसी से पाठक समझ सकते हैं कि इसकी उपयोगिता दिन पर दिन कितनी बढ़ती जा रही है। हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक हिन्दी जगत में सदा उसी आदर की दृष्टि से देखी जायगी, जिस आदर की दृष्टि से वह अब तक देखी गई है।

कृष्ण जन्माष्टमी
सवत् २००६ } प्रकाशक

प्रकरण-सूची

❀ श्रीः ❀

अच्छी हिन्दी

[१]

भाषा की परिभाषा

भाव-व्यंजन के साधन—भाषा की उत्पत्ति और विकास—भाषा का स्वरूप—शब्दों के अर्थ—शब्दों के प्रयोग—भाषा के कार्य—भाषा में सौन्दर्य—व्याकरण का कार्य—भाषा की सजावट।

भाषा वह साधन है, जिससे हम अपने मन के भाव दूसरों पर प्रकट करते हैं। इसके अन्तर्गत वे सार्थक शब्द भी हैं जो हम बोलते हैं, और उन शब्दों के वे क्रम भी हैं, जो हम लगाते हैं। हमारे मन में समय-समय पर विचार, भाव, इच्छाएँ आदि उत्पन्न होती हैं, अथवा हमें कुछ अनुभूतियाँ होती हैं। वही सब हम अपनी भाषा के द्वारा, चाहे बोलकर, चाहे लिखकर, चाहे किसी संकेत से दूसरों पर प्रकट करते हैं। कभी कभी हम अपने मुख की कुछ विशेष प्रकार की आकृति बनाकर या संकेत आदि से भी अपने विचार और भाव एक सीमा तक प्रकट करते हैं; पर भाव प्रकट करने के ये सब प्रकार हमारे विचार प्रकट करने में उतने अधिक सहायक नहीं होते, जितनी भाषा होती है। यह ठीक है कि कुछ चरम अवस्थाओं में मन का कोई विशेष भाव किसी अवसर पर मूक रहकर ही, और कुछ विशिष्ट मुद्राओं से ही, प्रकट किया जाता है; और इसी लिए मूक अभिनय भी अभिनय का एक उत्कृष्ट प्रकार माना जाता है। पर साधारणतः मन के भाव प्रकट करने का सबसे अच्छा, सुगम और सबके लिए सुलभ साधन भाषा ही है।

भाव-व्यंजन के साधन

पशु-पक्षियों में भी राग, द्वेष, प्रेम, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं। अपने ये भाव वे अपनी आकृति और ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं, जिन्हें हम चीत्कार कह सकते हैं। परन्तु भाव प्रकट करने की उनकी यह शक्ति बहुत ही परिमित होती है। बहुत से पशु-पक्षी प्रसन्न रहने की अवस्था में एक प्रकार के शब्द करते हैं और क्रुद्ध या खिन्न होने की अवस्था में अन्य प्रकार के। परन्तु उनके वे शब्द उतने अधिक स्पष्ट और व्यंजक नहीं होते, जितने हमारे शब्द होते हैं। पहले हम भी संभवतः बहुत कुछ उसी प्रकार अपने मन के भाव प्रकट करते थे, जिस प्रकार पशु-पक्षी आदि करते हैं। पर अब हमारी विकसित वाक् शक्ति का कार्य-क्षेत्र पशु-पक्षियों की परिमित वाक्-शक्ति के कार्य-क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हो गया है। इस विषय में भी हम पशु पक्षियों से इतने ही आगे बढ़ गये हैं, जितने बुद्धि या विवेक में। बुद्धि और विवेक की तरह भाषा भी हमारे लिए ईश्वर की बहुत बड़ी देन है। इन्हीं सब के प्रसाद से हम जीव-जगत् में सबसे अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन-यात्रा में हमारे शरीर-रूपी रथ के यही पहिये हैं।

हमें भ्रम-वश यह न समझ लेना चाहिए कि अपनी वर्तमान बुद्धि और भाषा हमें सृष्टि के आरंभ से ही इन्हीं रूपों में मिली हैं और हम सदा से इसी तरह सोचते समझते और बोलते-चालते चले आये हैं। जिस भाषा की उत्पत्ति प्रकार इस संसार की और सब चीजों का धीरे-धीरे विकास और विकास हुआ है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि और भाषा का भी। मानव जीवन की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य की बुद्धि और भाषा दोनों बहुत परिमित थीं, बल्कि यों कहना चाहिए कि नहीं के समान थीं। बिलकुल निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य आरंभ में भाषा और बुद्धि के विकास के किस स्तर पर था; पर इसमें संदेह नहीं कि वह स्तर बहुत ही निम्न कोटि का था। बहुत सम्भव है कि उस समय हम लोगों की अवस्था उस अवस्था से मिलती-जुलती रही हो, जिसमें हमें आज-कल गोरिल्ले, चिम्पैंजी आदि वानर दिखाई देते हैं। पर यहाँ इस विषय के विशेष विवेचन का कोई उपयोग नहीं है। हमारे लिए यही समझ लेना यथेष्ट है कि बुद्धि और भाषा दोनों के विचार से हम बहुत ही नीचे स्तर से धीरे धीरे

उठते हुए हजारों लाखों बरसों में, अपनी वर्त्तमान उन्नत अवस्था तक पहुँचे हैं।

सभ्यता के क्षेत्र में प्रवेश कर चुकने पर भी आरम्भ में मनुष्यों की बुद्धि अल्प और शब्द-भांडार बहुत ही परिमित था। ज्यों ज्यों हमारे बौद्धिक, सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विकास होते गये, त्यों-त्यों हमारा शब्द-भांडार भी बढ़ता गया और भाव तथा विचार प्रकट करने के सूक्ष्म भेद-प्रभेद भी उत्पन्न होते गये। ज्यों ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, हमें नई-नई वस्तुओं का ज्ञान होता गया और नये-नये देशों तथा जातियों से हमारा सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों-त्यों हमारे शब्द भी बढ़ते गये और भाव-व्यंजन के प्रकार भी। नये-नये शिल्पों और ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार, नये-नये स्थानों और लोगों के परिचय तथा इसी प्रकार की और अनेक बातें हमारी भाषा को उन्नत तथा विकसित करती गईं। यही वह क्रम है जिससे सभ्य मनुष्यों की भाषा वर्त्तमान उन्नत अवस्था तक पहुँची है।

भाषा बहुत से ऐसे शब्दों से बनती है जिनके कुछ अर्थ होते हैं। निरर्थक शब्दों के लिए भाषा में कोई स्थान नहीं होता। शब्द का अर्थ और कहीं नहीं, स्वयं हमारे मन में होता है। इस विषय में तीन

भाषा का स्वरूप पक्ष होते हैं। पहला शब्द, दूसरा उसका अर्थ और तीसरा वक्ता-श्रोता का मन। भाषा इसी लिए हमारे मन के भाव दूसरों तक पहुँचाती है कि हम अपने सामाजिक क्षेत्र में कुछ विचारों, कार्यों, वस्तुओं आदि का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट शब्दों के साथ स्थापित कर लेते हैं। कोई बात सुनकर उसका अर्थ हम इसी लिए तुरन्त समझ लेते हैं कि हम जानते हैं कि वक्ता अपने इन शब्दों से वही आशय प्रकट कर रहा है, जो आशय आवश्यकता पड़ने पर हम स्वयं अथवा हमारे समाज के और लोग इन शब्दों से प्रकट करते हैं। इस प्रकार शब्द और उसके अर्थ में हमारे और आपके मन के संयोग से एक अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए सीधा-सादा 'पास' शब्द लीजिए। हम हिन्दीवाले इसका अर्थ 'निकट', 'समीप' या 'नजदीक' समझते हैं। पुरानी हिन्दी में इसका अर्थ 'ओर' या 'तरफ' होता था। अब वह 'अधिकार या कब्जे में' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु भारत के समीपवर्ती फारस

देश की भाषा में इसी शब्द का अर्थ होता है—(क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा-चौकी आदि। अँगरेजी में इसके अर्थ होते हैं—(क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या घाटी और (ग) गुजरना या बीतना आदि। संसार की अन्यान्य भाषाओं में इसके न जाने और क्या-क्या अर्थ होते होंगे! स्वयं 'अर्थ' शब्द के हमारे यहाँ जो अर्थ हैं, वे तो हम जानते ही हैं; पर अँगरेजी में 'अर्थ' के अर्थ होते हैं—पृथ्वी, भूमि, मिट्टी आदि। मराठी में 'शिक्षा' का अर्थ होता है—दंड या सजा। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि स्वयं किसी शब्द में कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जिससे उसका कोई अर्थ सूचित हो। अलग-अलग देशों के निवासी उसके अलग-अलग अर्थ मान लेते हैं। हम एक भाव या पदार्थ का बोध कराने के लिए जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, सम्भव है, और देशों के लोग उस शब्द का प्रयोग कोई दूसरा भाव या पदार्थ सूचित करने के लिए करते हों। यहाँ तक कि अनुकरण-वाचक शब्द भी सब भाषाओं में अलग-अलग तरह के होते और अलग-अलग तरह से बनते हैं। अतः शब्द संकेत मात्र है और उसका अर्थ हमारे मन में ही होता है।

भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ तो होते ही हैं, एक ही भाषा में एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी होते हैं। सभी उन्नत भाषाओं में ऐसे सैकड़ों-हजारों शब्द होते हैं, जिनके दो-चार ही नहीं, दस-बीस तक अर्थ होते हैं। सीधा-सादा 'काटना' शब्द लीजिए। हम लकड़ी, तनखाह, बात और समय तो काटते ही हैं, पर चालाकी में न जाने कितनों के कान भी काटते हैं! इन सब प्रयोगों में 'काटना' के अलग-अलग अर्थ हैं। तात्पर्य यह कि हम कुछ शब्दों के कुछ विशिष्ट अर्थ निश्चित कर लेते हैं; और तब आवश्यकता के अनुसार कुछ शब्दों के अर्थों का विस्तार भी करते हैं। अर्थात् हम किसी शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करते-करते उसमें किसी दूसरे अर्थ का भी आरोप करने लगते हैं। कभी-कभी तो वह पहला अर्थ मुख्य रहता है, शेष अर्थ गौण। पर कभी-कभी कोई नया आरोपित अर्थ ही मुख्य हो जाता है, और शेष अर्थ गौण हो जाते हैं। पर अधिकतर अवस्थाओं में मुख्यतः

शब्दों के अर्थ

प्राप्त कर लेनेवाला अर्थ ही काम देता है। उदाहरणार्थ 'अग्नि-कर्म' शब्द लीजिए। इसका अर्थ है—आग सम्बन्धी काम। पर हम साधारण कामों के लिए चूल्हा या भट्ठी सुलगाने को 'अग्नि-कर्म' नहीं कहते, बल्कि मृतक के दाह को ही 'अग्नि-कर्म' कहते हैं। इसके सिवा और किसी अर्थ में 'अग्नि-कर्म' का प्रयोग अशुद्ध भी होगा और भ्रामक भी। इसके सिवा बहुत से ऐसे शब्द भी होते हैं, जिनका हम कभी प्रयोग नहीं करते, भले ही दूसरे लोग उनका प्रयोग करते हों। कारण यही है कि हम अपने काम के लिए उनका कोई अर्थ निश्चित नहीं करते। हम जिन शब्दों का, अपने प्रयोग के लिए कोई अर्थ स्थिर नहीं करते, उन्हें निरर्थक मान लेते हैं। जैसे पिंग, चुंग, कांग आदि। पर चीन और जापान में इन्हीं के न जाने क्या क्या अर्थ होते होंगे। भाषाओं में जो अन्तर होता है, वह इसी अर्थ-भेद के कारण।

अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए हम सार्थक शब्दों के प्रयोग दो प्रकार से करते हैं—एक तो बोलकर और दूसरे लिखकर। बोले हुए शब्द सुनकर और लिखे हुए शब्द पढ़कर उनका भाव या शब्दों के प्रयोग अर्थ समझा जाता है। लिखने और पढ़ने की अपेक्षा हम बोलते और सुनते ही अधिक हैं। सीखते भी हम पहले बोलना और सुनना ही हैं। लिखने और पढ़ने की बारी तो बहुत बाद में आती है। यह बात हमारे व्यक्तिगत जीवन में भी और समाज के इतिहास में भी समान रूप से ठीक है।

हम प्रायः कुछ न कुछ सोचते या कुछ न कुछ करते रहते हैं; और जो कुछ सोचते या करते हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहते-सुनते भी रहते हैं। हम अपना अभिप्राय दूसरों पर स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहते हैं और दूसरों का आशय ठीक तरह से समझना चाहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि हमें अपनी बात समझाने या दूसरों की बात समझने में उतनी सफलता नहीं होती, जितनी होनी चाहिए। इसके कई कारण हैं; जैसे—शब्दों की कमी; ठीक तरह से भाव व्यक्त करने की जानकारी का अभाव, शब्दों का ठीक-ठीक आशय न समझकर उनका बे-ठिकाने प्रयोग आदि। हम छोटी अवस्था में पढ़-लिखकर बहुत से शब्द तो सीख लेते हैं, और व्याकरण का भी थोड़ा-

बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु हम प्रायः देखते हैं कि हमारा वह ज्ञान हमारे नित्य-प्रति के व्यवहार में अधिक सहायक नहीं होता। कभी हम बोलने में भूल कर जाते हैं, कभी लिखने में और कभी दूसरों के भाव समझने में। यदि ऐसे अवसरों पर थोड़ा विचार किया जाय तो हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि भाषा की दृष्टि से हमारा लिखने-पढ़ने का जो उद्देश्य था, वह ठीक तरह से पूरा नहीं हुआ। साधारण शिक्षा का हमारे लिए कम से कम इतना उपयोग तो अवश्य होना चाहिए कि हम अपनी बातें ठीक तरह से दूसरों को समझा सकें और उनकी बातें उसी तरह समझ सकें। और इसके लिए भाषा पर अधिकार होना चाहिए।

हम भाषा के द्वारा दूसरों पर अपनी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ, दुःख या प्रसन्नता, क्रोध या सन्तोष प्रकट करते हैं; तथा इस प्रकार के और बहुत से काम करते हैं। कभी हमें अपना काम निकालने के लिए दूसरों से अनुनय-विनय या प्रार्थना करनी पड़ती है, कभी उन्हें उत्साहित या उत्तेजित करना होता है, कभी उनसे आग्रह करना पड़ता है और कभी उन्हें अपने अनुकूल बनाना होता है। कभी हमें लोगों को शान्त करने के लिए समझाना-बुझाना पड़ता है और कभी कोई काम करने या किसी से लड़ने के लिए उत्साहित या उत्तेजित करना पड़ता है। कभी हमें लोगों को अपने वश में करना पड़ता है और कभी उन्हें किसी के प्रति विद्रोह करने के लिए उभारना पड़ता है। भाषा से निकलनेवाले इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य ठीक तरह से तभी हो सकते हैं, जब भाषा पर हमारा पूरा-पूरा अधिकार हो।

भाषा से बहुत बड़े-बड़े काम होते हैं; पर हाँ, भाषा उन बड़े कामों के उपयुक्त होनी चाहिए। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनमें केवल भाषा या भाषण के द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम कर दिखलाये गये हों या दूसरों से करा लिये गये हों। बड़े-बड़े युद्ध और बड़े-बड़े विद्रोह बहुत बड़ी सीमा तक प्रायः भाषा के बल पर ही छेड़े जाते हैं। बड़े-बड़े उत्थान और बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ प्रायः भाषा के सहारे ही होती हैं। भाषा ही लोगों को बहकाकर मनुष्य की सीमा से हिंसक पशुओं तक के वर्ग में ले जाती है, और भाषा ही उन्हें कुमार्ग से

भाषा के कार्य

हटाकर सन्मार्ग पर लाता और पाप से विमुख कराके पुण्य-कार्यों में लगाती है। भाषा की शक्ति अपरिमित और अमोघ है। अच्छी भाषा में जादू का असर, संगीत का माधुर्य और तलवार की शक्ति होती है। इसी लिए अँगरेजी में एक कहावत-सी बन गई है, जिसका आशय है—'तलवार से भी बढ़कर शक्तिशालिनी क़लम है।' इस कथन में 'क़लम' लिखित भाषा की प्रतीक मात्र है। और हमारे यहाँ तो उसे और भी अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। हम उसे सरस्वती देवी का रूप मानते हैं। अतः जो लोग बड़े बनना चाहते हों, या बड़े काम करना चाहते हों, उन्हें पहले अपनी भाषा की ओर ध्यान देना चाहिए।

भाषा शक्ति है और बहुत बड़ी शक्ति है। सभी शक्तियों की भाँति इसका भी सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं और सदा से होते आये हैं। विचारवान् और सदाशय इसका सदुपयोग करते हैं और तुच्छ तथा नीच दुरुपयोग। भाषा का दुरुपयोग करनेवाले लोग यह नहीं समझते कि जिसके हाथ में शक्ति होती है, उसका उत्तरदायित्व भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। इससे भी बढ़कर एक और विलक्षण बात है। जिस भाषा की सृष्टि वस्तुतः अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए हुई है, उसी का उपयोग कुछ लोग अपने मन का भाव छिपाकर दूसरों को ठगने, धोखा देने, भड़काने या भ्रम में डालने के लिए भी करते हैं! आज-कल के पाश्चात्य राजनीतिज्ञों के सम्बन्ध में तो यह बात प्रसिद्ध सी हो रही है कि वे भाषा का उपयोग अपने मन के भाव प्रकट करने की अपेक्षा अधिकतर उन्हें छिपाने के लिए ही करते हैं! यह है तो इस महान् तथा सर्व-श्रेष्ठ शक्ति का दुरुपयोग ही; पर इसे हम इसकी शक्तिमत्ता का एक प्रबल प्रमाण ही मानेंगे। पर साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि अनेक अवसरों पर भाषा के अच्छे जानकार किसी वक्ता या लेखक की भाषा के आधार पर ही उसकी वक्तृता या लेख में छिपा हुआ और गूढ़ आशय ढूँढ़ निकालते और उसका भंडा फोड़ देते हैं।

अच्छी भाषा लोगों पर हमारी योग्यता प्रकट करती है, समाज में हमारा सम्मान बढ़ाती है और हमारे बहुत-से कठिन काम सहज में पूरे कराती है। दूसरों की भद्दी, अशुद्ध या बे-मुहाविरे भाषा सुनकर हम मन में हँसते

और उन्हें मूर्ख समझते हैं। चाहे हम उस समय किसी कारण से चुप हीं क्यों न रहें, पर अशुद्ध या भद्दी भाषा बोलने या लिखनेवाले के प्रति हमारी श्रद्धा अवश्य कम हो जाती है। हम समझ लेते हैं कि इन्हें शुद्ध बोलना या लिखना तक नहीं आता। यदि इनमें से कोई बात न हो, तो भी कभी-कभी अच्छे योग्य और सम्मानित व्यक्तियों को भी अपनी भाषा-सम्बन्धी सामान्य सी चूक के लिए भी प्रतिष्ठित समाज के सामने लज्जित तो होना ही पड़ता है। भारतीय राजदूत के रूप में जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित मास्को की राजसभा में अपना परिचय-पत्र उपस्थित करने लगी थीं, तब उनका भाषण हिन्दी में हुआ था। आपने रूस के राष्ट्रपति को कहीं भूल से सभापति कह दिया था। इस पर वहाँ के रूसी दुभाषिए ने उन्हें टोककर कहा—आपको 'अध्यक्ष' कहना चाहिए। भारत आने पर श्रीमती पंडित ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकृत किया था कि इस जरा सी भूल के लिए मुझे उस समाज में कुछ लज्जित होना पड़ा था। (दिसम्बर, १९४७)

यदि कोई आदरणीय व्यक्ति भी कोई बहुत अच्छी बात, पर भद्दी या अशुद्ध भाषा में, कहे तो हम पर उसका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ता; उसके सम्बन्ध में हमारे मन में एक तरह की खटक रह जाती है। इसके विपरीत यदि कोई साधारण व्यक्ति भी सामान्य सी ही बात कहे, पर कहे अच्छी और प्रसादपूर्ण भाषा में, तो वह तुरन्त हमारे मन में बैठ जाती है; और हमें अन-जान में ही कहनेवाले कुछ विशेष आदर करने लगते हैं। भाषा ही मनुष्य की वास्तविक योग्यता, उसकी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता, उसके अनुशीलन, मनन और विचारों की गम्भीरता, उसके गूढ़ उद्देश्य, तथा उसके स्वभाव और सामाजिक स्थिति का परिचय देती है। पर किसी के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकार की सब बातों का पता सहसा सब लोगों को नहीं चलता। भाषा के विशेष ज्ञाता और पारखी ही ये सब बातें समझ सकते हैं, और दूसरों के वास्तविक उद्देश्य जानने का सफल प्रयत्न कर सकते हैं। भाषा का प्रभाव भी बहुत अधिक होता है; और उसके उत्कृष्ट ज्ञान का फल भी बहुत अधिक।

मनुष्य भूलों और दोषों से तो बचना चाहता ही है; वह स्वभावतः

सौन्दर्य-प्रिय भी होता है। वह संसार की सभी वस्तुएँ सुन्दर रूप में रखना और देखना चाहता है। जिन कलाकारों में सौन्दर्य की अनुभूति और भावना बहुत बढ़ी हुई होती है, वे कुरूप वस्तुओं में भी कुछ न कुछ सौन्दर्य ढूँढ़ निकालते हैं। परन्तु साधारण लोग भी, जिनमें कला का उतना अधिक प्रेम या जिन्हें उसका उतना अधिक ज्ञान नहीं होता, सौन्दर्य की थोड़ी-बहुत परख जरूर रखते हैं। सुन्दर और असुन्दर चीजें देखने के तो हमें उतने अवसर नहीं मिलते, परन्तु अच्छी और भद्दी भाषाएँ सुनने के अवसर प्रायः नित्य मिलते रहते हैं। जिन लोगों को सौन्दर्य की परख अधिक होती है, उन्हें भद्दापन भी अधिक खटकता है। यही कारण है कि कभी-कभी छोटे बच्चे भी बड़ों की भूलों और विशेषतः भाषा-सम्बन्धी भूलों पर हँसते और उन्हें टोकते या चिढ़ाते हुए देखे जाते हैं।

हम जिस प्रकार अपनी अन्य कृतियों को सुन्दर बनाना चाहते हैं, उसी प्रकार अपनी भाषा में भी सौन्दर्य लाना चाहते हैं। भाषा को सुन्दर बनाने में कई बातें विशेष रूप से सहायक होती हैं। उनमें पहली बात है—बहुत से शब्दों और उनके ठीक-ठीक अर्थों का ज्ञान। इस सम्बन्ध में एक साधारण सिद्धान्त यह है कि जिस भाषा या बोली में शब्दों का भांडार जितना ही कम होगा, उसमें भूलें होने या भद्दापन आने की भी उतनी ही कम गुंजाइश होगी। अब यह बात दूसरी है कि थोड़े शब्दोंवाली भाषा या बोली में उतने अधिक भाव न व्यक्त किये जा सकते हों, जितने किसी शब्द-सम्पन्न भाषा या बोली में किये जा सकते हैं। और इसी लिए उन्नति या विकास की दृष्टि से ऐसी भाषा या बोली अपनी आरम्भिक, निम्न या अप्रौढ़ अवस्था में मानी जाती है। असभ्य और जंगली जातियों की बोली प्रायः ऐसी ही होती है। उनमें शब्द भी कम होते हैं और अशुद्धियों के लिए अवकाश भी कम रहता है। थोड़े-से विशेषण, थोड़ी-सी संज्ञाएँ और थोड़ी-सी क्रियाएँ बोली के नियम-भंग के लिए अधिक स्थान ही नहीं छोड़तीं। परन्तु सभ्य, शिक्षित और उन्नत समाजों की भाषाओं में यह बात नहीं होती। उनका शब्द-भांडार बहुत बड़ा होता है और उस शब्द-भांडार से भी कहीं अधिक बड़ा होता है उनका कार्य-क्षेत्र।

भाषा में सौन्दर्य

ऐसी अवस्था में मनोगत भाव व्यक्त करने की प्रणालियाँ भी बहुत बढ़ जाती हैं और वर्ण्य या कथ्य विषयों की संख्या भी। ऐसी परिस्थितियों में भाषा सम्बन्धी भूलों के लिए भी बहुत कुछ अवकाश निकल आता है।

भाषा में होनेवाली इसी प्रकार की भूलों के लिए अवकाश कम करने के उद्देश्य से ही सबसे पहले कुछ समझदारों के मन में व्याकरण की रचना का विचार उत्पन्न हुआ होगा। व्याकरण का मुख्य काम भाषा के नियम ढूँढ़कर उन्हें स्थिर और क्रमबद्ध करना है। सब भाषाओं में उनके व्याकरण यही काम करते हैं; और इसी लिए भाषा-सम्बन्धी शिक्षा में व्याकरण का एक विशेष स्थान होता है। परन्तु भाषा जब तक सजीव रहती और बराबर उन्नति करती चलती है, तब तक बेचारा व्याकरण दौड़ में उसका साथ नहीं दे सकता। जो समाज बराबर उन्नति करता और आगे बढ़ता रहता है, उसकी भाषा भी बराबर उसके साथ-साथ बढ़ती रहती है और व्याकरण उसके पीछे-पीछे लँगड़ाता और घसिटता हुआ चलता है। जब भाषा बहुत कुछ आगे बढ़ चुकती है, तब वैयाकरण अपना व्याकरण भी उसके पास तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। यह व्याकरण वह दूसरा तत्त्व है, जो भाषा को सुन्दर बनाने में सहायक होता है। पर यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्याकरण हमें संज्ञाओं, सर्वनामों, विशेषणों, क्रियाओं आदि के ऊपरी भेद बतलाकर ही अपना कार्य समाप्त कर देता है। वह हमें भाषा की अन्तरात्मा तक नहीं पहुँचा सकता। उस अन्तरात्मा तक पहुँचने के लिए भाषा की आत्मा या प्रकृति के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

व्याकरण का कार्य

बोल-चाल का सौन्दर्य बढ़ाने में तीसरा और सबसे बड़ा तत्त्व होता है—भाषा पर अधिकार। यह अधिकार न तो शब्द-भांडार की विपुलता पर ही आश्रित है, न व्याकरण के ज्ञान पर ही। इसका आश्रय या आधार तो स्वयं व्यक्ति होता है। शब्दों का बहुत बड़ा भंडार हमें कोशों में मिल सकता है और व्याकरण के बहुत-से नियम वैयाकरण हमारे सामने रख देते हैं। परन्तु सजीव भाषा में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो कोश और व्याकरण दोनों की पहुँच के बाहर होती हैं। इसी लिए सारे कोश और सारे व्याकरण

रट डालने पर भी हमारी भाषा अच्छी, मुहावरेदार और शुद्ध नहीं हो सकती—उसमें खूबसूरती और जान नहीं आ सकती। हम एक ऐसे विद्वान् सज्जन को जानते हैं, जिन्हें बहुत अधिक शब्दों और कई मृत तथा जीवित भाषाओं के व्याकरणों का अच्छा ज्ञान था, फिर भी जिनके बोलने और लिखने में अशुद्धियों की भर-मार रहती थी। अशुद्धियों की बात तो जाने दीजिए, बहुत-से लोगों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से परम शुद्ध होने पर भी नीरस और निर्जीव होती है। और किसी ऐसे व्यक्ति की भाषा भी परम सरस और सजीव हो सकती है, जिसने व्याकरण का कभी नाम भी न सुना हो। व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का ज्ञान और बात है; भाषा पर अधिकार होना और बात। भाषा पर होनेवाले इसी अधिकार को उर्दूवाले 'जबानदानी' कहते हैं।

अच्छी गढ़न और ठीक सजावट से ही कोई चीज सुन्दर हो सकती है; और ये दोनों बातें अच्छी रुचि से ही पैदा होती हैं। यों तो रुचि बहुत-कुछ स्वाभाविक ही होती है; फिर भी वह संस्कृत और परिमार्जित भाषा की सजावट की जा सकती है। कविता संगीत आदि कलाओं के लिए ईश्वर-दत्त रुचि तो चाहिए ही; साथ में कुछ शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। यही बात अच्छी भाषा लिखने के सम्बन्ध में भी है। रुचि की बहुत-कुछ अभिवृद्धि भी हो सकती है और बहुत अंशों में वह अर्जित भी की जा सकती है। प्रश्न रह जाता है केवल प्रयत्न का। अब यह बतलाने के लिए किसी विशेष तर्क की आवश्यकता न होगी कि जो व्यक्ति जिस विषय में जितना ही अधिक प्रयत्न करता है, वह उस विषय में यदि उतना ही नहीं तो बहुत-कुछ सफल अवश्य हो सकता है। अतः यदि हम अपनी भाषा निर्दोष, सुन्दर, ओजस्विनी, प्रसाद-पूर्ण और प्रभावशालिनी बनाने का ठीक तरह से प्रयत्न करें तो हमें सहज में बहुत कुछ सफलता हो सकती है। और बातों की शिक्षा प्राप्त करने में तो कुछ न कुछ परिश्रम करना और विशेष समय लगाना पड़ता है; पर भाषा की शुद्धता के लिए इन सब की उतनी आवश्यकता नहीं होती। इसमें आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि छोटी-छोटी भूलों पर भी जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय। जब हम भाषा-सम्बन्धी छोटी-छोटी भूलों पर ध्यान देने लगेंगे, तब

बड़ी-बड़ी भूलें आपसे आप हमें दिखाई देने लगेंगी। जहाँ एक बार आप इस मार्ग पर चल पड़े, वहाँ बाकी काम बहुत-कुछ आपसे-आप होने लगेंगे। अच्छे और शुद्ध प्रयोग उसी प्रकार अनायास और स्वाभाविक रूप से आपके सामने आने लगेंगे, जिस प्रकार गिरने या फिसलने के समय हाथ अनायास किसी सहारे की चीज की तरफ बढ़ता है। यह विषय आपको इतना अधिक रोचक प्रतीत होगा कि आप इस पर अनुरक्त हो जायँगे; और अपनी तथा अपने मित्रों की भाषा ठीक करने के सिवा साहित्य का भी बहुत उपकार करेंगे।

यदि आप अपनी भाषा पर भी और दूसरों की भाषा पर भी आज से ही ध्यान देना आरंभ कर दें तो बहुत सम्भव है कि एकाध महीने के अन्दर ही भाषा को सुन्दर और शुद्ध बनानेवाले बहुत से तत्त्व आपसे आप आपके सामने आने लग जायँ। फिर साल दो साल के प्रयत्न और परिश्रम का तो कहना ही क्या है! पर यदि आप उन्हीं छोटी-छोटी बातों को तुच्छ समझकर छोड़ते चलने के अभ्यस्त हो जायँगे, तो फिर आपकी भाषा में बराबर कुछ-न-कुछ दोष बढ़ते ही चले जायँगे। भाषा का पूरा ध्यान रखना और उसका गहन अध्ययन इसलिए और भी अधिक आवश्यक है कि उससे भाषा-सम्बन्धी बहुत से नये तत्त्व सामने आते हैं, जो जीवन-यात्रा में अनेक प्रकार से उपयोगी तथा सहायक होते हैं। भाषा में शब्द प्रायः अनेक प्रकार के काम करते हैं; और उन प्रकारों की जानकारी हमें 'सुविज्ञ' बनाती है।

हमें स्वयं तो सदा अपनी भाषा सुन्दर और शुद्ध बनाने का ध्यान रखना ही चाहिए, दूसरों को भी इस विषय में सचेत करते रहना चाहिए। इससे हम अपना भला तो करेंगे ही, भाषा का भी बहुत बड़ा उपकार करेंगे। विशेषतः बच्चों की भाषा पर तो हमें और भी अधिक ध्यान देना चाहिए। बच्चे जिस तरह और सब कामों में भूलें करते हैं, उसी तरह बोलने में भी। उस समय यदि उनका ध्यान उन भूलों की ओर दिलाया जाय और उन्हें सचेत कर दिया जाय, तो थोड़े ही समय में वे भी भाषा का सौन्दर्य बहुत कुछ परखने लगेंगे। पर उस समय यदि हम उनकी भाषा-सम्बन्धी भूलों को तुच्छ समझकर उनकी उपेक्षा करेंगे, तो बहुत सम्भव है कि उनमें से

बहुत-सी भूलों का फिर कभी सुधार ही न हो। इसी तरह के लोग बड़े होने और बहुत कुछ पढ़-लिख लेने पर भी, भली भाँति सुरक्षित और विद्या-सम्पन्न होने पर भी 'कै बजो', 'बाजार खुली' और 'हम आपका सब बात समझ लिया' सरीखे वाक्य बोलते हुए देखे जाते हैं।

इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की सबसे बड़ी बात यह है कि यदि हमें कभी कोई हमारी भाषा-सम्बन्धी भूल बतलावे तो हमें उस पर बिगड़ना या नाराज नहीं होना चाहिए, बल्कि उसका उपकार मानना चाहिए। एक बार किसी प्रधान सम्पादक के लिखे हुए एक लेख में उनके किसी सहायक ने एक अनुपयुक्त शब्द काटकर उसकी जगह दूसरा उपयुक्त शब्द रख दिया था; और वह लेख उसी संशोधित रूप में छपा था। दूसरे दिन सम्पादक महोदय अपने लेख में किया हुआ वह संशोधन देखकर अपने सहायक पर बहुत लाल-पीले हुए और उसे धमकाने लगे कि तुम सम्पादन-विभाग से निकाल दिये जाओगे। पर सहायक पहले से तैयार था। उसने भाषा के शुद्ध प्रयोगों की एक प्रामाणिक पुस्तक खोलकर नम्रतापूर्वक सम्पादक जी के सामने रख दी। सम्पादक जी ने बहुत ही लज्जित होकर सहायक का उपकार माना, उसे धन्यवाद दिया और भविष्य में भाषा लिखते समय बहुत सतर्क रहने की प्रतिज्ञा की!

[२]

उत्तम रचना

रचना का उद्देश्य—रचना का कौशल—वाक्यों की बनावट—रचना में सुधार—भाषा पर अधिकार—मुहावरे, कहावतें और अलंकार—भाषा में जान—भाषा में सरलता—व्याकरण का ज्ञान।

रचना का उद्देश्य

साहित्य-रचना का मुख्य उद्देश्य होता है—अपने भाव दूसरों पर प्रकट करना। अतः वही रचना अच्छी मानी जाती है जो लेखक के मन के भाव पाठकों पर भली भाँति प्रकट कर सके। यदि रचना-प्रणाली ठीक न होगी तो पाठक भ्रम में पड़ जायँगे। वे कुछ-का-कुछ अर्थ कर बैठेंगे या कुछ भी न समझ सकेंगे। वास्तव में लेखन भी कला है; और जो लोग अच्छे लेखक बनना चाहते हों, उन्हें इस कला का नियमित रूप से ज्ञान प्राप्त करना और परिश्रमपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए। यहाँ रचना के कुछ ऐसे सिद्धांत बतलाये जाते हैं, जिनका ध्यान रखने से लेखक अपने भाव और विचार सफलतापूर्वक दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं।

लेखों या रचनाओं में पहली और मुख्य चीज है—विचार या भाव। अतः हम जो कुछ लिखना चाहते हों, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सब विचार या भाव स्वयं हमारे मन में स्पष्ट होने चाहिएँ। यदि हम स्वयं कोई बात अच्छी तरह न समझेंगे तो दूसरों को कैसे और क्या समझा सकेंगे! यदि मूल ही अस्पष्ट हो तो उसकी शाखा-प्रशाखाएँ कब स्पष्ट हो सकेंगी! और यदि कहा जाय कि मूल तो सदा अस्पष्ट ही रहता है तो भी रचना का उद्देश्य तो उसे स्पष्ट करना ही होता है। अतः रचना का पहला सिद्धान्त है—विचारों का अपने मन में ठीक और स्पष्ट बोध। एक बार अँगरेजी के किसी बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक से किसी ने पूछा था—'उत्तम साहित्यिक रचना प्रस्तुत करने का रहस्य (या मूल मंत्र) क्या

बहुत कुछ रहित तथा स्वस्थ और कर्मशील होते हैं। अधिकांश बड़े-बड़े लेखक ऐसे ही हैं जो बहुत सबेरे उठते थे और दैनिक कृत्यों से निवृत्त होकर साहित्य-सेवा में लग जाते थे। कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक भी अवश्य होते हैं जो जब चाहते हैं, तभी लिखने बैठ जाते और खूब लिखते हैं। पर ऐसे लोग अपवादरूप में ही समझे जाने चाहिएँ। साधारण लोगों के लिए उपयुक्त समय प्रायः सवेरे का ही होता है। इस सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिस समय किसी विषय में चित्त लीन हो जाता है, वही उसपर लिखने का उत्तम समय होता है। लेखक के लिए तल्लीनता आवश्यक है। कोई भावना जिस समय उत्तेजित होती है, उस समय उससे सम्बद्ध विषय पर जो कुछ लिखा जाता है, वह तर्क की दृष्टि से भले ही कुछ निम्न कोटि का हो पर उसमें हृदय-ग्राहिता आ ही जाती है।

रचना का कौशल सहज में प्राप्त नहीं होता। उत्तम साहित्यिक रचना करने के लिए आवश्यक गुण और शक्ति बहुत दिनों में और बहुत परिश्रम से अर्जित की जाती है। बहुत से लोगों को उत्तम और

रचना का कौशल स्थायी रचना प्रस्तुत करने के लिए बरसों परिश्रम करना और अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश लगाना पड़ा है; यहाँ तक कि बहुतों को इसके लिए अपने स्वास्थ्य से भी हाथ धोना पड़ा है। बहुत-सा समय लगाने और बहुत अधिक परिश्रम करने के बाद भी लोगों को अपनी रचनाओं में बहुत कुछ संशोधन और सुधार की आवश्यकता जान पड़ती है। वे समझते हैं कि जब हमारी कृति स्वयं हमारा सन्तोष न कर सकी, तब वह दूसरों को कैसे सन्तुष्ट और प्रसन्न कर सकेगी! और यह है भी कैसी अच्छी कसौटी!

लेखक का काम कुछ अंशों में मधु-मक्खियों के काम से मिलता-जुलता है। मधु-मक्खियाँ मकरन्द संग्रह करने के लिए कोसों के चक्कर लगाती और अच्छे-अच्छे फूलों पर बैठकर उनके रस लेती हैं। तभी तो उनके मधु में संसार की सर्व-श्रेष्ठ मधुरता रहती है! यदि आप अच्छे लेखक बनना चाहते हों तो आपको भी यही वृत्ति धारण करनी चाहिए। अच्छे-अच्छे ग्रंथों का खूब अध्ययन कीजिए और उनकी बातों पर मनन कीजिए। फिर आपकी रचनाओं में

में भी मधु का-सा माधुर्य आने लगेगा। कोई अच्छी उक्ति, कोई अच्छा विचार भले ही दूसरे से ग्रहण किया गया हो, पर यदि यथेष्ट मनन करके आप उसे अपनी रचना में स्थान देंगे तो वह आपका ही हो जायगा। मनन-पूर्वक लिखी हुई चीज के सम्बन्ध में जल्दी किसी को यह कहने का साहस ही न होगा कि यह अमुक स्थान से ली गई है, या उच्छिष्ट है। जो बात आप अच्छी तरह आत्मसात् कर लेंगे, वह फिर आपकी ही हो जायगी।

आप नित्य बहुत-सी घटनाएँ देखते हैं, बहुत-से लोगों से मिलते हैं, बहुत सी बातें सुनते हैं और बहुत-कुछ पढ़ते हैं। नित्य बहुत-सी अच्छी और बुरी बातें आपके सामने आती रहती हैं। यदि आप उन सभी बातों पर थोड़ा ध्यान देने का अभ्यास कर लेंगे तो नित्य आपको अपने काम की सैकड़ों बातें मिलने लगेंगी। जब आप इस प्रकार किसी विषय पर विचार करते रहेंगे, और उसके भिन्न-भिन्न अंगों को सहायता पहुँचानेवाली बातों की खोज में रहेंगे, तब उससे सम्बन्ध रखनेवाले नये विचार और नये ढंग भी आपको सूझते रहेंगे। इस प्रकार की सब बातें ध्यान में रखना प्रायः असम्भव होगा; अतः ऐसी बातें यदि आप कहीं टाँकते चलेंगे तो आपके पास जानने और बतलाने योग्य बहुत-सी बातों का अच्छा संग्रह हो जायगा, जो समय पर बहुत काम देगा। कोई बात सुन या समझकर उसे कहीं टाँक लेने से कई लाभ होते हैं। इससे हमारी निरीक्षण करने की योग्यता बढ़ती है और हम किसी विषय पर कुछ नये ढंग से सोचने-विचारने की शक्ति प्राप्त करते हैं। दूसरे, हमें अपने विचार ठीक तरह से लिखने की शिक्षा-सी मिलती है—क्रमशः हम यह सीखने लगते हैं कि भाव किस प्रकार ठीक रूप में प्रकट किये जाते हैं। एक और बड़ा लाभ यह होता है कि स्मृति-पट पर उसका कुछ अधिक स्थायी अंकन भी हो जाता है, जो आगे चलकर उस तरह की और और बातें जानने, ढूँढ़ निकालने या संग्रह करने में सहायक होता है। उत्तम और उपयुक्त बातें केवल स्मृति के भरोसे छोड़ देना मानो उनसे हाथ धोने के लिए तैयार रहना है।

जब बहुत-से विषय, बहुत-सी बातें और बहुत-से विचार आपकी पूँजी बन जायँगे, तब लिखने का काम उतना कठिन न रह जायगा। उस समय

आपकी पहली आवश्यकता यह होगी कि आप उन सब बातों और विचारों को अलग-अलग विषय-विभागों में विभक्त कर लें; और तब एक विषय लेकर उस पर लिख चलें। बहुत-सी बातों, घटनाओं या विचारों को एक-साथ गूँथने लगना ठीक नहीं। प्रत्येक विषय थोड़ा-थोड़ा और आंशिक रूप में लिया जाना चाहिए और क्रमबद्ध रूप में लिखा जाना चाहिए। प्रत्येक विचार ही नहीं, बल्कि प्रत्येक वाक्य और यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द भी खूब तौलकर लिखना चाहिए। ऐसा करने पर उसे दोहराने और उसमें संशोधन या सुधार करने की बहुत ही कम आवश्यकता रह जायगी। फिर भी जब अपनी भूल मालूम पड़े या कोई अच्छा नया विचार सामने आवे, तब अपना लेख दोहराने और सुधारने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए।

विचारों और भावों का क्रम बाँध लेने पर वाक्य में शब्दों का ठीक क्रम लगाना भी बहुत आवश्यक है। भाव तथा विचार प्रकट करने के लिए

वाक्यों की बनावट

पहले उपयुक्त शब्दों की, और तब उनके उपयुक्त क्रम तथा सजावट की आवश्यकता होती है। यदि हमारे शब्द हमारे भाव और विचारों के उपयुक्त न होंगे तो उनमें कभी रस न आ सकेगा। जिस प्रकार लेख में उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त विचार सजाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वाक्यों में उपयुक्त शब्द-योजना की भी आवश्यकता होती है। प्रत्येक वाक्य लिखते समय उसके आरम्भ और अन्त के रूपों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यह न हो कि वाक्य उठे तो कहीं से, बीच में वह कहीं और चला जाय और उसका अन्त उन सबसे अलग किसी और जगह जाकर हो। वह उठे तो बहुत ऊँचाई से और अन्त में जाकर गिर पड़े गड्ढे में! वाक्य का आरम्भ पाठकों के मन में उत्सुकता उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए, उसका मध्य वह उत्सुकता बनाये रखनेवाला होना चाहिए और अन्त उस उत्सुकता का पूरी तरह से समाधान करनेवाला होना चाहिए। वस्तुतः वाक्य का अन्तिम अंश ही सबसे अधिक महत्त्व का होता है और वही सबसे ज्यादा वजनदार होना चाहिए। 'वे इस षड्यन्त्र का समूल नाश ही नहीं करना चाहते, बल्कि इससे डटकर मोरचा भी लेना चाहते हैं।' ऐसा वाक्य है जिसका आरम्भिक अंश अधिक जोरदार है,

अन्तिम कमजोर है। 'यह बिलकुल बदल दिये जाने के योग्य तो है ही, इसमें कुछ सुधार की भी आवश्यकता है।' भी इसी प्रकार का वाक्य है। यह तो वही बात हुई—'मैंने तुम्हें सौ बार समझाया, हजार बार समझाया, दस बार समझाया, पर तुम मानते ही नहीं।' ऐसे वाक्य निर्जीव होते हैं। वस्तुतः वाक्य ऐसे होने चाहिएँ जिनपर पाठकों का ध्यान बराबर लगा रहे, उनकी उत्सुकता बराबर बढ़ती रहे, उनकी तबीयत कहीं से उखड़ने या ऊबने न पावे'। जो बात वाक्य के सम्बन्ध में है, वही अनुवाक, प्रकरण और समस्त ग्रंथ के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

जहाँ तक हो सके, एक वाक्य में एक ही विचार या भाव रहना चाहिए। जब वाक्य का विस्तार आवश्यकता से बहुत बढ़ जाता है, तब उसमें भूलें भी आ सकती हैं और वह अस्पष्ट, भद्दा या भ्रामक भी हो सकता है। और यदि इनमें से कोई बात न हो तो भी पाठकों को उसे समझने में कठिनता तो होती ही है। वाक्य ऐसा होना चाहिए जिसे पढ़ते ही पाठक तत्काल उसका आशय समझ लें, इसके लिए उन्हें कोई विशेष आयास न करना पड़े। रचना में कभी-कभी ऐसे वाक्य भी रखने पड़ते हैं जिनमें एक से अधिक भाव होते हैं। व्याकरण में ऐसे वाक्यों को 'मिश्र वाक्य' तथा 'संयुक्त वाक्य' कहते हैं। विधान की धाराएँ या सभा-समितियों के प्रस्ताव तथा गूढ़ विषयों के विवेचन प्रायः बड़े-बड़े संयुक्त वाक्यों में ही होते हैं। ऐसे वाक्य लिखते समय और भी अधिक सतर्क रहना चाहिए और उन्हें कहीं से विशृंखल न होने देना चाहिए। यदि ऐसे वाक्य स्पष्ट न हों तो उनका लिखा जाना ही व्यर्थ हो जाता है। इसके विपरीत साधारण पत्र, उपन्यासों और नाटकों के कथोपकथन तथा समाचारपत्रों में समाचार आदि लिखते समय साधारण और छोटे-छोटे वाक्य ही अधिक उपयुक्त होते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो छोटे, परन्तु गठे हुए वाक्य ही अधिक सुन्दर और प्रभावशाली होते हैं। परन्तु साहित्यिक रचनाओं में दोनों प्रकार के वाक्यों की आवश्यकता होती है। कुशल लेखक अच्छी तरह जानते हैं कि कहाँ साधारण और छोटे वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए और कहाँ बड़े तथा संयुक्त वाक्यों का। और जब इस प्रकार की रचनाओं पर लेखक अपनी कुछ निजी तथा विशिष्ट शब्द-योजना और

आपकी पहली आवश्यकता यह होगी कि आप उन सब बातों और विचारों को अलग-अलग विषय-विभागों में विभक्त कर लें; और तब एक विषय लेकर उस पर लिख चलें। बहुत-सी बातों, घटनाओं या विचारों को एक-साथ गूँथने लगना ठीक नहीं। प्रत्येक विषय थोड़ा-थोड़ा और आंशिक रूप में लिया जाना चाहिए और क्रमबद्ध रूप में लिखा जाना चाहिए। प्रत्येक विचार ही नहीं, बल्कि प्रत्येक वाक्य और यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द भी खूब तौलकर लिखना चाहिए। ऐसा करने पर उसे दोहराने और उसमें संशोधन या सुधार करने की बहुत ही कम आवश्यकता रह जायगी। फिर भी जब अपनी भूल मालूम पड़े या कोई अच्छा नया विचार सामने आवे, तब अपना लेख दोहराने और सुधारने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए।

विचारों और भावों का क्रम बाँध लेने पर वाक्य में शब्दों का ठीक क्रम लगाना भी बहुत आवश्यक है। भाव तथा विचार प्रकट करने के लिए पहले उपयुक्त शब्दों की, और तब उनके उपयुक्त क्रम तथा सजावट की आवश्यकता होती है। यदि हमारे शब्द हमारे भाव और विचारों के उपयुक्त न होंगे तो उनमें कभी रस न आ सकेगा। जिस प्रकार लेख में उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त विचार सजाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वाक्यों में उपयुक्त शब्द-योजना की भी आवश्यकता होती है। प्रत्येक वाक्य लिखते समय उसके आरम्भ और अन्त के रूपों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यह न हो कि वाक्य उठे तो कहीं से, बीच में वह कहीं और चला जाय और उसका अन्त इन सबसे अलग किसी और जगह जाकर हो। वह उठे तो बहुत ऊँचाई से और अन्त में जाकर गिर पड़े गड्ढे में! वाक्य का आरम्भ पाठकों के मन में उत्सुकता उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए, उसका मध्य वह उत्सुकता बनाये रखनेवाला होना चाहिए और अन्त उस उत्सुकता का पूरी तरह से समाधान करनेवाला होना चाहिए। वस्तुतः वाक्य का अन्तिम अंश ही सबसे अधिक महत्त्व का होता है और वही सबसे ज्यादा वजनदार होना चाहिए। 'वे इस षड्यन्त्र का समूल नाश ही नहीं करना चाहते, बल्कि इससे डटकर मोरचा भी लेना चाहते हैं।' ऐसा वाक्य है जिसका आरम्भिक अंश अधिक जोरदार है,

वाक्यों की बनावट

अन्तिम कमजोर है। 'यह बिलकुल बदल दिये जाने के योग्य तो है ही, इसमें कुछ सुधार की भी आवश्यकता है।' भी इसी प्रकार का वाक्य है। यह तो वही बात हुई—'मैंने तुम्हें सौ बार समझाया, हजार बार समझाया, दस बार समझाया, पर तुम मानते ही नहीं।' ऐसे वाक्य निर्जीव होते हैं। वस्तुतः वाक्य ऐसे होने चाहिएँ जिनपर पाठकों का ध्यान बराबर लगा रहे, उनकी उत्सुकता बराबर बढ़ती रहे, उनकी तबीयत कहीं से उखड़ने या ऊबने न पावे। जो बात वाक्य के सम्बन्ध में है, वही अनुवाक, प्रकरण और समस्त ग्रंथ के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

जहाँ तक हो सके, एक वाक्य में एक ही विचार या भाव रहना चाहिए। जब वाक्य का विस्तार आवश्यकता से बहुत बढ़ जाता है, तब उसमें भूलें भी आ सकती हैं और वह अस्पष्ट, भद्दा या भ्रामक भी हो सकता है। और यदि इनमें से कोई बात न हो तो भी पाठकों को उसे समझने में कठिनता तो होती ही है। वाक्य ऐसा होना चाहिए जिसे पढ़ते ही पाठक तत्काल उसका आशय समझ लें, इसके लिए उन्हें कोई विशेष आयास न करना पड़े। रचना में कभी-कभी ऐसे वाक्य भी रखने पड़ते हैं जिनमें एक से अधिक भाव होते हैं। व्याकरण में ऐसे वाक्यों को 'मिश्र वाक्य' तथा 'संयुक्त वाक्य' कहते हैं। विधान की धाराएँ या सभा-समितियों के प्रस्ताव तथा गूढ़ विषयों के विवेचन प्रायः बड़े-बड़े संयुक्त वाक्यों में ही होते हैं। ऐसे वाक्य लिखते समय और भी अधिक सतर्क रहना चाहिए और उन्हें कहीं से विशृंखल न होने देना चाहिए। यदि ऐसे वाक्य स्पष्ट न हों तो उनका लिखा जाना ही व्यर्थ हो जाता है। इसके विपरीत साधारण पत्र, उपन्यासों और नाटकों के कथोपकथन तथा समाचारपत्रों में समाचार आदि लिखते समय साधारण और छोटे-छोटे वाक्य ही अधिक उपयुक्त होते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो छोटे, परन्तु गठे हुए वाक्य ही अधिक सुन्दर और प्रभावशाली होते हैं। परन्तु साहित्यिक रचनाओं में दोनों प्रकार के वाक्यों की आवश्यकता होती है। कुशल लेखक अच्छी तरह जानते हैं कि कहाँ साधारण और छोटे वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए और कहाँ बड़े तथा संयुक्त वाक्यों का। और जब इस प्रकार की रचनाओं पर लेखक अपनी कुछ निजी तथा विशिष्ट शब्द-योजना और

रचना-प्रणाली की रंगत चढ़ाता है, तब उसकी गिनती उस लेखक की विशिष्ट शैली में होती है।

शैली का विवेचन आगे चलकर एक स्वतंत्र प्रकरण में किया गया है, इसलिए यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि रचना का सौन्दर्य इसी में है कि वाक्य यथा-साध्य संक्षिप्त और स्पष्ट हों। रचना वही अच्छी कहलाती है, जिसमें कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भाव प्रकट किये गये हों। इसके विपरीत यदि शब्दों का आडम्बर तो बहुत अधिक हो, पर विचार या भाव बहुत ही कम हों तो वह रचना दूषित समझी जाती है और उसका आदर नहीं होता। अच्छी रचना की एक बहुत बड़ी पहचान यह है कि उसमें कुछ भी घटाने-बढ़ाने या उलट-फेर करने की गुंजाइश नहीं होती। यदि किसी वाक्य में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने से उसका सौन्दर्य या स्पष्टता बढ़ जाय तो समझ लेना चाहिए कि वह वाक्य ठीक नहीं बना था। और यदि उसमें कुछ भी उलट-फेर करने से उसका सौन्दर्य घट जाय तो समझना चाहिए कि वह निर्दोष और उच्च कोटि की रचना है। जो रचना सचमुच उच्च कोटि की होती है, वह कभी किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की अपेक्षा नहीं रखती। सुधार की तो उसमें जगह ही नहीं रहती; और परिवर्तन उसका कोई न कोई गुण नष्ट किये बिना नहीं रहता।

यह तो सम्भव नहीं कि सभी लेखक आरम्भ से ही ऐसी सुन्दर रचना करने लगें, जिसमें किसी प्रकार के सुधार या परिवर्त्तन की आवश्यकता न हो। परन्तु निरन्तर अभ्यास से प्रायः सभी लोग इस प्रकार की उत्तम रचना कर सकते हैं। आप दो-चार पृष्ठ लिखें और तब उन्हें दोहरावें-तेहरावें, तब स्वयं आपको उसकी कुछ त्रुटियाँ दिखाई देने लगेंगी। अब वे त्रुटियाँ दूर करके फिर से लिखें। इस प्रकार दो-तीन बार करने से आपको मालूम हो जायगा कि कब, कहाँ और किस तरह की त्रुटियाँ होती हैं और वे किस प्रकार बचाई या दूर की जा सकती हैं। फिर जब आपको अभ्यास हो जायगा, तब यों तो दोहराने की आवश्यकता ही न होगी; या यदि होगी भी तो बहुत कम।

कोई चीज अच्छी तभी हो सकती है, जब उसके सब दोष दूर कर दिये जायँ। जिस प्रकार मूर्त्तिकार मूर्त्ति गढ़ते समय और चित्रकार चित्र अंकित

करते समय बराबर इस बात का ध्यान रखते हैं कि कोई कोर-कसर न रहने पावे, उसी प्रकार लेखक को भी ध्यान रखना चाहिए कि मेरी रचना में कोई त्रुटि न रहने पावे। संसार में सभी चीजों का क्रमशः विकास होता है। आरम्भ में सभी चीजों में कुछ दोष रहते हैं। जब धीरे-धीरे वे दोष दूर कर दिये जाते हैं, तब जाकर वह चीज सर्वांग-सुन्दर होती है। साहित्यिक रचना इस नियम का अपवाद नहीं है। आपकी रचना में जो कुछ अ-सुन्दर हो, वह सब निकाल दीजिए; फिर वह रचना आप-से-आप सुन्दर हो जायगी। अर्थात् आपकी रचना में अधिक से अधिक और जल्दी से जल्दी सुधार करने का सबसे सुगम उपाय यही है कि आप इस बात का ध्यान रक्खें कि कौन-सी ऐसी बातें हैं, जो इसमें अवश्य आनी चाहिएँ और कौन-कौन ऐसी हैं जो बिलकुल नहीं आनी चाहिएँ। रद्दी, भद्दी, पुरानी और अनुपयुक्त बातों, विचारों और भाव-व्यंजन की प्रणालियों से जहाँ तक हो सके, बचकर अच्छी, बढ़िया और काम की बातें तथा विचार रखने चाहिएँ; और उन्हें प्रकट तथा प्रतिपादित करने का ढंग भी बिलकुल नया और निराला होना चाहिए। लिखते समय ध्यान सदा अच्छेपन की ओर रहना चाहिए—सुधार का तत्त्व कभी आँखों से ओझल न होना चाहिए। सदा इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि साधारण अच्छी रचना भी प्रयत्नपूर्वक और अच्छी बनाई जा सकती है; और इस प्रकार उसके सौन्दर्य की मात्रा बढ़ाते बढ़ाते वह परम सुन्दर बनाई जा सकती है।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि यदि आप आज ही लिखें और आज ही दोहराने बैठ जायँ तो उसमें के सब दोष आपके सामने न आ सकेंगे। हाँ, यदि कुछ

रचना में सुधार

समय बीत जाने पर आप उसे फिर से देखेंगे तो आपकी दृष्टि में उसके अपेक्षाकृत अधिक दोष आ सकेंगे। इस बीच में आपका ज्ञान भी सम्भवतः कुछ बढ़ चुका होगा और सौष्ठव की परख भी। अतः एक बहुत बड़े लेखक का यह मत बहुत कुछ ठीक है कि पहले कोई चीज लिखो और तब उसे साल दो साल यों ही रहने दो। फिर जब उसे देखोगे, तब अवश्य उसमें के बहुत-से दोष और त्रुटियाँ आप-से-आप दिखाई

देने लगेंगी; और तब उन सबका सहज ही में सुधार भी हो सकेगा। जो लोग अपनी साहित्यिक रचनाओं का सचमुच आदर कराना चाहते हों, उनके लिए 'काता और ले दौड़ी' वाली नीति ठीक नहीं है।

रचना में जिस प्रकार भावों के सौन्दर्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शब्द-योजना की सुन्दरता की भी। संसार की हर चीज सजावट चाहती है; परंतु स्वयं सजावट भी अनुरूपता की अपेक्षा रखती है। यदि किसी सुन्दर मूर्ति को सुन्दर वस्त्र पहनाये जायँ या सुन्दर आभूषणों से अलंकृत किया जाय, तभी वह मूर्त्ति और अधिक सुन्दर लगेगी। यदि किसी भद्दी मूर्ति को सुन्दर वस्त्र पहना दिये जायँ अथवा किसी सुन्दर मूर्ति को भद्दे अलंकार पहना दिये जायँ तो भद्दे और सुन्दर का वह योग कभी ठीक न बैठेगा। सम्भव है, सुन्दर वस्त्रों से किसी भद्दी मूर्ति का भद्दापन कुछ कम हो जाय, परन्तु स्वयं उन वस्त्रों की सुंदरता भी बहुत कुछ कम हो जायगी। 'टाट की अँगिया में बाफ्ते की तनी' क्या अच्छी लगेगी! एक का भद्दापन दूसरे पर प्रभाव डाले बिना न रहेगा। वास्तविक शोभा तो तभी होगी, जब दोनों सुन्दर होंगे। भाव और भाषा में बहुत-कुछ वही सम्बन्ध है, जो मूर्ति और उसके वस्त्रों आदि में है। सुन्दर भाव भी सुन्दर भाषा से ही सुशोभित होते हैं, भद्दी और भोंड़ी भाषा से नहीं। इसी प्रकार भड़कीली भाषा भी बिना अच्छे भावों के बे-तुकी जान पड़ेगी। अतः लिखते समय भाव और भाषा की अनुरूपता पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। जिस विषय और जिस अवसर के लिए जैसी भाषा उपयुक्त हो, उसे छोड़कर अन्य प्रकार की भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए।

भाषा पर अधिकार

भाषा पर अधिकार होने के लिए बहुत-से शब्दों का ज्ञान तो होना ही चाहिए, प्रत्येक शब्द के ठीक-ठीक अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रायः लोग बहुत-से शब्दों का तो ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उनके ठीक-ठीक अर्थ और आशय नहीं समझते और मनमाने ढंग से उनका प्रयोग करते हैं। वे अपनी समझ से तो बहुत चातुरी दिखलाते हैं, पर वास्तव में हास्यास्पद बनते हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें बहुत थोड़े-से शब्दों का ज्ञान होता है और जो मौके बे-मौके

सभी जगह उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं। दोनों प्रकार के लेखक वस्तुतः एक ही कोटि में रक्खे जाने योग्य हैं। अच्छा लेखक वही होता है जो शब्द भी जानता है और अर्थ भी; और साथ ही यह भी जानता है कि किस शब्द का किस अवसर पर प्रयोग होना चाहिए। अतः लेखकों के लिए शब्दों और अर्थों का पूर्ण ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस प्रकार के ज्ञान के बिना भाषा की सजावट हो ही नहीं सकती।

भाषा के सम्बन्ध में ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि जहाँ तक हो सके, वह स्वाभाविक होनी चाहिए—उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आनी चाहिए। हम जिस प्रकार साधारण बोल-चाल में अपने भाव प्रकट करते हैं, उसी प्रकार अपनी रचनाओं में भी हमें अपने भाव प्रकट करने चाहिएँ। जो बात सीधी तरह से कही जा सकती हो, वह कभी घुमा-फिराकर या टेढ़े-मेढ़े ढंग से नहीं कही जानी चाहिए। जहाँ तक हमें इन बातों का ध्यान रहेगा, वहाँ तक तो हमारी भाषा अपनी प्रकृति के अनुकूल चलेगी। पर जहाँ हमने इन बातों का ध्यान छोड़ा, वहीं हमारी भाषा अपनी प्रकृति से दूर होने लगेगी। भाषा की प्रकृति की रक्षा के लिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि हम जो कुछ सोचें, अपने ढंग से सोचें—दूसरों के ढंग से न सोचें। प्रायः होता यही है कि हम विचार आदि तो एकत्र करते हैं दूसरी भाषाओं से, पर उन्हें अच्छी तरह हजम किए बिना ही—उन्हें अपनी प्रकृति के अनुकूल बनाये बिना ही—उनके मूल रूप में हम उन्हें अपनी रचनाओं में स्थान देने लगते हैं। इस अभ्यास का परिणाम यह होता है कि जब कभी हम अपने मौलिक विचार भी अपनी रचना में रखने लगते हैं, तब अपनी भाषा को प्रकृति से बहुत दूर जा पड़ते हैं। उस समय हमारी भाषा की कृत्रिमता चिल्ला-चिल्लाकर हमारी चुगली खाने लगती है। जो लोग अच्छे लेखक बनना चाहते हों, उन्हें ऐसा अवसर नहीं आने देना चाहिए। उन्हें अपनी शब्द-योजना और भाव-व्यंजन की प्रणाली सदा अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप रखनी चाहिए।

प्रायः लोग अपनी भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसे ग्राम्य तथा स्थानिक शब्दों और भाव-व्यंजन-प्रणालियों का प्रयोग करते हैं, जो या तो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध होती हैं, या देखने में भद्दी लगती हैं।

वे इस बात का भी विचार नहीं करते कि हमारे ये नये प्रयोग सबकी समझ में आने के योग्य और शिष्ट-सम्मत हैं या नहीं। इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन करके वे एक ओर तो भाषा का स्वरूप विकृत करते और दूसरी ओर स्वयं हास्यास्पद बनते हैं। अपनी ओर से तो वे एक नया मार्ग निकालना चाहते हैं, पर वस्तुतः वे पहले का ठीक बना हुआ मार्ग भी तोड़ने-फोड़ने लगते हैं। नये लेखकों को कभी ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्हें गुरुजनों के बनाये हुए सीधे मार्ग से ही चलना चाहिए—कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। नया मार्ग निकालने या पुराने मार्ग में सुधार करने का काम वयोवृद्ध, अनुभवी और प्रतिभाशाली लेखक ही कर सकते हैं; और यह काम उन्हीं के लिए छोड़ देना चाहिए।

मुहावरे, कहावतें और अलंकार

भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए मुहावरों, कहावतों और अलंकारों से भी सहायता ली जाती है। इन सभी का भाषा में विशेष और निजी स्थान होता है। कहावतों और अलंकारों की तो सब जगह उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, पर मुहावरेदारी और बोल-चाल की भाषा तथा शिष्ट-सम्मत प्रयोगों के ज्ञान की हर जगह आवश्यकता होती है। जो भाषा बे-मुहावरे होगी या शिष्ट-सम्मत न होगी, वह जरूर खटकेगी। परन्तु मुहावरों के उपयोग के लिए भी कुछ विशेष अवसर होते हैं। यदि भाषा सिर से पैर तक मुहावरों, कहावतों और अलंकारों से लदी हो तो वह भी भद्दी ही मानी जायगी। यदि इनमें से हर एक का उपयुक्त अवसर पर और उपयुक्त मात्रा में व्यवहार हो, तभी भाषा में सौन्दर्य आ सकता है।

भाषा सदा चलती हुई होनी चाहिए। साधारणतः बोल चाल में चलती भाषा वही कहलाती है, जिसमें ऐसे सीधे-सादे और सहज शब्द हों जो सब लोगों के नित्य के व्यवहार में आते हों। यह परिभाषा कुछ गलत तो नहीं है, परन्तु परिमित है—व्यापक नहीं है। चलती भाषा का इससे कुछ अधिक और गम्भीर आशय है। वास्तव में चलती भाषा वह कहलाती है, जिसमें शब्दों का प्रवाह बिलकुल ठीक तरह से चलता रहे—कहीं कोई खटक न हो, कोई रुकावट न हो। नित्य के व्यवहार की भाषा में थोड़े से

शब्द और बँधे हुए वाक्य रहते हैं; और उनके कहने या समझने में किसी कार की कठिनता नहीं होती। इसी लिए ऐसी भाषा चलती हुई कहलाती है। यदि ऊँचे दरजे की साहित्यिक भाषा में भी यही गुण हों, तो वह भी चलती हुई भाषा कही जायगी। वास्तव में भाषा की गति या रौ ही ठीक होनी चाहिए; फिर चाहे वह भाषा बालकों के बोलने और समझने की हो, चाहे बड़े-बड़े विद्वानों के लिखने-पढ़ने की।

जो भाषा हर तरह से चुस्त होने के सिवा सहज में समझी जा सके और पाठकों के मन पर प्रभाव डालकर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सके, वही रस-पूर्ण, ओजस्विनी और सजीव मानी जाती है। किसी भाषा में जान बड़ी रचना में आदि से अन्त तक सभी वाक्य तो ऐसे हो नहीं सकते, जिनमें समान रूप से रस और ओज भरा हो; पर हाँ, बीच-बीच में इस तरह का पुट अवश्य हो सकता है। इसके सिवा ध्यान रखने की एक बात और है। भाषा में एक खास चीज होती है, जिसे 'जोर' कहते हैं; और यह 'जोर' शब्दों के ठीक चुनाव से ही आ सकता है। हम प्रायः कहते हैं कि यह वाक्य बहुत जोरदार है। इसका मतलब यही होता है कि इसमें शब्दों का बहुत ठीक चुनाव हुआ है; इससे लेखक का आशय तो स्पष्ट होता ही है, पाठकों पर यथेष्ट प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं—(क) यह पुस्तक सबको पढ़नी चाहिए। (ख) यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति को पढ़नी चाहिए। (ग) यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य पढ़नी चाहिए। और (घ) यह पुस्तक किसी को बिना पढ़े नहीं रहना चाहिए। स्पष्ट है कि इन चारों वाक्यों में जोर क्रमशः बढ़ता गया है; और इसी लिए बढ़ता गया है कि इनमें शब्दों का चुनाव जोर बढ़ाने की ही दृष्टि से किया गया है। यह तो अलग अलग वाक्यों की बात हुई। इसके सिवा प्रत्येक वाक्य में भी प्रसंग के अनुसार यह 'जोर' उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि आरम्भ में तो जोर अधिक हो और अन्त में कम या बिलकुल न हो। जैसे—'यह बात आपके लिए अत्यन्त लज्जाजनक और अप्रतिष्ठा की तो है ही, अनुचित भी है।' में आरम्भ में तो बहुत जोर है, पर अन्त में आकर वह जोर बिलकुल कम हो गया है। भाषा का यही

'जोर' बढ़कर कहीं-कहीं उसकी 'जान' बन जाता है। और कभी कभी तो एक सामान्य शब्द भी वाक्य में ऐसी जान ले आता है कि यदि वह निकाल दिया जाय, तो वाक्य में दम ही नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, मीरा बाई के प्रसिद्ध पद 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।' में छोटा-सा शब्द 'तो' सारे पद की जान है। उर्दू का एक प्रसिद्ध शेर है—

जो पूछा यार से मैंने तुझे किससे मुहब्बत है।
तो हँसकर यों लगा कहने, तुम्हीं पर दम निकलता है॥

'हँसकर' इस शेर की जान है। यदि इसमें से वह निकाल दिया जाय, तो उसमें कुछ दम ही न रह जाय। अतः लिखते समय इस तत्व का भी ध्यान रखना चाहिए।

भाषा साधारणतः वही अच्छी समझी जाती है जिसमें सरल शब्दों का प्रयोग हो। केवल अपना पाण्डित्य दिखलाने के लिए जब बड़े-बड़े दुर्बोध या अप्रचलित शब्दों का व्यवहार किया जाता है, तब भाषा भद्दी हो जाती और खटकने लगती है। उदाहरण के रूप में एक वाक्य लीजिए जो एक भाषण के समय एक अच्छे विद्वान् के मुँह से सुना गया था—'यह विषय विशिष्ट विवेचन सापेक्ष है।' एक पुस्तक में देखा था—'पक्षी अपना नीड़ निर्माण करता है।' उसी पुस्तक में एक और जगह देखा था—'बहुत से ग्रंथ पाली भाषा में लिखित हुए।' ऐसे प्रयोगों में बहुत खटक होता है। 'प्रनृत्यमान मयूर' की जगह 'नाचता हुआ मोर', 'गड्डलिका-प्रवाह' की जगह 'भेड़िया-धसान', 'आद्योपान्त' की जगह 'आदि से अन्त तक', 'अग्रज' की जगह 'बड़े भाई', 'घ्राणेन्द्रिय' की जगह 'नाक', 'प्रस्तोता' की जगह 'प्रस्तावक' और 'आलुलायित केश' की जगह 'खुले हुए बाल' लिखना कहीं अच्छा है। औद्धत्य, औन्नत्य, याथार्थ्य, काठिन्य, ईषत् रक्ताभ, नातिस्थूल आदि भी इसी प्रकार के शब्द और पद हैं जिनका प्रयोग नहीं या कम होना चाहिए।

भाषा की गति ठीक रखने के लिए बहुत सी बातों की आवश्यकता होती है। शब्दों का ठीक चुनाव, व्याकरण के नियमों के अनुसार उनका ठीक क्रम, विभक्तियों और अव्ययों का ठीक प्रयोग, शब्दों के साथ उपयुक्त क्रियाओं का प्रयोग आदि बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो भाषा की गति ठीक रखने में

सहायक होती हैं। इन्हीं सब बातों के योग से भाषा मुहावरेदार होती है। शायद कुछ लोग यह समझते हैं कि मुहावरेदार भाषा वह कहलाती है, जिसमें मुहावरों की खूब भर-मार हो; पर ऐसा समझना भूल है। केवल मुहावरे कभी भाषा को मुहावरेदार नहीं बना सकते। यदि भाषा की गति ठीक न हो तो वह कभी चलती हुई या मुहावरेदार नहीं कहला सकती।

जहाँ तक हो सके, भाषा को जटिलता से बचाना चाहिए। जटिलता भाषा के बड़े दोषों में से है। जटिल शब्दों की अपेक्षा सरल शब्द और जटिल वाक्य-रचना की अपेक्षा सरल वाक्य-रचना ही अधिक पसन्द की भाषा में सरलता जाती है। यह ठीक है कि भावों की जटिलता, और वह भी विशेषतः अनुवाद-कार्य करते समय, हमारे अधिकार के बाहर होती है। परन्तु यह निश्चित है कि हम सरल और स्पष्ट वाक्य-रचना की सहायता से परम जटिल भावों की जटिलता और दुरूहता भी बहुत कुछ कम कर सकते हैं, और यदि उन्हें सबके समझने योग्य नहीं, तो कम-से-कम साधारण समझदारों के समझने योग्य तो अवश्य बना सकते हैं। ऐसे अवसरों पर यदि भावों के साथ-साथ भाषा और वाक्य-रचना भी जटिल हो तो जल्दी उसका अर्थ ही समझ में न आवेगा। परन्तु यदि हम सरल भाषा लिखने के अभ्यस्त हों और हमारे वाक्य स्पष्ट हों तो जटिल भाव और विषय भी बहुत-कुछ सरल और बोध-गम्य किये जा सकते हैं।

जब हम कठिन शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनकी सहायता से जटिल वाक्य रचकर जटिल भाव प्रकट करना चाहते हैं, तब हम मानों आप ही अपना उद्देश्य विफल करने पर उद्यत होते हैं। लिखते समय हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिए पाठकों को कोई विषय समझाना। जब हम इस उद्देश्य पर से दृष्टि हटाकर केवल अपना रचना-कौशल दिखलाने या पांडित्य प्रकट करने लगते हैं, तब हमारा मुख्य उद्देश्य आपसे-आप विफल होने लगता है और हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। हमारा वास्तविक कौशल या पांडित्य तो तभी प्रकट होगा, जब हमारी कृति पाठकों की समझ में आवेगी और वे उससे लाभ उठा सकेंगे। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि लिखनेवाले यह कैसे समझें कि हमारे पाठकों में कितनी योग्यता है। साधारण अवस्थाओं के लिए इसका उत्तर यही

है कि लेखक अपने पाठकों को भी अपने ही समान योग्यता रखनेवाले समझें। पर वास्तव में होता यह है कि लेखक प्रायः सुयोग्य और विद्वान् होते हैं, और साधारण पाठकों में अधिक योग्य तथा विद्वान् लेखकों की सभी बातें समझने की योग्यता नहीं होती। अतः हम जो कुछ लिखें, वह अपने पाठकों का पूरा-पूरा ध्यान रखकर लिखें। छोटे बच्चों, स्त्रियों, मध्यम वर्गों के विद्यार्थियों और वयस्क शिक्षितों तथा विद्वानों के लिए अलग-अलग प्रकार की भाषा उपयुक्त होती है। अतः यह नहीं होना चाहिए कि हम पुस्तक तो लिखें बालकों के लिए, पर भाषा ऐसी रक्खें जिसे शिक्षित वयस्क भी सहज में न समझ सकें। यही बात विवेच्य विषय के सम्बन्ध में भी है। हमें एक बार एक ऐसी पुस्तक की पांडुलिपि देखने को मिली थी, जिसमें कुछ बातें छोटे बच्चों के लिए, कुछ युवक विद्यार्थियों के लिए और कुछ उच्च कोटि के शिक्षितों के जानने योग्य थीं। ऐसा नहीं होना चाहिए। यदि हमारी रचना कुछ विशिष्ट वर्गों के लिए हो तो उसकी भाषा और विवेचन-प्रणाली भी उन विशिष्ट वर्गों के विचार से होनी चाहिए। और यदि जन-साधारण के लिए हो तो हमें सब बातें सहज और साधारण रूप में कहनी चाहिएँ।

व्याकरण का ज्ञान

लेखकों के लिए शब्दों के ज्ञान के अतिरिक्त व्याकरण का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है। व्याकरण हमें भाषा के बहुत से ऐसे नियम बतलाता है, जिनसे हम अनेक प्रकार की अशुद्धियों से बच सकते हैं। यह ठीक है कि कुछ लेखकों का भाषा पर इतना अधिक अधिकार होता है कि वे व्याकरण की बहुत-सी जटिलताओं का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही बहुत अच्छी और मुहावरेदार भाषा लिख सकते हैं। और कुछ ऐसे लेखक भी होते हैं जो व्याकरण का बहुत अधिक ज्ञान रखने पर भी प्रायः अशुद्ध भाषा लिखते हैं। इन दोनों प्रकार के लेखकों को हमें अपवाद रूप में ही मानना चाहिए। अधिकतर लेखकों के लिए प्रायः व्याकरण का कुछ-न-कुछ ज्ञान आवश्यक होता है। फिर भी यह निश्चित है कि भाषा अभ्यास से ही शुद्ध, सुन्दर और मनोहर होती है। यदि हम अपनी मातृभाषा में ही लिखते हों और उसका हमें अच्छा अभ्यास हो तो हमारे लिए व्याकरण के ज्ञान की उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु दूसरी भाषाएँ

है कि लेखक अपने पाठकों को भी अपने ही समान योग्यता रखनेवाले समझें। पर वास्तव में होता यह है कि लेखक प्रायः सुयोग्य और विद्वान् होते हैं, और साधारण पाठकों में अधिक योग्य तथा विद्वान् लेखकों की सभी बातें समझने की योग्यता नहीं होती। अतः हम जो कुछ लिखें, वह अपने पाठकों का पूरा-पूरा ध्यान रखकर लिखें। छोटे बच्चों, स्त्रियों, मध्यम वर्गों के विद्यार्थियों और वयस्क शिक्षितों तथा विद्वानों के लिए अलग-अलग प्रकार की भाषा उपयुक्त होती है। अतः यह नहीं होना चाहिए कि हम पुस्तक तो लिखें बालकों के लिए, पर भाषा ऐसी रक्खें जिसे शिक्षित वयस्क भी सहज में न समझ सकें। यही बात विवेच्य विषय के सम्बन्ध में भी है। हमें एक बार एक ऐसी पुस्तक की पांडुलिपि देखने को मिली थी, जिसमें कुछ बातें छोटे बच्चों के लिए, कुछ युवक विद्यार्थियों के लिए और कुछ उच्च कोटि के शिक्षितों के जानने योग्य थीं। ऐसा नहीं होना चाहिए। यदि हमारी रचना कुछ विशिष्ट वर्गों के लिए हो तो उसकी भाषा और विवेचन-प्रणाली भी उन विशिष्ट वर्गों के विचार से होनी चाहिए। और यदि जन-साधारण के लिए हो तो हमें सब बातें सहज और साधारण रूप में कहनी चाहिएँ।

लेखकों के लिए शब्दों के ज्ञान के अतिरिक्त व्याकरण का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है। व्याकरण हमें भाषा के बहुत से ऐसे नियम बतलाता है, जिनसे हम अनेक प्रकार की अशुद्धियों से बच सकते हैं। यह ठीक है कि कुछ लेखकों का भाषा पर इतना अधिक अधिकार होता है कि वे व्याकरण की बहुत-सी जटिलताओं का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही बहुत अच्छी और मुहावरेदार भाषा लिख सकते हैं। और कुछ ऐसे लेखक भी होते हैं जो व्याकरण का बहुत अधिक ज्ञान रखने पर भी प्रायः अशुद्ध भाषा लिखते हैं। इन दोनों प्रकार के लेखकों को हमें अपवाद रूप में ही मानना चाहिए। अधिकतर लेखकों के लिए प्रायः व्याकरण का कुछ-न-कुछ ज्ञान आवश्यक होता है। फिर भी यह निश्चित है कि भाषा अभ्यास से ही शुद्ध, सुन्दर और मनोहर होती है। यदि हम अपनी मातृभाषा में ही लिखते हों और उसका हमें अच्छा अभ्यास हो तो हमारे लिए व्याकरण के ज्ञान की उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु दूसरी भाषाएँ

व्याकरण का ज्ञान

सीखने और लिखने के कामों में व्याकरण बहुत अधिक उपयोगी होता है। व्याकरण भी एक शास्त्र है, और शास्त्र का ज्ञान सदा कुछ-न-कुछ उपयोगी ही होता है। अतः अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार होने पर भी हमें उसके व्याकरण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

यह ठीक है कि प्रायः अच्छे और बड़े लेखक व्याकरण के नियमों आदि के झगड़े में नहीं पड़ते। व्याकरण यों भी बहुत रूखा विषय है। युवावस्था में प्रायः लोगों को उसका अध्ययन रुचिकर नहीं होता, और वयस्क होने पर प्रायः लोग उसकी अधिकतर बातें भूल जाते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि अच्छी भाषा सीखने के लिए अच्छी भाषा लिखनेवाले लेखकों के ग्रंथों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए; और अपने कानों को अच्छी भाषा का इतना अधिक अभ्यस्त कर लेना चाहिए कि दूषित प्रयोगों की खटक तुरन्त मालूम हो जाय। उस अवस्था में हम अनायास ही शुद्ध, चलती हुई और मुहावरेदार भाषा लिख सकेंगे; और दूसरों को भी ऐसी भाषा लिखने की ओर प्रवृत्त कर सकेंगे।

लेखकों के लिए अध्ययन की आवश्यकता का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हम उसी से सम्बन्ध रखनेवाली एक और आवश्यकता का भी उल्लेख करना चाहते हैं। वह है अनेक भाषाओं का ज्ञान। जो लोग अच्छे लेखक बनना चाहते हों, उन्हें अपनी भाषा के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं का भी ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। दूसरी भाषाओं के अध्ययन से हमें अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। हम विविध प्रान्तों और देशों के उच्चकोटि के लेखकों के विचारों से तो परिचित होते ही हैं, उनकी शैलियों और भाव-व्यंजन की प्रणालियों का भी हमें बहुत-कुछ ज्ञान होता है। और ये सब बातें समय-समय पर हमारे बहुत काम आती हैं। हम अपने बहुत-से सन्देह भी दूर कर सकते हैं और किसी विषय में अपने स्थिर किये हुए मत में आवश्यकतानुसार संशोधन या परिवर्त्तन या उसका पोषण भी कर सकते हैं। अतः अच्छे लेखकों को कभी किसी भाषा से द्वेष नहीं करना चाहिए; और जहाँ तक हो सके, अधिक-से-अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसी ज्ञातव्य भाषाओं में स्वयं भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाएँ भी हैं और

पूर्व तथा पश्चिम की अनेक नई और पुरानी भाषाएँ भी।

अन्त में हम यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि हमारी रचना सब प्रकार से सुष्ठु, निर्मल, प्रसादपूर्ण और शुभ फल देनेवाली होनी चाहिए। हमारी रचना का उद्देश्य सदा पवित्र होना चाहिए। वह सदा देश, समाज और धर्म (व्यापक अर्थ में) के लिए हितकर होनी चाहिए। साहित्यिक रचना के प्रति हमारा सदा पूज्य भाव होना चाहिए। वह किसी देव-मन्दिर या तीर्थ-स्थान से कम पवित्र नहीं समझी जानी चाहिए। विद्या और भाषा को सदा माता के समान पूज्य मानना चाहिए; तभी हम उसके दुरुपयोग से बच सकेंगे। यदि उनके प्रति हमारा पूज्य बुद्धि न होगी तो हमारी लेखनी अनर्थों और पापों की ओर प्रवृत्त होने लगेगी। निम्न कोटि के मनोविनोद, खेलवाड़ या किसी के अपकार आदि की दृष्टि से अथवा केवल व्यक्तिगत राग-द्वेष की तुष्टि के लिए कभी कोई रचना नहीं होनी चाहिए। यदि वह मनो-विनोद या खेलवाड़ के लिए ही हो, तो भी उसका स्वरूप ऐसा निर्मल और निर्विकार होना चाहिए कि लोगों पर सदा उसका शुभ और सुखद प्रभाव पड़े, कभी कोई अशुभ, दुःखद, अनिष्ट या अवांछनीय प्रभाव न पड़े। हमारी रचना एक ऐसे मन्दिर के रूप में होनी चाहिए जिसकी ईंटें शब्द हों, जिसके कमरे और दालान प्रकरण आदि हों, जिसके खंड या मंजिलें उस रचना के भाग आदि हों, और जिसमें मूर्ति अथवा आत्मा के रूप में वह विशुद्ध ध्येय, वह पवित्र उद्देश्य वर्तमान हो, जो नेत्रों के लिए सुखद, मन के लिए मोदकारी, चरित्र या आचार के लिए उत्कर्ष-साधक और मानव-समाज के लिए शुभ फलप्रद हो—जिससे सबका और सब ओर मंगल ही मंगल हो।

---

(३)

हिन्दी की प्रकृति

प्रकृति का स्वरूप—व्याकरण और प्रकृति में भेद—प्रकृति के कुछ आधार—भाषा की प्रकृति—भाषाओं की विशेषताएँ—प्रकृति और विभक्तियाँ—प्रकृति और प्रान्त-भेद—प्रकृति और भाषा-शुद्धि।

आपने बहुत से फूल देखे होंगे—और बहुतेरे सूँघे भी होंगे। यदि आपसे उन फूलों में से किसी के रूप-रंग या आकार-प्रकार आदि का वर्णन करने के लिए कहा जाय, तो आप बतला भी सकेंगे कि वह बड़ा होता है या छोटा, सफेद होता है या लाल, गोल होता है या लम्बोतरा, आदि। इस प्रकार उस फूल का वर्णन करने में आप बहुत-कुछ समर्थ होंगे। परन्तु यदि आपसे उस फूल की गन्ध का वर्णन करने के लिए कहा जाय, तो? बहुत सम्भव है कि आप चक्कर में पड़ जायँ और उसकी गन्ध का ठीक-ठीक वर्णन न कर सकें। कारण यह कि फूल तो मूर्त्त वस्तु है, परन्तु उसकी गन्ध अमूर्त्त है। मूर्त्त वस्तु का वर्णन करना बहुत-कुछ सुगम होता है; परन्तु अमूर्त्त वस्तु के वर्णन के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसका ठीक वर्णन बहुत ही कठिन होता है।

प्रकृति का स्वरूप

भाषा भी जब तक बोली जाती है, तब तक बिलकुल अमूर्त्त रहती है। पर लिपि की सहायता से उसे बहुत कुछ मूर्त्त रूप मिल जाता है। भाषा-सम्बन्धी जो वर्णन या विवेचन देखने में आते हैं, वे सब उसके इसी 'बहुत कुछ मूर्त्त रूप' के आधार पर होते हैं। चाहे व्याकरण हो, चाहे अलंकार-शास्त्र हो, चाहे भाषा-विज्ञान हो, सभी भाषा के इस 'बहुत कुछ मूर्त्त रूप' पर अवलम्बित हैं। जिन दिनों भाषा केवल बोली जाती थी और लिखी-पढ़ी नहीं जाती थी, उन दिनों उसके उक्त प्रकार के विवेचन भी नहीं, अथवा नहीं के समान, होते थे। आप कह सकते हैं कि हम जबानी सुनकर भी भाषा के उक्त प्रकार के विवेचन कर सकते हैं। पर वह इसी कारण कि आप

आदमी हैं और भाषा के मूर्त्त रूप से परिचित हैं। जिन दिनों आदमी लिखे-पढ़े नहीं होते थे, उन दिनों इस प्रकार के विवेचन भी नहीं होते थे। जब आदमी लिखने और पढ़ने लगे, तब वे धीरे-धीरे इस प्रकार के विवेचन भी करने लगे। तात्पर्य यह कि जब लिपि ने भाषा को 'बहुत कुछ मूर्त रूप' दे दिया, तब जाकर वह विवेच्य हुई। तभी से भाषा-सम्बन्धी नियम भी बनने लगे और अलंकरण भी; और उसके गुण-दोषों तथा जाति-भेदों का भी विवेचन होने लगा।

फिर भी एक बात रह ही गई। आप फूल का तो वर्णन कर सके, पर उसकी गन्ध का वर्णन रह ही गया। स्थूल या दृश्य शरीर का वर्णन तो हो गया, पर सूक्ष्म या अदृश्य आत्मा रह ही गई। जो भाषा हम और आप नित्य लिखते-पढ़ते और बोलते-चालते हैं, वह फूल है—स्थूल और दृश्य शरीर है। परन्तु उसकी प्रकृति उस श्रेणी की वस्तु है, जिस श्रेणी की फूलों की गन्ध, प्राणियों का जीवन या आत्मा अथवा अन्यान्य वस्तुओं की प्रकृति है। भाषा का विवेचन तो सहज है; परन्तु उसकी प्रकृति का वर्णन या निर्देश हमारी शक्ति के बहुत-कुछ बाहर की बात है। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आ ही जाते हैं, जब मनुष्य असाध्य-साधन में भी प्रवृत्त होता है। ईश्वर और आत्मा हों या न हों, हमसे उनसे मतलब ? पर नहीं, हम जबरदस्ती उनके पीछे पड़ते हैं, अपनी ओर से उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं; और किसी न किसी प्रकार उन्हें प्रत्यक्ष अथवा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह सब लोगों का काम नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी ही इसे हाथ में लेते हैं। धीरे-धीरे अन्धकार दूर होने लगता है और प्रकाश की कुछ रेखाएँ दिखाई देने लगती हैं। प्रकाश की उन्हीं अस्पष्ट या धुँधली रेखाओं के सहारे कुछ विशेष समर्थ लोग और आगे बढ़कर उसका साक्षात्कार भी करने लगते हैं। और तब दूसरों को उसके सम्बन्ध की मुख्य-मुख्य बातें बतलाकर लोक-कल्याण का भी और ज्ञान-वृद्धि का भी मार्ग सुगम करते हैं।

हमारी और आपकी समझ में किसी फूल की गन्ध का ठीक-ठीक वर्णन करना प्रायः असम्भव है। परन्तु पुष्प-विज्ञान के पंडितों के लिए यह कार्य हम लोगों की अपेक्षा बहुत-कुछ सुकर है। उन्होंने गन्धों के प्रकार, भेद और नाम निश्चित कर लिये हैं; और न जाने कितनी और बातें सोच-समझ रक्खी

है। कोई नया फूल देखकर पुष्प-विज्ञान का एक ज्ञाता दूसरे को बिना वह फूल सुँघाये ही उसकी गन्ध की बहुत-कुछ ठीक कल्पना करा सकता है। परन्तु वही बात यदि हमारे-आपके सामने कही जाय तो हम लोग कुछ भी न समझ सकेंगे। यही बात बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों के ईश्वर तथा आत्मा के विवेचनों के सम्बन्ध में भी है।

परन्तु ईश्वर, आत्मा या पुष्प-गन्ध के सम्बन्ध में जो बातें आज कुछ खास लोगों को मालूम हैं, वे सब एक ही दिन की मेहनत की करामात नहीं हैं। ईश्वर अथवा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने में न जाने कितने युग बीते होंगे और फूलों की गन्ध के विवेचन में न जाने कितने जीवन निछावर हुए होंगे। आज इस सम्बन्ध में जितना काम हुआ है और जितना ज्ञान संचित हुआ है, आरम्भ में शायद लोगों को उसका अणु-परमाणु भी न मिला होगा। पर इन्हें जो कुछ मिला था, उसे बादवालों ने विकसित और पल्लवित किया। बस, धीरे-धीरे ज्ञान की एक राशि प्रस्तुत हो गई।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अथवा पदार्थ की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की भी कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है। और जिस प्रकार स्थान और जल-वायु या देश-काल आदि का मनुष्यों के वर्गों अथवा जातियों आदि की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार बोलनेवालों की प्रकृति का उनकी भाषा पर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भाषा की प्रकृति पर उसके बोलनेवालों की प्रकृति की बहुत-कुछ छाया रहती है। यह प्रकृति उसके व्याकरण, भाव-व्यंजन की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों या बनावटों आदि में निहित रहती है। इस प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान उन्हीं को होता है, जो उस भाषा की उक्त सभी बातों का बहुत ही सावधानता-पूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते और उसकी हर एक बात पर पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। भाषा की प्रकृति या वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही 'जबानदानी' कहलाता है। यह जबान-दानी और कुछ नहीं, भाषा के नियमों, प्रवृत्तियों और मूल तत्त्वों का पूरा ज्ञान ही है। पर यह ज्ञान इसलिए बहुत ही थोड़े आदमियों को होता है कि 'वाणी' बहुत ही पवित्र नारी के समान है—वह अपने अंग केवल अधिकारी को दिखाती

है, हर किसी को नहीं। जो लोग 'वाणी' या भाषा के सब अंगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें पहले अधिकारी बनना चाहिए। मनुष्यों अथवा पदार्थों की प्रकृति का तो बहुत-कुछ अनुशीलन और विवेचन हुआ है और होता रहता है, पर भाषा की प्रकृति की ओर कदाचित् बहुत ही कम लोगों का ध्यान जाता है। इस प्रकृति का ठीक-ठीक स्वरूप जानने के लिए ऐसे अनेक अधिकारी विद्वानों की आवश्यकता है।

व्याकरण और प्रकृति में भेद

आप पूछेंगे कि किसी भाषा का व्याकरण यदि उसकी प्रकृति[1] का विवेचन नहीं है, तो और क्या है? परन्तु यह बात ठीक नहीं है। व्याकरण भाषा की रचना या संघटन का परिचायक है, प्रकृति का नहीं। जैसे वास्तु-शास्त्र मकान बनाने के नियम या ढंग बताता है, उसकी प्रकृति का विवेचन नहीं करता, अथवा शरीर-विज्ञान अंगों की रचना आदि बताता है, इसकी आत्मा, प्रकृति या स्वभाव का विवेचन नहीं करता, उसी प्रकार व्याकरण भी भाषा का निर्माण बताता है, प्रकृति नहीं। प्रत्येक भाषा की प्रकृति उस भाषा के व्याकरण से बहुत कुछ भिन्न और स्वतंत्र होती है। व्याकरण तो उन्हीं बातों का विचार करता है जो उसकी प्रकृति की क्रियात्मक अभिव्यक्ति के कारण हमारे सामने आती हैं। हाँ, व्याकरण के नियमों और तथ्यों का विचार करके हम उस प्रकृति का कुछ-कुछ परिचय पा सकते हैं। भाषा-विज्ञान में और-और बातों के साथ भाषाओं की प्रकृति का भी कुछ विवेचन अवश्य होता है, और उसका तुलनात्मक अध्ययन भी हमें किसी भाषा की प्रकृति से परिचित करा सकता है। फिर भी भाषा की प्रकृति है बिलकुल अलग चीज, और उसका विचार या विवेचन भी बिलकुल स्वतंत्र रूप से होना चाहिए।

---

१. स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उर्दू और हिन्दी के अन्तर का विवेचन करते हुए लिखा है—'इसी प्रकार (उर्दू वाले) यह न कहकर कि—'उसने एक नौकर से पूछा।' कहते हैं—'एक नौकर से उसने पूछा।' यह है भाषा की प्रकृति की परख।' यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात बिलकुल साधारण कथन के सम्बन्ध में कही गई है, ऐसे कथन के सम्बन्ध में नहीं, जिसमें किसी विशेष शब्द या पद पर जोर दिया जाता है।

हम नहीं कह सकते कि अन्यान्य उन्नत भाषाओं में उनकी प्रकृति के विवेचन का कुछ प्रयत्न हुआ है या नहीं; और यदि हुआ है तो कैसा और कितना हुआ है। पर हिन्दी में तो कहीं नहीं हुआ। जो काम आज तक किसी ने न किया हो, उसका श्रीगणेश सुविज्ञ विद्वानों और विचारशीलों को ही करना चाहिए—हम सरीखे अल्पज्ञों को नहीं। परन्तु हिन्दी के भाषा-सम्बन्धी गुण-दोषों पर पचीसों वर्षों तक निरन्तर विचार करते रहने पर हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचे हैं कि प्रत्येक भाषा की एक स्वतन्त्र प्रकृति होती है। उस प्रकृति का स्वरूप हम चाहे पहचान सकें, चाहे न पहचान सकें, परन्तु वह होती अवश्य है; और कभी-कभी हमें अपनी झलक दिखा जाती है। न तो हमें अभी तक उस प्रकृति की कल्पना ही हुई है और न हमने अभी उसकी ओर ध्यान ही दिया है। ईश्वर का अस्तित्व माननेवाले कहते हैं कि वह समय-समय पर मनुष्यों के सामने किसी-न-किसी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है। उसी अभिव्यक्ति के सामूहिक ज्ञान ने क्रमशः हमारे मन में ईश्वर की धारणा उत्पन्न कर दी है। आज-कल के वैज्ञानिक कहते हैं कि मंगल ग्रह में कुछ ऐसे प्राणी बसते हैं जो बुद्धि में हमसे बहुत बढ़े हुए हैं और जो बहुत दिनों से संकेत द्वारा हमसे बात-चीत करना चाहते हैं। मंगल ग्रह से तो इस पृथ्वी के निवासी बहुत दिनों से परिचित हैं; और यहाँ के कुछ लोग बहुत दिनों से मंगल-सम्बन्धी बातों का अनुशीलन भी कर रहे हैं। यहाँ अनुशीलन करते समय कभी-कभी उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ से हमसे कोई बातें करना चाहता है। हो सकता है कि इस क्षेत्र में निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर कुछ सफलता भी हो जाय; और इस पृथ्वी के निवासी मंगल ग्रह के निवासियों से किसी प्रकार बात-चीत भी कर सकें। कुछ इसी से मिलती-जुलती बात भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में भी है।

भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी भावना बिलकुल काल्पनिक या निराधार नहीं है। उसका कुछ ऐतिहासिक और पुष्ट आधार भी है। यह तो सभी लोग जानते हैं कि बहुत दिन पहले उत्तरी भारत में मुख्य रूप से दो भाषाएँ प्रचलित थीं—शौरसेनी और मागधी। आज-कल की पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी है और पूर्वी या बिहारी, हिन्दी, बँगला-

प्रकृति के कुछ आधार

उड़िया आदि भाषाएँ मागधी से निकली हुई हैं। शौरसेनी और मागधी में बहुत-कुछ प्रकृतिगत भेद था; इसी लिए पहले कुछ विद्वान् उन्हें 'अंतरंग' और 'बहिरंग' भाषा कहा करते थे। हमारे यहाँ की भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कई पुस्तकों में भी यही नाम आये हैं। पर बाद की नई खोजों से पता चला कि ये वास्तव में किसी एक भाषा के दो भिन्न स्वरूप नहीं हैं, बल्कि आर्यों की ऐसी दो भिन्न शाखाओं की भाषाएँ हैं जो अलग-अलग समय में आकर इस देश में बसी थीं। उन दोनों शाखाओं के आचार-विचार आदि में बहुत-कुछ अन्तर था; और इसी लिए दोनों की भाषाओं में प्रकृतिगत भेद था। यह ठीक है कि इन दोनों शाखाओं के लोगों ने समान रूप से प्राचीन हिन्दी साहित्य की रचना की थी; और इसी लिए हो सकता है कि पुरानी हिन्दी में दोनों प्रकृतियाँ मिलती हों। हिन्दी के आधुनिक साहित्य के संबंध में भी बहुत कुछ यही बात है। फिर भी अब तो हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है—आस-पास की अन्यान्य भाषाओं से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है; और इसी लिए उसकी प्रकृति भी स्वतन्त्र है। हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे इस विषय पर भी कुछ विचार करें और हिन्दी की प्रकृति पहचानने और उसका स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न करें[१]।

बिलकुल आरम्भिक अवस्था में जब किसी चीज का वर्णन किया जाता है, तब प्रायः समानताओं या सदृश वस्तुओं से ही काम लिया जाता है। यदि किसी लड़के ने गौ तो देखी हो, पर घोड़ा या गधा न देखा हो, तो उसे बतलाया जाता है कि वह भी गौ की ही तरह चार पैरोंवाला पशु होता है। जब हमें कोई मित्र कहीं से लाकर कोई नया फल देते हैं और हमारे चखने पर उसका स्वाद पूछते हैं, तब हम कोई ऐसा फल ढूँढ़ निकालना चाहते हैं जिसका स्वाद उस नये फल के स्वाद से मिलता-जुलता हो। ऐसी अवस्थाओं में

---

१. मेरे आदरणीय मित्र पं० बाबूराव जी पराड़कर ने, इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के समय ही, इसकी प्रस्तावना लिखते हुए, इस विषय पर विचार करने और कुछ लिखने का वचन दिया था। पर खेद है कि समय के अभाव और अस्वस्थता के कारण वे इस विषय पर अभी तक कुछ न लिख सके।

सादृश्यवाला तत्त्व ही हमारा सबसे बड़ा सहायक होता है। हम भी एक बिलकुल नये, अछूते और अनजान क्षेत्र में उतर रहे हैं, अतः हमें भी इसी सादृश्य या तुलना का सहारा लेना पड़ेगा। हमें देखना होगा कि हमारी हिन्दी किन बातों में आस-पास की किन भाषाओं से कहाँ तक मिलती है और किन बातों में कहाँ अलग है। जो बातें आस-पास की भाषाओं में समान रूप से मिलें, उनके सम्बन्ध में हमें यह मानना पड़ेगा कि वे उन भाषाओं की सर्व-सामान्य प्रकृति की सूचक हैं। और इस प्रकार के तुलनात्मक विचार से जो बातें हमें अन्य भाषाओं से भिन्न जान पड़ेंगी, उन्हें हम हिन्दी की विशेष प्रकृति के अन्तर्गत मानेंगे। जब कुछ दिन तक बड़े-बड़े विद्वान् इसी प्रकार का अध्ययन और विचार करते रहेंगे, तब किसी दिन हिन्दी की सम्पूर्ण प्रकृति भी लोगों के सामने स्पष्ट रूप में आ जायगी। यह प्रकृति और कुछ नहीं, हमारी भाषा के वे मूल तत्त्व हैं, जिनके आधार पर वह खड़ी हुई है, चल रही है और आगे चलकर विकसित तथा उन्नत होगी।

भाषा की प्रकृति भी बहुत-कुछ मनुष्य की प्रकृति के समान होती है। मनुष्य वही चीज खा और पचा सकता है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। यदि वह प्रकृति-विरुद्ध चीजें खाने और पचाने का प्रयत्न करे तो यह निश्चय है कि या तो उसे सफलता ही न होगी, या वह बीमार पड़ जायगा। भाषा भी वही तत्त्व ग्रहण कर सकती है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। उसकी प्रकृति के विरुद्ध जो तत्त्व होंगे, वे यदि जबरदस्ती उसके शरीर के अन्तर्भुक्त किये जायँगे तो उसका स्वरूप या शरीर विकृत हो जायगा। जिस प्रकार मनुष्य को दूसरों से बहुत-कुछ सीखने-समझने और लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भाषा को भी आवश्यकता होती है। जो जातियाँ दूसरों के आचार-विचार और सभ्यता तथा संस्कृति की बहुत अधिक बातें बिना समझे-बूझे और बिना अपने स्वरूप का ध्यान रक्खे ग्रहण करती चलती हैं, वे बहुत जल्दी अपना स्वरूप ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र अस्तित्व तक गँवा बैठती हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी है। हमें भी भाषा के क्षेत्र में दूसरों से सभी अच्छी बातें ग्रहण तो करनी चाहिएँ, परन्तु आँखें बन्द करके नहीं, बल्कि प्रकृति सम्बन्धी इस तत्त्व का ध्यान रखकर।

भाषा का यह प्रकृति-तत्त्व ही उसकी जान होता है। यह तत्त्व प्राकृतिक होता है, कृत्रिम नहीं हो सकता। यही कारण है कि मेज-कुरसियों की तरह भाषा कभी गढ़ी नहीं जा सकती। पाश्चात्य देशों के अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने समय-समय पर कई बार ऐसी भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया जो सारे संसार में नहीं तो कम-से-कम उसके बहुत बड़े भाग में बोली और लिखी-पढ़ी जा सके। ऐसी भाषाओं में एस्पिरेंटो (Esperanto) नामक भाषा बहुत प्रसिद्ध है, जिसके प्रचार के लिए भगीरथ प्रयत्न किये गये, फिर भी जो चल न सकी। एस्पिरेंटो से भी पहिले वोलापुक (Volapuk) नाम की एक भाषा गढ़ी गई थी, और इन दोनों के बाद रूस में ईडियान न्यूट्रल (Idion Neutral) नाम की भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया गया था। ये भाषाएँ इसी लिए नहीं चल सकीं कि ये प्राकृतिक नहीं थीं—इनमें जान नहीं थी। आज-कल जो लोग हिन्दी और उर्दू के मिश्रण से 'हिन्दुस्तानी' नाम की नई भाषा गढ़ना चाहते हैं, उन्हें भी इसी कारण सफलता नहीं हो रही है और न हो सकेगी। उर्दू या हिन्दी में से किसी एक को अपनी प्रकृति या प्राण छोड़कर दूसरी में लीन होना पड़ेगा, तभी एक भाषा होगी। नहीं तो दोनो स्वतन्त्र रहेंगी और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर फलें-फूलेंगी। उर्दू ने अरबी-फारसी के शब्द ही नहीं ग्रहण किये हैं, बल्कि उनकी प्रकृतियों के कुछ अंश भी ग्रहण किये हैं, और हिन्दी की टहनी पर उन प्रकृतियों के मानो पैवन्द लगाये हैं। इसी लिए वह कलमी आमों की तरह कलमी भाषा बन रही है।

हम पहले कह चुके हैं कि भाषा की प्रकृति उसके शब्दों की बनावट, भाव व्यक्त करने की प्रणालियों, क्रियाओं और मुहावरों से प्रकट होती है। जो लोग इन सब बातों का सदा पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं, भाषा की प्रकृति वही समझ सकते हैं कि कौन-सी बात हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल। उनके कान इतने अभ्यस्त होते हैं कि प्रकृति-विरुद्ध छोटी-से-छोटी बात भी उन्हें खटक जाती है। परन्तु जो लोग भाषा के पारखी नहीं होते, वे आँखें बन्द करके दुनिया भर की उलूल-जलूल बातें अपनी भाषा में भरने का प्रयत्न करते हैं और इसी प्रकार के प्रयत्नों से अपनी 'प्रगतिशीलता' सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को स्वप्न

में भी इस बात का भान नहीं होता कि हम अपनी भाषा का स्वरूप कितना अधिक विकृत करते जा रहे हैं और किस प्रकार उसका गला घोंट रहे हैं। ईश्वर ऐसी प्रगति से हमारी रक्षा करे।

प्रायः कहा जाता है कि एक भाषा में लिखी हुई किसी पुस्तक या लेख का दूसरी भाषा में ठीक-ठीक अनुवाद नहीं हो सकता। यह बात है भी एक हद तक ठीक। परन्तु इसका मुख्य कारण क्या है? कारण है वही—भाषा की प्रकृति। एक ही देश में बोली जानेवाली अथवा एक ही उद्गम से निकलनेवाली भिन्न-भिन्न भाषाओं की प्रकृतियों में कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जो उन सबमें प्रायः समान रूप से पाये जाते हैं। जहाँ तक उन तत्त्वों में समानता होती है, वहाँ तक तो उनके पारस्परिक अनुवाद सहज में हो जाते हैं। पर जहाँ उन तत्त्वों में भेद होते हैं वहीं ठीक अनुवाद करना कठिन होता है। बँगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भारतीय भाषाएँ एक ही जननी संस्कृत की सन्तान हैं (बल्कि हिन्दी तो संस्कृत की प्रत्यक्ष परम्परा में ही है; और इसी लिए इनमें बहुत-से समान तत्त्व भी हैं। अब फारसी भाषा लीजिए। वह भी आर्य परिवार की ही भाषा है; इसलिए उसके भी बहुत-से तत्त्व इससे मिलते-जुलते हैं। युरोप की बहुत-सी भाषाएँ भी हैं तो आर्य परिवार की ही, फिर भी वे बहुत दिनों से हमसे अलग हो चुकी हैं और बहुत दूर जा पड़ी हैं; और देश-काल आदि के प्रभाव के कारण उनके बहुत-से तत्त्व भारतीय आर्य-भाषाओं के तत्त्वों से बिलकुल भिन्न हो गये हैं। और अरबी या चीनी-जापानी आदि भाषाएँ तो हैं ही अन्य परिवारों की। यदि उनसे हमारी भाषाओं में बहुत अधिक तात्त्विक भेद हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

जहाँ तक मनुष्य के विचारों का सम्बन्ध है, वहाँ तक बहुत सी बातें सब भाषाओं में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—संज्ञाएँ, क्रियाएँ; विशेषण और क्रिया-विशेषण, भाषा-रूपी शरीर के अंग होने के कारण, प्रायः सभी भाषाओं में होते हैं। फिर भी उनके सूचक शब्दों के रूप या बनावट और उनमें होनेवाले विकार या परिवर्त्तन अलग-अलग प्रकार के होते हैं। वही रूप और प्रकार आदि भाषा की प्रकृति के अंग होते हैं। अब भाव व्यक्त

करने की प्रणालियाँ लीजिए। उनमें से कुछ प्रणालियाँ शरीर की बनावट या गठन के समान सब में समान होती हैं, पर अधिकांश एक दूसरी से भिन्न होती हैं; और मुहावरे तो प्रायः सभी के बिलकुल स्वतन्त्र होते हैं। जिस सीमा तक एक भाषा के तत्त्व दूसरी भाषा के तत्त्वों से मिलते-जुलते हैं, उस सीमा तक तो उनका पारस्परिक अनुवाद ठीक होता है। उससे आगे जहाँ अ-समानताएँ या विषमताएँ होती हैं, वहीं ठीक-ठीक अनुवाद भी असंभव होता है। यही कारण है कि एक भाषा की भाव-व्यंजन-प्रणालियाँ दूसरी भाषाओं में नहीं खपतीं; और एक भाषा के मुहावरों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकता। इस संबंध में अरब देश का एक प्रसिद्ध आख्यान है। अरबी के सुप्रसिद्ध और परम प्रामाणिक शब्द-कोश का कर्त्ता वस्तुतः अरब देश का निवासी नहीं, बल्कि अजम का निवासी और ईरानी था। उसने बहुत दिनों तक अरब के भिन्न-भिन्न भागों में रहकर अरबी भाषा का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था; और तब उक्त कोश तैयार किया था। वह अरब में ही बस गया था और उसने एक अरबी स्त्री से, अपने आपको अरब बतलाकर, विवाह कर लिया था। एक दिन उसने अपनी लौंडी से कहा—उतिम् उस्सिराज (अर्थात्—दीपक बुझा दो)। पर यह प्रयोग विशुद्ध अरबी का नहीं था, बल्कि उसकी मातृभाषा अजमी या ईरानी की छाया से कलुषित था। वाक्य का शुद्ध रूप, अरबी भाषा की प्रकृति के अनुसार, होना चाहिए था—तुकुतुली उस्सि-राजा। उसकी स्त्री ने भाषा के इसी प्रकृति-विरुद्ध प्रयोग से समझ लिया कि मेरा पति अरब नहीं है। और इसी लिए उसने दूसरे दिन न्यायालय में अपने पति पर यह कहकर, नालिश कर दी कि इसने गैर-अरब होकर मेरे साथ धोखे से विवाह कर लिया है। भाषा की प्रकृति ऐसे ही अवसरों पर अपना स्वरूप व्यक्त करती है।

भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों में जब परस्पर सम्पर्क स्थापित होता है, तब उनमें भाषा-सम्बन्धी आदान-प्रदान भी अनिवार्य हो जाता है। यवनों, शकों, हूणों आदि की भाषाओं के न जाने कितने शब्द हम हजम कर गये। आज उन्हें ढूँढ निकालना भी हमारे लिए प्रायः असम्भव ही है। परन्तु यह असम्भावना क्यों और कैसे उत्पन्न हुई? भाषा की उसी प्रकृति के कारण,

जो मनुष्य की प्रकृति के बहुत-कुछ समान होती है। हमने जो चीजें अपने काम की देखीं, वे अपना लीं; और वह भी इस तरह कि उन्हें अपनी प्रकृति के ठीक अनुरूप बना लिया—उन्हें पूरी तरह से हजम कर लिया। हमने उन्हें इस प्रकार आत्मसात् कर लिया कि आज हम प्रयत्न करने पर भी सहसा उनका पता नहीं लगा सकते।

इधर बहुत दिनों से फारस, अरब आदि देशों के निवासियों के साथ हमारा सम्बन्ध रहा है। वे लोग यहाँ आकर अनेक रूपों में सारे देश में बस, बढ़ और फैल गये। फल यह हुआ कि देश के सभी भागों में फारसी-अरबी आदि के कुछ-न-कुछ शब्द प्रचलित हो गये, परन्तु सब प्रान्तीय भाषाओं में न तो समान रूप से शब्द ही लिये गये, न उनके अर्थ ही। अलग-अलग प्रान्तीय भाषाओं ने अलग-अलग तरह से और अलग-अलग तरह के शब्द लिये और अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उन्हें हजम किया और उनके अर्थ रक्खे। स्वयं हमारे यहाँ के 'टङ्क' से बना हुआ 'टका' इस प्रान्त में दो पैसे को कहते हैं, पर बंगाल में 'टाका' रुपये को कहते हैं; और बहुत हाल तक पंजाब में उसका रूप 'टगा' दो पैसे अर्थ में बोला जाता था। जब दो दल आपस में लड़ने के बाद मेल करके कुछ शर्तों पर झगड़ा खतम करते हैं तब वे शर्तें प्रायः लिखी जाती हैं। उसे 'राजीनामा' कहते हैं। पर मराठी में यह 'राजीनामा' शब्द उस चीज के लिए प्रचलित है जिसे हम 'इस्तीफा' या 'त्यागपत्र' कहते हैं। वस्तुतः इस अर्थ में यह 'रजानामा' का बिगड़ा हुआ रूप है, जो 'राजीनामा' बन गया है। फारसी का एक शब्द है 'गुजश्तः' जिसका विशुद्ध अर्थ है—बीता या गुजरा हुआ, अर्थात् गत या व्यतीत। मराठीवालों ने उसका रूप बनाया 'गुदस्ता' और उसका अर्थ केवल गत या व्यतीत नहीं रक्खा, बल्कि रक्खा—गत वर्ष। यहीं तक नहीं; उन्होंने उस 'गुदस्ता' से भी आगे बढ़कर 'तिगस्ता' और 'चौगस्ता' तक शब्द बना डाले; और उनके प्रयोग वे उसी प्रकार और उन अर्थों में करते हैं, जिस प्रकार और जिन अर्थों में हम 'त्योरस' और 'चौरस' साल का करते हैं। हमारे यहाँ के साहित्यज्ञ तो नहीं, पर व्यापारी 'निखरचे' (किसी तरह के बट्टे या दलाली के बिना) का जो प्रयोग करते हैं, वह भी इसी प्रकार का शब्द है। यह है भाषा की उस प्रकृति

का कार्य, जो किसी शब्द को गढ़-गढ़ाकर अपने अनुरूप कर लेती है—उसे पूरी तरह से हजम कर लेती है।

संस्कृत का प्रसिद्ध शब्द 'कुमार' हमारे देश के बहुत बड़े भाग में 'कुँवर' के रूप में बोला जाता है। राजपूताने में बड़े आदमियों के लड़कों को 'कँवर' कहने की प्रथा है। परन्तु यह शब्द यहीं तक परिमित नहीं रहा। बड़ा लड़का तो 'कँवर' कहलाया ही, उसके बाद जो हुआ, वह 'भँवर' कहलाने लगा; और उसके भी बाद जो हुआ, वह 'तँवर' हो गया। इस प्रकार राजस्थानी भाषा ने एक शब्द लेकर उसपर अपनी ऐसी छाप लगा दी कि वह उसका निजी शब्द तो बना ही, अन्य वैसे ही कई शब्दों का जनक भी हो गया है। हमारे यहाँ भी 'मँझला' के अनुकरण पर 'सँझला' बनता है। फारसी 'जायगाह' से बना हुआ 'जगह' शब्द पूर्ण रूप से हिन्दी ही है और किसी प्रकार परकीय नहीं माना जा सकता। फारसी के 'नर' और 'मादा' ('नर' वस्तुतः ज्यों-का-त्यों संस्कृत से लिया गया है; और 'मादा' सं० 'मातृ' से निकला है।) शब्दों में से बँगलावालों ने केवल 'मादा' शब्द लिया, पर उसका रूप रक्खा 'माद्दा'। पर वे यहीं नहीं रुके, इससे कुछ और आगे भी बढ़े। उन्होंने इस 'माद्दा' का अर्थ वह रक्खा, जो वास्तव में 'नर' का होता है; और तब उस 'माद्दा' का स्त्रीलिंग रूप बनाया 'मेद्दी'। फारसी शब्द 'बीबी' का रूप 'बीबी' यों तो भारत की अनेक भाषाओं में प्रचलित है; पर पंजाबी में वह एक विशेष अर्थ (अच्छा, सुशील और सुयोग्य) में प्रचलित है। यही नहीं, पंजाबी में इस 'बीबी' का पुंलिंग रूप 'बीबा' भी बन गया है। वहाँ जिस प्रकार छोटी लड़कियों को प्यार से 'बीबी रानी' कहते हैं, उसी प्रकार लड़कों को 'बीबा राजा' भी कहते हैं। बिहार में, वहाँ की भाषा की प्रकृति के अनुसार, 'बाबू' का रूप 'बबुआ' हो जाता है; और इस शब्द का प्रयोग बड़े या भले आदमियों के छोटे लड़कों के लिए होता है। पर वहाँ इसका स्त्रीलिंग रूप 'बबुई' भी बन गया है, जो छोटी लड़कियों के लिए प्रयुक्त होने के सिवा 'ननद' (पति की बहन) का भी वाचक हो गया है। अब कौन कह सकता है कि 'गुदस्ता' और 'तिगस्ता' मराठी के शब्द नहीं हैं, 'निखरचे' हिन्दी का शब्द नहीं है, 'मेद्दी' बँगला का शब्द नहीं है या 'बीबा' पंजाबी

का शब्द नहीं है? अरबी-फारसी आदि के बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अलग-अलग रूपों और अर्थों में प्रचलित हैं। वे सब रूप और अर्थ उन भाषाओं की प्रकृतियों के सूचक हैं, उन्हीं की ओर संकेत करते हैं।

जब पारस्परिक सम्पर्क के कारण एक जाति की भाषा का दूसरी जाति की भाषा पर प्रभाव पड़ता है, तब उनमें शब्दों का आदान-प्रदान भी अवश्य होता है। यही कारण है कि जातियों की भाँति कोई भाषा भी अपने विशुद्ध और मूल रूप में नहीं रहने पाती। प्रत्येक भाषा में अन्यान्य भाषाओं के शब्द तो आकर मिलते ही रहते हैं, एक भाषा में दूसरी भाषाओं के अनुकरण पर नये शब्द भी बनने लगते हैं। मराठी में 'तसलमात' और 'शिल्लक' सरीखे ऐसे शब्द हैं जो हैं तो देशज ही, पर देखने में अरबी-फारसी आदि के जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने 'ताकीद' से भी और 'तगैय्युर' से भी बने हुए 'तगीर' आदि शब्दों का तो व्यवहार किया ही है; माल-विभाग में 'मोहरिल' और 'मिनजालिक' सरीखे कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो सम्भवतः अरबी के अनुकरण पर बने हुए देशज ही हैं। और ढूँढ़ने पर दूसरी भाषाओं में भी ऐसे शब्द मिल सकते हैं।

भाषाओं की विशेषताएँ

बँगलावाले बहुत बड़े पण्डित को कहते हैं—'मस्त पण्डित' तो हम बहुत बड़े मकान को कहते हैं—'दंगल मकान'। पर 'मस्त' और 'दंगल' के जो साधारण और सर्वमान्य अर्थ हैं, उनसे, इन प्रयोगों में, उनके अर्थ बहुत भिन्न हो गये हैं। हमारे यहाँ का 'कंगाल' शब्द संस्कृत के 'कङ्काल' से और 'अनाड़ी' शब्द 'अणाणी' (अज्ञानी) से निकलने पर भी मूल से बहुत दूर चला गया है—इतनी दूर चला गया है कि दोनों में कम-से-कम अर्थ का तो कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। चीन से 'ली-चू' आकर 'लीची' का और यूनान से 'ओपीयम' ने आकर 'अफीम' का रूप धारण कर लिया। अँगरेजी का टेढ़ा-मेढ़ा 'लैन्टर्न' शब्द हमारे यहाँ आकर 'लालटेन' बन गया और 'प्लैटून' ने 'पलटन' का रूप धारण कर लिया। अँगरेजी के 'बेयरिंग' को हमने 'बैरंग' बनाकर उसे अपने रंग में रँग लिया। मराठी में कैण्डल

(Candle) से 'कंदिल' और हिन्दी में 'कंडील' बना; पर लालटेन के अर्थ में; 'बत्ती' के अर्थ में नहीं, जो उस शब्द का मूल अर्थ है। यही बात क्रियाओं और विशेषणों के सम्बन्ध में भी है। जब हम 'बहस' और 'वसूल' में 'ना' प्रत्यय लगाकर 'बहसना' और 'वसूलना', 'लीग' 'में' 'ी' जोड़कर 'लीगी' (विशेषण) तथा उस 'लीगी' में भी 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अ-लीगी' बना लेते हैं, तब वे शब्द हमारे ही हो जाते हैं।

जब हम कहेंगे—'उस दिन जब उनसे आग्रह किया गया, तब भइया ने नहीं माना।' तो यह अँगरेजी का अनुकरण होगा। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार इसका रूप होगा—'उस दिन जब भइया से आग्रह किया गया, तब उन्होंने नहीं माना।' इसी प्रकार जब हम कहते हैं—'मैं अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगा, यदि आप वह पुस्तक मेरे पास भेज देंगे।' अथवा—'जो प्रस्ताव मैं अभी आप लोगों के सामने रखने जा रहा हूँ......।' तो यह अँगरेजी का अनुकरण होगा। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार तो इनके ठीक रूप होंगे—'यदि आप वह पुस्तक मेरे पास भेज देंगे, तो मैं अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगा।' और 'जो प्रस्ताव मैं अभी आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ...।' 'आश्चर्य न होगा यदि शीघ्र ही इसकी उपयोगिता कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार (स्वीकृत) कर ली जाय।' की जगह 'यदि शीघ्र ही......तो आश्चर्य न होगा।' कहना ही हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है। 'कीट्स में सौन्दर्य ने अपना एक अन्यतम उपासक पाया था' नाम के लिए भले ही हिन्दी हो, पर वास्तविक दृष्टि से सुन्दर और सुडौल हिन्दी कदापि नहीं है—क्षत-विक्षत और विकलांग हिन्दी है। सुन्दर और सुडौल हिन्दी तो तभी होगी, जब हम कहेंगे—'कीट्स सौन्दर्य का अन्यतम उपासक था।' इस प्रकार के प्रयोग देखकर लेखक को अपने वह स्वर्गीय मौलवी साहब याद आ जाते हैं, जो 'हजरत अलै उस्सलाम' में के 'अलै उस्सलाम' का अर्थ बतलाते थे-सलाम ऊपर हमारा उनके।

जब हम कहते हैं—'हम अपने घर जायँगे।' तब हम अपनी भाषा का ठीक-ठीक अनुसरण करते हैं। पर यदि हम कहें—'हम हमारे घर जायँगे।' तो बँगलावाले या गुजरातीवाले कहेंगे कि यह हमारा अनुकरण है। मध्य प्रदेश के हिन्दी-भाषी प्रायः 'हम हमारे घर जायँगे' सरीखे प्रयोग करते हैं। उनका

'अपन' शब्द मराठी 'आपण' का सीधा-सादा अनुकरण है। पर वास्तव में ऐसे प्रयोग होते हैं हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध ही। यदि बँगलावाले कहें—'आमी आमार बाड़ी जाबो' तो वह हमारा अनुकरण न होगा।[1] यदि हम 'परिश्रम करना', 'हानि करना' या 'स्मरण करना' कहें तो वह औरों का अनुकरण न होगा, क्योंकि ये सब हमारे अपने क्रिया-प्रयोग हैं। पर यदि हम 'मेहनत उठाना', 'नुकसान पहुँचाना' या 'याद दिलाना' कहें तो वह 'मेहनत,' 'नुकसान' और 'याद' (संज्ञाओं) के कारण नहीं, बल्कि, 'उठाना,' 'पहुँचाना' और 'दिलाना' (क्रियाओं) के कारण उर्दूवालों का अनुकरण हो जायगा; क्योंकि ये सब क्रिया-प्रयोग हमारे यहाँ के नहीं हैं, बल्कि फारसी से उर्दू के द्वारा आये हैं। और इसी लिए ऐसे प्रयोग करते समय हम अपनी भाषा की प्रकृति से दूर हो जायँगे। 'चार फुट' और 'कागज' (बहु० में भी) कहना तो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होगा; परन्तु 'चार फीट' और 'कागजात' कहना इसलिए हिन्दी का प्रकृति के विरुद्ध होगा कि हमारे यहाँ कोई ऐसा नियम नहीं है जिससे 'फुट' का बहुवचन 'फीट' या 'कागज' का बहुवचन 'कागजात' बनता हो। हमारे व्याकरण के अनुसार 'वकील' से भाव-वाचक संज्ञा 'वकीली' ही बनेगी, 'वकालत' नहीं। इसी प्रकार 'पुलकेशी द्वितीय' और 'जार्ज-पंचम' सरीखे प्रयोग भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हैं। हमारी प्रकृति तो 'द्वितीय पुलकेशी' और 'पंचम जार्ज' कहने की है। यही बात 'पाठ १' और 'धारा २' के सम्बन्ध में भी है। हमारे यहाँ उनके रूप होंगे—पहला पाठ और दूसरी धारा या २ धारा।

आज-कल प्रायः लोग प्रश्नात्मक वाक्यों में 'क्या' बिलकुल अन्त में रखते हैं। जैसे—'आप वहाँ जायँगे क्या ?' 'उन्होंने आपको पुस्तक भेज दी क्या ?' पर इस प्रकार के प्रयोग भी हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध हैं और बँगला तथा मराठी अनुवादों की कृपा से हिन्दी में होने लगे हैं। पर हमारी भाषा की प्रकृति कहती है कि ऐसे प्रयोग हमारे नहीं हैं और इसी लिए त्याज्य हैं।

---

१. भारतीय भाषाओं में से हिन्दी, उड़िया, मराठी, पंजाबी आदि में तो ऐसे अवसरों पर 'अपने' के वाचक शब्दों का और गुजराती, बँगला, असमी आदि में 'हमारे' के वाचक शब्दों का प्रयोग होता है।

हिन्दी में तो—'क्या आप वहाँ जायँगे ?' और 'क्या उन्होंने आपको पुस्तक भेज दी ?' कहना ही ठीक है।

हम 'ताजी रसोई' तो शौक़ से खाते हैं, पर 'जरी-सी ला-परवाही' देखकर ही नहीं, बल्कि 'उम्दी बात' सुनकर भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। कारण यही है कि 'ताजा' और उसका स्त्रीलिंग रूप 'ताजी' तो हमारी प्रकृति के अनुकूल पड़ता है, पर 'जरी' और 'उम्दी' हम अभी तक, उर्दू के प्रभाव के कारण, नहीं ले सके। पहले हम 'भारी' को स्त्रीलिंग मानकर उसका पुंल्लिंग रूप 'भारा' भी बनाते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—'रहे तहाँ निसिचर भट भारे' और सूरदास जी ने लिखा है—'काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह-बस अतिथि भए अब भारे।' पंजाब में अब भी पुं० में 'भारा' और स्त्री० में भारी बोलते हैं, पर अब यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, और प्रायः दोनों लिंगों में 'भारी' का प्रयोग होने लगा है। उर्दूवाले याँ-वाँ और यों-वों का प्रयोग करते हैं। पर हिन्दी में इनमें से केवल 'यों' ग्रहण किया गया है, बाकी शब्द प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण नहीं लिये जा सके। 'इस्म मुबारक' (या शरीफ़) की जगह हम यह तो पूछने लगे—'आपका शुभ नाम ?' क्योंकि यह हमारी प्रकृति के अनुकूल था, पर 'खाना' हमें अब भी इसी लिए परकीय जान पड़ता है कि वह हमारी प्रकृति के विरुद्ध है। उर्दू वालों का 'खाना' (संज्ञा, भोजन के अर्थ में) हम इसी लिए हजम नहीं कर सकते कि हमारे यहाँ इस प्रकार की क्रियाओं का वस्तुवाचक संज्ञाओं के रूप में प्रयोग नहीं होता। यही बात 'आवाज उठाना' के सम्बन्ध में भी है, जो अँगरेजी की कृपा से और उर्दू के द्वारा हमारे यहाँ आना चाहता है। और अब तो कुछ लोग 'जनता की शिकायत ऊँची उठानेवाले जन-सेवक' की ओर भी प्रवृत्त होने लगे हैं। यह अपनी भाषा की प्रकृति पर अत्याचार करने के सिवा और कुछ नहीं है।

कुछ अवसरों पर जब हम अरबी-फारसी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब हमें उनके साथ विभक्तियाँ भी उन्हीं भाषाओं की प्रकृति के अनुसार लगानी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, हम अपने यहाँ के 'पीछे' के साथ 'से' विभक्ति लगाते हैं। जैसे – 'पीछे से कुछ लोग आकर हुल्लड़ मचाने लगे।' पर यदि हम 'पीछे' की जगह अरबी का 'बाद' शब्द रक्खें तो हमें उसके साथ 'को'

या 'में' रखना पड़ेगा। इसी प्रकार हम यह तो कह सकते हैं—'हम कई जगह कह चुके हैं।' पर यह नहीं कह सकते—'हम कई स्थान कह चुके हैं।' हमें यही कहना पड़ेगा—'हम कई स्थान (बल्कि स्थानों) पर कह चुके हैं।' तात्पर्य यह कि 'जगह' के साथ तो 'पर' की आवश्यकता नहीं होगी, परन्तु 'स्थान' का उसके बिना काम न चलेगा। अँगरेजी में तो many a के बाद आनेवाली संज्ञा एक-वचन ही होती है, पर हिन्दी में उसके वाचक 'कई एक' के बाद संज्ञा का बहुवचनवाला रूप ही रहता है। इसी प्रकार two or one के बाद अँगरेजी क्रिया बहु० होगी. पर हिन्दी में 'दो या एक' के बाद एक-वचन। इन सब उदाहरणों से सूचित होता है कि भाषा की प्रकृति उसकी संज्ञाओं, विशेषणों, विभक्तियों और क्रियाओं का कहाँ तक साथ देती और कहाँ तक उनसे प्रभावित होती है।

प्रकृति और विभक्तियाँ

उर्दू में 'जल्द' विशेषण है, जिसका मूल अरबी अर्थ बलवान् या सुदृढ़ है। उर्दूवाले इसे क्रिया-विशेषण के रूप में और 'शीघ्र' के अर्थ में प्रयुक्त करते और उससे संज्ञा 'जल्दी' बनाते हैं। पर हिन्दी में हम 'जल्दी' का व्यवहार क्रिया विशेषण के रूप में भी और संज्ञा के रूप में भी करते हैं। उसका क्रिया-विशेषणवाला 'जल्द' रूप हमारी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता और इसी लिए हमारे यहाँ प्रायः उसका प्रयोग भी नहीं होता। इसी प्रकार फारसी का "देर' शब्द है। हम 'देर' का प्रयोग करते ही हैं, पर उसी अर्थ में उसका दूसरा रूप 'देरी' भी बना लेते हैं। परन्तु 'खुश' और 'खुशी' के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। हम 'खुश' का प्रयोग विशेषण के रूप में और 'खुशी' का संज्ञा के रूप में ही करते हैं। यह बात दूसरी है कुछ लोग भूल से 'खुशी' का प्रयोग भी विशेषण के रूप में कर जाते हों। जैसे—'वे आपको देखते ही खुशी हो जायँगे।' पर हम अशुद्ध प्रयोगों के आधार पर कोई सिद्धान्त नहीं बना सकते। सिद्धान्त तो शुद्ध प्रयोगों के आधार पर ही बनते हैं।

एक ही भाषा में प्रान्त-भेद से भी प्रकृति-सम्बन्धी भेद देखने में आते हैं। पश्चिमी हिन्दी में नहीं तो कम-से-कम आगरे और दिल्ली आदि में लोग बोलते

हैं—'वह कहवै था', 'मैं जाऊँ थी' आदि [1]। कुछ पश्चिमी जिलों में 'है' के साथ 'गा' भी लगा देते हैं; और कहते हैं—'वह गया हैगा।' पर शिष्ट हिन्दी में ऐसे प्रयोगों के लिए कोई स्थान नहीं होता; क्योंकि ये उसकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ते हैं। हाँ, यदि हमें उक्त स्थानों की स्थानिक बोलियों का विवेचन करना हो तो हमें मानना पड़ेगा कि वे अमुक बोली की प्रकृति के अंग ही हैं। फिर जब हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानों में शब्दों के रूप भी अलग-अलग प्रकार से बनते हैं, तब प्रान्तीयता और स्थानिकता का यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत का शब्द है—'बलिवर्द'। पश्चिमी हिन्दी में, उसके पूर्वार्द्ध से 'बैल' शब्द बना; और पूर्वी हिन्दी में उसके उत्तरार्द्ध से 'बरधा' शब्द बना। इसी प्रकार संस्कृत के 'शकट' से कहीं 'सग्गड़' बना और कहीं 'छकड़ा'। संस्कृत 'अट्टालिका' से कहीं 'टाल' बना, कहीं 'अटाला' और कहीं 'अड़ार'। संस्कृत 'रुष्ट' से कहीं 'रूसना' बना और कहीं 'रूठना'। इससे सिद्ध होता है कि शब्दों की बनावट या रूपों के क्षेत्र में भी स्थानीय प्रकृतियाँ अलग-अलग ढंग से काम करती हैं।

प्रान्त-भेद और प्रकृति

आज-कल हम प्रायः दूसरी भाषाओं के प्रभाव में पड़कर अपनी भाषा की प्रकृति बिलकुल भूल जाते और उससे बहुत दूर जा पड़ते हैं। फल यह होता है कि हिन्दी का कोई ऐसा मानक रूप स्थिर नहीं होने पाता जो समान भाव से सब जगह आदर्श माना जा सके। एक वाक्य है—'सरकार जानती है कि राजे और नवाब हमारे विरुद्ध नहीं जा सकते।' इसमें का 'विरुद्ध नहीं जा सकते' अँगरेजी Cannot go against का अविकल अनुवाद है और हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। हमारी प्रकृति के अनुरूप होगा—'विरुद्ध नहीं हो सकते' अथवा 'विरुद्ध नहीं चल सकते'। एक और प्रकार का उदाहरण लीजिए। एक समाचार-पत्र में प्रकाशित एक वाक्य है—'कायदे आजम पर उनके सभी सहयोगियों का विश्वास नहीं रहा।' यह अँगरेजी के

---

१. अब कुछ लोग साहित्य में भी इस प्रकार के प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'मैं भी कहूँ, क्या बात है।' यहाँ 'कहूँ' 'कहता था' के अर्थ में आया है। इस प्रकार के प्रयोग शिष्ट-सम्मत नहीं हैं।

जिस वाक्य का अनुवाद है, उसका आशय यह है कि सब सहयोगियों का (कायदे आजम पर) विश्वास नहीं है; फिर भी कुछ या बहुतों का विश्वास है। पर वाक्य का शाब्दिक अनुवाद होने के कारण हिन्दी में उसका आशय यही समझा जायगा कि उनके एक भी सहयोगी का उनपर विश्वास नहीं रह गया, जो वास्तविक आशय से भी और स्वयं वास्तविकता से भी बिलकुल भिन्न है। यहाँ भाव प्रकट करने के संबंध में दोनों भाषाओं की अलग-अलग प्रकृतियाँ, भाव-व्यंजन प्रणाली और मुहावरेवाले तत्वों के रूप में, बिलकुल स्पष्ट हैं।

कुछ अवसरों पर भाषा की प्रकृति शब्दों के उच्चारण के क्षेत्र में भी काम करती हुई दिखाई देती है। जैसे—'क़' 'ज़' 'फ़' आदि के अरबी-फारसी-वाले उच्चारण प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के लिए परकीय ही ठहरते हैं। यह ठीक है कि पूर्वी बंगाल तथा कुछ अन्य स्थानों में 'ज़' आदि बोले जाते हैं; पर अरबी-फारसी आदि के प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि वहाँ के आदिम जंगली निवासियों के प्रभाव के कारण। और इस दृष्टि से भी वे कुछ परकीय ही हैं। पर इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि पूर्वी बंगाल के 'ज़' का उच्चारण अरबी के 'ज़ाल' 'ज़े' आदि के उच्चारण से कुछ भिन्न भी है। अँगरेजी के 'लैम्प' और 'कैम्प' अथवा 'कॉल' और 'हॉल' सरीखे शब्द हमारे यहाँ तभी खपते हैं, जब हम उन्हें 'लंप', 'कंप', 'काल' और 'हाल' रूप देते हैं। यह ठीक है कि कुछ अवसरों पर हमें ऐसे शब्दों के मूल उच्चारणों के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता पड़ती है, पर वे रहते हैं हमारी प्रकृति के विरुद्ध ही। अँगरेजी के 'स्कूल' और 'स्टेशन' सरीखे शब्द हमारे यहाँ बहुत-कुछ 'इस्कूल' और 'इस्टेशन' के रूप में उच्चरित होते हैं। बँगला में भी इनके उच्चारण बहुत-कुछ इसी प्रकार के होते हैं। पर पंजाबी प्रायः 'सकूल' और 'सटेशन' तो कहते ही हैं, पर जहाँ हम इनके पहले 'इ' लगाते हैं, वहाँ वे लोग 'अ' रखकर 'अस्कूल' और 'अस्टेशन' का उच्चारण करते हैं। बात यह है कि शब्द के आरंभ में यदि 'स' के साथ कोई अक्षर संयुक्त होता है तो उसका उच्चारण कुछ कठिन होता है। इसी लिए हम 'स्त्री' का उच्चारण बहुत-कुछ 'इस्त्री' के समान करते हैं। पंजाबी भी जब खाली

'स्कूल' या 'स्टेशन' कहने का प्रयत्न करेंगे तब प्रायः उनके मुँह से 'सकूल' या 'सटेशन' ही निकलेगा। पर जब वे ऐसे शब्दों के आरंभ में 'अ' लगा देंगे, तब 'अस्कूल' और 'अस्टेशन' कहेंगे, अर्थात् उस अवस्था में वे 'अ' के संयोग से 'स्क' और 'स्ट' के ठीक-ठीक उच्चारण कर सकेंगे। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि हम जन-साधारण की चर्चा कर रहे हैं, विशेष रूप से शिक्षित लोगों की नहीं। और भाषा की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय जन-साधारण की बोल-चाल से ही मिलता है।

भाषा की प्रकृति का ठीक ज्ञान न होने के कारण जो अनेक प्रकार की भूलें होती हैं, उनमें से एक विलक्षण प्रकार की भूल का उदाहरण लीजिए।

प्रकृति और भाषा-शुद्धि

प्रायः बोल-चाल में जल्दी या अ-संस्कार के कारण किसी शब्द के अक्षर कुछ आगे-पीछे हो जाते हैं। इसे वर्ण-विपर्यय या वर्ण-व्यत्यय कहते हैं। संस्कृत से निकले हुए कई ऐसे तद्भव शब्द हैं, जिनमें यह वर्ण-व्यत्यय पाया जाता है। जैसे 'अरोक' से 'अकोर'। साधारणतः बोल-चाल में भी बालक और अशिक्षित प्रायः वर्ण-व्यत्यय कर देते हैं। हमने कई बालकों को 'जमीन' की जगह 'मजीन' बोलते हुए सुना है। गँवार लोग प्रायः 'अन्दाज' को 'अंजाद' कहते हैं। पंजाब में 'मतलब' को प्रायः लोग 'मतबल' कहते हैं। 'पहुँचाना' की जगह 'चहुँपाना' तो युक्त-प्रान्त के कई पूर्वी जिलों और बिहार के कई पश्चिमी जिलों में आम तौर पर बोला जाता है। 'लखनऊ' को 'नखलऊ' कहनेवाले लोग तो प्रायः दिखाई देते हैं। फारसी 'खुर्दः' से पहले 'खुरदा' बना; और अब वह प्रायः सब जगह 'खुदरा' के रूप में प्रचलित है। संस्कृत 'लुंठन' से बने हुए 'लुढ़कना' का पश्चिमी हिन्दी का रूप 'ढुलकना' बना है। बैसवाड़े में 'नहाये' की जगह 'हनाये' बोलते हैं। इसी प्रकार का एक शब्द है 'झमेला' जिसे इस प्रान्त के पश्चिमी जिलों में कुछ लोग भूल से 'मझेला' भी कह जाते हैं। साधारणतः इस प्रकार के शब्द साहित्य में नहीं लिये जाते। परन्तु भाषा-विज्ञान का यह तत्त्व और अपनी भाषा की प्रकृति या शब्दों का स्वरूप न जानने के कारण ही उर्दू के कुछ शायर यह 'मझेला' शब्द भी अपने शेरों में बाँध गये हैं। जैसे—

न पूछो मुलाकात क्योंकर निभी ।
हजारों तरह के मझेले रहे ॥

इसी प्रकार हिन्दी का एक शब्द है 'पुछल्ला' जिसका अर्थ है—किसी बड़ी चीज के साथ पूँछ की तरह लगी हुई कोई फालतू छोटी चीज। यह हिन्दी 'पूँछ' में 'अल्ला' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। यह 'अल्ला' प्रत्यय अल्पता और उपेक्षा के भाव का सूचक होता है और इसका स्त्रीलिंग रूप 'अल्ली' होता है। 'रुपया' शब्द से 'रुपल्ली' इसी प्रत्यय के योग से बनता है। जैसे—'दस रुपल्ली महीने में मिली तो क्या; न मिलती तो क्या!' पर हिन्दी की प्रकृति का ज्ञान न होने और हिन्दी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति के कारण उर्दूवालों ने इसकी जगह 'दुम-छल्ला' शब्द बना लिया है। हिन्दी 'पूँछ' की जगह फारसी 'दुम' और हिन्दी 'अल्ला' प्रत्यय की जगह 'छल्ला' (संज्ञा) रख लिया गया है।

भाषा की प्रकृति लिंग और विभक्ति-प्रत्यय के क्षेत्र में भी समान रूप से काम करती हुई दिखाई देती है। प्रायः रह-रहकर यह प्रस्ताव हुआ करता है कि हिन्दी से लिंग-भेद उठा दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसके कारण अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बहुत कठिनता होती है। पर यह प्रस्ताव या तो वे लोग करते हैं जो भाषा की प्रकृति नहीं समझते, या वे लोग करते हैं जिनकी मातृ-भाषा की प्रकृति क्रियाओं आदि में लिंग-भेद रखने के प्रतिकूल होती है; जैसे बंगाली आदि। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि भाषा की प्रकृति बदलना उतना सहज नहीं है, जितना उसकी प्रवृत्ति बदलना। आगे चलकर कई प्रसंगों में हम यह बतलावेंगे कि किस प्रकार की बातें हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल होती हैं। यहाँ हम यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि भाषा की प्रकृति और चीज है, उसकी प्रवृत्ति कुछ और चीज। इन दोनों को भ्रम से एक न समझ लेना चाहिए।

यह प्रकरण समाप्त करने से पहले हम हिन्दी की आज कल की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना चाहते हैं। इधर कुछ दिनों से हम उर्दू के प्रभाव के कारण बहुत-सी क्रियाएँ छोड़ते आ रहे हैं। आगे चलकर 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकरण में यह बतलाया गया है कि हमें फिर से अनेक

क्रियाओं का प्रयोग क्यों आरम्भ करना चाहिए। यहाँ हम यही बतलाना चाहते हैं कि क्रियाएँ छोड़ने की हमारी यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। आज-कल की हमारी दूसरी प्रबल प्रवृत्ति यह है कि हम सहज तद्भव शब्द छोड़कर उनकी जगह संस्कृत के कठिन तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। अर्थात् हम उसी मार्ग पर चलने लगे हैं, जिसपर बहुत दिनों से बँगला चलती आ रही है; अथवा जिसपर चलकर उर्दू हमसे अलग हो रही है। इससे यह लाभ तो अवश्य होता है कि हम अन्य (संस्कृत-जन्य) भाषाएँ बोलनेवालों के अधिक समीप पहुँचते हैं। पर इससे हानि यह होती है कि हम आगे बढ़ने की जगह पीछे की ओर लौटते हैं; और अपने तद्भव शब्दों की हत्या-सी करते रहते हैं। उर्दूवालों की भी ठीक यही प्रवृत्ति है। वे अपनी भाषा में अरबी-फारसी के शब्द अधिक भरते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से तद्भव शब्दों की हत्या होता है। यह बात राष्ट्रीयता के विचार से चिन्तनीय है। हमें मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए; और अपनी भाषा ऐसी रखनी चाहिए जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके। तभी वह वास्तविक अर्थ में राष्ट्र-भाषा हो सकेगी।

[४]

अर्थ, भाव और ध्वनि

अर्थ और भाव में अन्तर—शब्दों पर जोर—शब्दों के स्थान—अर्थ और संगति—उपयुक्त शब्दों का प्रयोग—प्रसंग के अनुकूल शब्द-योजना—भ्रामक वाक्य—मात्राएँ और अर्थ-भेद—अर्थ और वास्तविकता—वाक्यों में विरोधी बातें—मंगल-भाषित—ध्वनि और चमत्कार

बोलने और लिखने में दो बातों का महत्त्व सबसे अधिक होता है—एक तो अर्थ का और दूसरा भाव का। अर्थ साधारणतः शब्दों का ही होता है।

अर्थ और भाव में अन्तर

वाक्यांश या वाक्य का भी अर्थ तो होता ही है, कुछ अवसरों पर भाव भी होता है। अर्थ तो बिलकुल साधारण और स्पष्ट रहता है, परन्तु भाव कुछ गूढ़ होता है। किसी वाक्य का अर्थ समझने में तो उतनी कठिनता नहीं होती, पर भाव समझने में कभी-कभी कठिनता होती है। अतः बोलने या लिखने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वाक्य का अर्थ तो ठीक रहे ही, उसका ठीक भाव समझने में भी किसी को कठिनता या भ्रम न हो।

एक बहुत ही साधारण और छोटा सा वाक्य लीजिए—'वह गया।' इसमें साधारण अर्थ है, और भाव का अभाव है। पर जब हम कहते हैं—'वह भी गया।' तब इसमें एक भाव भी आ मिलता है। भाव यह है कि कुछ और लोग तो गये ही, उनके साथ, बाद या सिवा वह भी गया। जब हम कहते हैं—'आपके रहते हुए यह काम हो जाय तो अच्छा है।' तो 'रहते हुए' का अर्थ होता है—उपस्थिति में। पर जब हम कहते हैं—'आपके रहते हुए भी यह काम हो जायगा।' तब 'भी' लगने के कारण 'रहते हुए' का अर्थ बिलकुल बदल जाता है। इस अवस्था में अर्थ होता है—आपके बाधक होने या विरोध करने पर भी। वाक्य में भाव कई प्रकार से उत्पन्न होता है; अथवा यों कहना चाहिए कि लाया जाता है। कुछ भाव शब्दों के अर्थों के ही अंतर्गत होते

हैं; कुछ उन शब्दों के साथ लगनेवाली क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं और कुछ प्रसंग के अनुसार निकलते हैं। पहले वह भाव लीजिए जो कुछ विशिष्ट क्रियाओं के संयोग से निकलता है। एक सीधा-सादा वाक्य है—'लोग समझेंगे कि तुम मूर्ख हो।' अब इसमें दो विशिष्ट क्रियाओं के प्रयोग करके देखिए। इसका एक रूप हो सकता है—'लोग समझ लेंगे कि तुम मूर्ख हो।' एक और रूप हो सकता है—'लोग समझ जायँगे कि तुम मूर्ख हो।' इन अन्तिम वाक्यों में 'लेना' और 'जाना' संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग के कारण दो अलग प्रकार के भाव आ जाते हैं। वक्ता के विचार से पहले वाक्य में कुछ गंभीरता का भाव है, दूसरे में कुछ उपेक्षा या उदासीनता का और तीसरे में सतर्क या सचेत करने का। इस प्रकार क्रियाएँ भी विशेष भाव प्रकट करने में सहायक होती हैं। अब प्रसंग के अनुसार निकलनेवाला भाव लीजिए। यदि किसी बच्चे के सम्बन्ध में हम कहें कि वह रोने लगा, तो उसका साधारण अर्थ ही होगा, उसमें कोई विशेष भाव न होगा। पर यदि हम किसी वयस्क के सम्बन्ध में कहें कि वह जरा सी हँसी करते ही रोने लगा, तो इस प्रयोग का अर्थ ही कुछ और हो जायगा; और उसमें वह भाव-सूचक तत्त्व आ जायगा, जिसे मुहावरा कहते हैं।

अर्थ और भाव सदा भाषा के साथ-साथ चलते हैं। अर्थ और भाव के लिए ही भाषा होती है, अतः एक प्रकार से कहा जा सकता है कि भाषा सदा भावों की अनुगामिनी होती है। परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करने पर कहना पड़ता है कि अर्थ और भाव को भी भाषा का अनुगमन करना पड़ता है। यदि भाषा अपने ठीक रास्ते पर चले तो अर्थ और भाव इधर-उधर नहीं हो सकते। पर जहाँ भाषा में जरा भी गड़बड़ी होती है, वहाँ अर्थ और भाव कुछ-न-कुछ गड़बड़ाये बिना नहीं रह सकते। यह बात दूसरी है कि हम प्रसंग अथवा अभ्यास के सहारे अशुद्ध या बेढंगी भाषा का भी ठीक-ठीक अर्थ और भाव समझ लें; परंतु सब लोग सदा ऐसा नहीं कर सकते। बेढंगी या बे-ठिकाने की भाषा से अनेक अवसरों पर बहुत-से लोगों को अनेक प्रकार के भ्रम हो सकते और होते हैं। जब पाठक किसी वाक्य का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सकता और उसके आशय या भाव तक नहीं पहुँच पाता, तब उसे

बहुत उलझन होती है; यहाँ तक कि कभी-कभी वह खिजला भी जाता है। उस समय वह उसका मन-माना अर्थ लगाता है। इसलिए भ्रम उत्पन्न करनेवाली भाषा का कभी प्रयोग न करना चाहिए।

प्रायः बोल-चाल में जब हम किसी शब्द पर कुछ ज्यादा जोर देते हैं, तब हमारी बात में कुछ विशेष अर्थ या भाव आ जाता है। स्व० डा० रासविहारी घोष जब एक मुकदमे में बहस कर रहे थे, तब जज ने कुछ शब्दों पर जोर बिगड़कर कहा—'आप मुझे कानून नहीं सिखा सकते।' डा० घोष ने उत्तर दिया—'जी हाँ, मैं नहीं सिखा सकता।' उन्होंने 'नहीं' पर कुछ ऐसा जोर दिया था कि उसका अर्थ होता था कि आप इतने अयोग्य हैं कि आपको कानून सिखाया ही नहीं जा सकता। इसी से जज का मुँह उतर गया था और वह चुप हो गया था। प्रायः लिखने में इस तरह का जोर लाने के लिए कुछ अवस्थाओं में कोई शब्द किसी विशेष स्थान पर रक्खा जाता है। यों भी वाक्य में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित स्थान होता है। हम प्रायः किसी की मूर्खता पर बिगड़कर कहते हैं—'तुम आदमी हो या जानवर!' कभी यह नहीं कहते—'तुम जानवर हो या आदमी'। पहले वाक्य में 'आदमी' इसी लिए पहले आता है कि जिससे यह कहा जाता है, उसका आदमी होना निश्चित होता है; फिर भी उसमें जानवरपन के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। पर यदि हम किसी जानवर को आदमी की तरह समझदारी का काम करते हुए देखें, तो कहेंगे—यह जानवर है या आदमी! ऐसे वाक्यों में 'आदमी' की जगह 'जानवर' या 'जानवर' की जगह 'आदमी' रखने से उनके अर्थों में निश्चित विशेषता आ जाती है।

इसी लिए सबसे अच्छा वाक्य वही समझा जाता है, जिसमें एक शब्द भी घटाने-बढ़ाने या इधर-उधर करने की गुंजाइश न हो। शुद्ध और अच्छे वाक्यों में यदि एक शब्द भी इधर-उधर कर दिया जाय तो या तो वे अशुद्ध हो जायँगे या उनका आशय बदल जायगा। उदाहरण के लिए एक सीधा-सादा वाक्य लीजिए जो प्रायः व्याकरणों में आता है। वाक्य है—'उसने राम को घोड़ा दिया।' इसका दूसरा रूप होगा—'राम को उसने घोड़ा दिया।' आज-कल के अधिकतर लेखकों की कृतियाँ देखने पर यह जान पड़ता है कि वे

'उसने राम को घोड़ा दिया' और 'राम को उसने घोड़ा दिया' में कुछ भी अंतर नहीं समझते। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि व्याकरणों में साधारणतः उदाहरण-स्वरूप वाक्य का पहला रूप ही क्यों होता है और दूसरा रूप क्यों नहीं होता। फिर वाक्य का एक तीसरा रूप भी हो सकता है—'घोड़ा उसने राम को दिया।' ये तीनों वाक्य एक साथ रखने पर सहज में पता चल जाता है कि—चाहे संस्कृत की दृष्टि से न सही, पर—हिन्दी की दृष्टि से इनके भावों में बहुत अंतर है।

(१) उसने राम को घोड़ा दिया।
(२) राम को उसने घोड़ा दिया।
(३) घोड़ा उसने राम को दिया।

इनमें से पहले वाक्य में बिलकुल साधारण विधान है। उसमें एक सामान्य घटना का उल्लेख है। पर उसका आशय यह है कि उसने राम को घोड़ा दिया, और कुछ नहीं दिया। परंतु दूसरे वाक्य में 'राम' पर जोर है और उसका आशय यह है कि राम को ही उसने घोड़ा दिया, और किसी को नहीं। तीसरे वाक्य में घोड़े पर जोर है। उसने औरों को और जो कुछ दिया हो, पर राम को घोड़ा ही दिया। यदि अन्तिम दोनों वाक्य निम्न-लिखित प्रकार से कुछ और विस्तृत कर दिये जायँ तो इनका अंतर और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा—

(१) राम को उसने घोड़ा दिया था, कृष्ण को नहीं।
(२) घोड़ा उसने राम को दिया और गौ कृष्ण को।

व्याकरण का साधारण नियम यह है कि वाक्य में पहले कर्त्ता रहता है, फिर कर्म और अन्त में क्रिया। यदि वाक्य इसी साधारण क्रम के अनुसार बना हो तो उसमें साधारण विधान होता है। उससे यही सूचित होता है कि ऐसी घटना हुई अथवा किसी ने ऐसा किया। पर यदि इस क्रम में कुछ परिवर्त्तन करके वाक्य के आरंभ में कोई और शब्द लाया जाय तो फिर उस शब्द पर जोर होता है। इस प्रकार वाक्य के सब शब्द वही रहने पर भी उनके स्थान बदल जाने के कारण ही अलग-अलग भाव सूचित होते हैं। 'पानी का गिलास लाओ' और 'गिलास का पानी लाओ' तथा 'यहाँ कोई

स्वतंत्र नहीं है' और 'कोई यहाँ स्वतंत्र नहीं है' में जो अंतर है, वह स्पष्ट है।

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए—

(१) उसका पता स्वयं डाक्टर साहब ने मुझे दिया था।

(२) उसका पता मुझे डाक्टर साहब ने स्वयं दिया था।

(३) उसका पता डाक्टर साहब ने स्वयं मुझे दिया था।

इन तीनों वाक्यों में भी सब शब्द ज्यों के त्यों हैं, परन्तु कुछ शब्दों के केवल स्थान बदले हुए हैं; और शब्दों के इस स्थान-परिवर्तन से ही वाक्यों के भावों में भी कुछ अन्तर हो गया है। पहले वाक्य में एक साधारण घटना का साधारण उल्लेख है। उसमें 'डाक्टर साहब' पर कुछ जोर अवश्य है, पर दूसरे वाक्य में वह जोर बहुत ज्यादा बढ़ जाता है; और तीसरे वाक्य में 'मुझे' पर जोर आ जाता है।

(१) कम-से-कम हो सकता है कि सरकार हमारे हितों का ध्यान न रक्खे।

(२) हो सकता है कि कम-से-कम सरकार हमारे हितों का ध्यान न रक्खे।

(३) हो सकता है कि सरकार कम-से-कम हमारे हितों का ध्यान न रक्खे।

इनमें से पहले वाक्य में 'कम-से-कम' सारे वाक्य के सम्बन्ध में है; दूसरे वाक्य में उसका सम्बन्ध 'सरकार' से और तीसरे में 'हमारे हितों' से है।

इस प्रकार के कुछ अंतर नीचे लिखे वाक्यों में भी हैं, जो बहुत ही थोड़े विचार से स्पष्ट हो सकते हैं।

(१) स्वयं लीग द्वारा पाकिस्तान की माँग पर कुठाराघात।

(२) लीग द्वारा स्वयं पाकिस्तान की माँग पर कुठाराघात।

(१) आपने यह खबर जरूर सुनी होगी।

(२) जरूर आपने यह खबर सुनी होगी।

(१) मैं नदी के किनारे गया।

(२) नदी के किनारे मैं गया।

(१) ऐसा ही होना चाहिए।

(२) ऐसा होना ही चाहिए।

(१) तुम्हारा शरीर आधा रह गया है।

(२) तुम्हारा आधा शरीर रह गया है।

अतः सदा इस बात का पूरा ध्यान रहना चाहिए कि शब्द अपने ठीक अर्थ में, अपना पूरा भाव प्रकट करने के लिए और अपने निश्चित स्थान पर आवें।

यदि शब्द अपने ठीक स्थान पर न रहें तो पाठकों को लेखक का आशय समझने में बहुत कुछ भ्रम हो सकता है। आज-कल प्रायः ऐसे वाक्य देखे जाते हैं जो भले ही पाठकों के मन में भ्रम न उत्पन्न करें, शब्दों के स्थान फिर भी जो वास्तविक दृष्टि से भ्रामक हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—'उसने उसके गले में एक गेंदे की माला डाल दी।' इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या वह माला एक ही गेंदे की थी? एक फूल की माला तो हो नहीं सकती। इसलिए इस वाक्य में 'एक गेंदे की माला' की जगह 'गेंदे की एक माला' लिखना ही ठीक होगा। एक समाचार-पत्र में एक समाचार का शीर्षक इस प्रकार छपा था—'कई रेलवे के कर्मचारियों की गिरफ्तारी।' घटना एक स्थान की थी; और वास्तव में लेखक का अभिप्राय यह था कि एक रेलवे के कई कर्मचारी गिरफ्तार हुए हैं। परन्तु शीर्षक के शब्दों से यह भ्रम हो सकता था कि कई रेवले कम्पनियों के कर्मचारी गिरफ्तार किये गये, जो वस्तुतः ठीक नहीं था। एक जगह छपा था—'हम निम्न-लिखित काशी के निवासी।' इससे यह भ्रम हो सकता है कि काशी नाम की बहुत-सी नगरियाँ हैं और उनमें से 'निम्न-लिखित काशी' के कुछ निवासी कोई बात कह रहे हैं। होना चाहिए था—'काशी के हम निम्न-लिखित निवासी।' यही बात 'एक चौक थाने का सिपाही घायल हुआ' के संबंध में भी है।

अभी तक हमने ऐसे ही उदाहरण दिये हैं, जिनमें शब्दों के केवल स्थान-परिवर्त्तन से भाव में थोड़ा या बहुत अंतर होता है। अब इसी से मिलते-जुलते एक और तत्त्व का विचार कीजिए। वह यह कि वाक्य में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। यही बात कुछ स्पष्ट रूप में इस प्रकार कही जा सकती है कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है; इसलिए वाक्य में उसका प्रयोग उसी निश्चित अर्थ में होना चाहिए। बहुत-से शब्दों के एक से अधिक अर्थ भी होते हैं, परन्तु उनका प्रयोग सदा उनमें से किसी एक अर्थ में होता है। साधारणतः वाक्य में एक शब्द एक से अधिक अर्थों में कभी प्रयुक्त नहीं

होता। हाँ जान-बूझकर लाये हुए श्लिष्ट शब्दों की बात दूसरी है।

प्रायः शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं; और इसी लिए जिन वाक्यों या पदों में वे शब्द आते हैं, उनके भी कई कई अर्थ होते या हो सकते हैं। जैसे—'स्त्रियों की माँग' का अलग अलग प्रसंगों में अलग अलग अर्थ होता है। पहला अर्थ तो यह होगा कि स्त्रियाँ अपने अधिकार के रूप में या सुभीते के लिए कुछ बातें करने के लिए कहती या अभ्यर्थन करती हैं। दूसरे, यह भी अर्थ हो सकता है कि किसी स्थान पर स्त्रियों की आवश्यकता है या वहाँ से कुछ स्त्रियाँ माँगी गई हैं। और तीसरे, इससे स्त्रियों के सिर की (बालों के बीच की) वह माँग सूचित हो सकती है, जिसे सीमंत कहते हैं[1]। अतः प्रत्येक अवसर पर शब्दों, पदों या वाक्यों का अर्थ प्रसंग के अनुसार ही लगाया जाता है। यदि प्रसंग का ध्यान न रक्खा जाय तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। जैसे, यदि हम कहें—'उन्होंने उस हाथी के पालने में हजारों रुपये

अर्थ और संगति

खर्च किये थे।' तो साधारणतः यहाँ 'पालना' शब्द का वही साधारण क्रियावाला अर्थ (पालन करना) लिया जाना चाहिए, न कि उसका संज्ञावाला अर्थ, जो उस खटोले का सूचक है, जिसपर बच्चे लेटाकर झुलाये जाते हैं और जिसे हिंडोला या गहवारा भी कहते हैं। क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि हाथी को लेटाकर झुलाने लायक पालना न तो बनता ही है, न जल्दी बन ही सकता है। यदि कहा जाय—'दस अरब स्त्रियों का प्रदर्शन' तो यहाँ 'अरब' का अर्थ 'अरब नामक देश में बसनेवाली जाति' ही लिया जायगा, सौ करोड़ की सूचक संख्या का नहीं; क्योंकि न तो सारे संसार में इतनी स्त्रियाँ हैं और न कभी वे एक जगह इकट्ठी होकर प्रदर्शन कर सकती हैं। 'आप वादों के फेर में न पड़ें' का ठीक-ठीक अर्थ तब तक नहीं लग सकता, जब तक यह न मालूम हो कि इस वाक्य का प्रयोग किस प्रसंग में हुआ है। क्योंकि इसमें का 'वादों' शब्द अरबी के उस 'वादा' का बहु० रूप भी हो सकता

---

१. एक शेर है—

> लिया दिल तो तुम्हारी माँग ने माँग।
> य' चोटी किस लिए पीछे पड़ी है?

इसमें 'चोटी' के प्रसंग से ही पहली 'माँग' का 'सीमन्त' वाला अर्थ निकलता

है, जिसका अर्थ है—किसी काम के लिए किसी को दिया जानेवाला वचन; और उस 'वाद' का भी बहु० रूप हो सकता है, जिसका अर्थ है–किसी विवादास्पद विषय के सम्बन्ध में प्रचलित एक-पक्षीय सिद्धान्त या मत। 'लाट साहब इस दौरे में आसाम भी जायँगे।' में 'दौरे' का वही यात्रा या भ्रमणवाला अर्थ लिया जायगा, बाँस आदि की पतली पट्टियों से बने हुए उस अर्द्ध-गोलाकार पात्र का नहीं, जिसमें अनाज या इसी तरह की और चीजें रक्खी जाती हैं। 'पेड़ों [illegible] फल लगे हैं' और 'आखों में अंजन लगाया' में 'पेड़ों' से 'वृक्षों' [illegible] और 'अंजन' से 'काजल' आदि का ही अर्थ लिया जाएगा, क्रमात्: खोये से बनी प्रसिद्ध मिठाई और रेल-गाड़ियाँ खींचनेवाले प्रसिद्ध यांत्रिक यान का नहीं।

तुलसी-कृत रामचरित मानस की एक चौपाई है—

देह दिनहि दिन दूबरि होई। घटत तेज-बल मुख-छबि सोई॥

यह चौपाई उस समय कही गई है, जब रामचन्द्र जी बन की ओर प्रस्थान कर चुके हैं और भरत जी नन्दीग्राम में जाकर व्रत और संयमपूर्वक रहने लगे हैं। चौपाई का वास्तविक आशय यह है कि कठोर संयम से रहने के कारण भरत जी का शरीर तो दिन पर दिन दुर्बल होता जाता था, फिर भी तेज-बल घटित होता अर्थात् बनता या पुंजीभूत होता जा रहा था; और उनके मुख की शोभा ज्यों की त्यों बनी थी। पर यहाँ 'घटत' शब्द का ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण अनेक टीकाकार गड़बड़ा जाते हैं। वे या तो कुछ-का-कुछ अर्थ कर जाते हैं, या अपनी समझ के अनुसार मूल पाठ ही बदल देते हैं। इस चौपाई के अन्तिम शब्द 'सोई' का अर्थ भी 'वही' होगा, 'सो गई' नहीं होगा।

मैना (पक्षी) की एक पहेली है—

एक नार तरुवर से उतरी, उसके सिर पर पाँव।
ऐसी नार कुनार को मैं ना देखन जाँव॥

इसमें 'उसके सिर पर पाँव' का वास्तविक और संगत अर्थ यही है कि उसके सिर भी है, पर भी हैं और पाँव भी। यदि यह अर्थ लगाया जाय कि उसके सिर के ऊपर पैर होते हैं तो वह असंगत ही होगा। पद का उक्त रूप तो केवल बूझनेवालों को धोखे में डालने के लिए है। इसी तरह की और भी कुछ

पहेलियाँ हैं। जैसे 'लाख रुपये सेर; तो एक रुपये की कितनी ?' में 'लाख' सौ हजार की संख्या का नहीं बल्कि उस लाल पदार्थ का सूचक है, जो कुछ वृक्षों से निकलता है। और 'वह कौन सा शब्द है जो सदा गलत ही लिखा जाता और गलत ही पढ़ा जाता है ?' में के दोनों 'गलत' स्वतः 'गलत' शब्द के ही सूचक हैं, 'अशुद्ध' वाचक विशेषण नहीं हैं। अतः लिखने और पढ़ने के समय इस तत्त्व का भी ध्यान रखना चाहिए।

इन सब बातों का आशय यही है कि हमें प्रसंग के अनुसार ही उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए और उनका ठीक अर्थ लगाना चाहिए। प्रा[illegible]

उपयुक्त शब्दों का प्रयोग

में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग न करने के कारण बहुत कुछ [illegible]-बड़ी हो जाती है। यहाँ हम कुछ ऐसे वाक्य देते हैं जिनमें शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग नहीं हुआ है और इसी लिए जो (वाक्य) भ्रामक, भद्दे या दूषित हो गये हैं।

१. 'शिक्षापूर्ण गानों के बीच-बीच में कहनेवाले दोहों का संग्रह।' इसमें 'कहनेवाले' की जगह 'कहने लायक' या 'कहे जानेवाले' होना चाहिए।

२. 'वह दण्ड देने के योग्य है।' होना चाहिए—'वह दंड पाने या दंडित होने के योग्य है।' 'दंड देने के योग्य' का तो यह भी अर्थ हो सकता है कि उसमें इतनी क्षमता है कि वह औरों को दंड दे सके। यही बात 'दलन करने योग्य' और 'नष्ट करने योग्य' सरीखे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है।

३. 'वे एक बड़े वृक्ष से एक देवता का चित्र बनवाने में लगे थे।' मानों वे देवता का चित्र बनाने का काम एक बड़े वृक्ष से ही करवा रहे थे। होना चाहिए—वे एक बड़ा वृक्ष कटवाकर उसकी लकड़ी से (अथवा उसी वृक्ष में) एक देवता की मूर्ति (चित्र नहीं!) बनवा रहे थे।

४. 'शिवदयाल नामक फाँसी की सजा पाये हुए एक व्यक्ति के भागने का समाचार मिला है।' मानों फाँसी के अनेक प्रकार हों और उन प्रकारों के अलग-अलग नाम होते हों; और उनमें से 'शिवदयाल नामक फाँसी' की सजा पानेवाला कोई आदमी भाग गया हो। होना चाहिए—'फाँसी की सजा पाये हुए शिवदयाल नामक।'

५. 'आपने लोगों का ध्यान एक ऐसे अभाव की ओर आकर्षित किया है

जो वास्तव में हमारे साहित्य का एक अंग है।' पर क्या 'अभाव' भी कभी किसी वस्तु का अंग होता है? और क्या वह अभाव ही हमारे साहित्य का अंग है? होना चाहिए...'जो हमारे साहित्य में स्पष्ट दिखाई देता है।'

६. 'मेरे माता-पिता की (बहुत) अभिलाषा थी कि उनके सूने घर को सन्तान का जन्म सनाथ करे।' एक तो सूना घर चहल-पहल की अपेक्षा रखता है, सनाथत्व की नहीं। दूसरे, सन्तान या उसका जन्म घर को कभी सनाथ नहीं करता।

७. 'मैं जिस समय उससे बातें कर रहा था, ज्वार-भाटा, जो मेरे जहाज को बन्दर से बाहर करता, लौट गया।' पर जहाज को बन्दर से बाहर केवल भाटा करता है, ज्वार नहीं। और फिर ज्वार-भाटा दो अलग-अलग चीजें हैं, और वे दोनों आती हैं, जाती या लौटती नहीं।

८. 'दिन भर में दो जगह गोली (या गोलियाँ?) चली (या चलीं?)।' का अर्थ तो यही समझा जायगा कि 'दिन भर' बहुत बड़ा समय है; और उसकी तुलना में (केवल) दो जगह गोलियाँ चलना कोई बड़ी बात नहीं है। इस वाक्य में केवल 'भर' से बहुत भ्रम हो सकता है।

९. 'यदि आजाद फौज के बन्दियों को दंड दिया गया तो जन-मत को क्षुब्ध करने के सिवा दूसरा लाभ न होगा।' इसमें 'दूसरा लाभ' का प्रयोग होने के कारण यह अर्थ निकलता है कि 'जन मत को क्षुब्ध करना' मानों 'पहला लाभ' हो। अतः होना चाहिए—'जन-मत को क्षुब्ध करने के सिवा और कोई फल न होगा।'

शब्द-योजना

एक और प्रकार है जिससे वाक्य के अर्थ और भाव में अन्तर पड़ सकता है। वह है—वाक्य में प्रसंग के अनुकूल शब्दों का चुनाव न होना। जहाँ शब्दों का चुनाव प्रसंग के अनुकूल नहीं होता, वहाँ भी प्रसंग के अनुकूल आशय समझने में गड़बड़ी हो सकती है। मान लीजिए कि हम जिक्र तो करते हैं पिस्सुओं का और उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—इनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बड़ी होती हैं। मान लीजिए कि एक ऐसा आदमी है जो यह तो नहीं जानता कि 'पिस्सू' क्या चीज है, पर वह नर-मादा और स्त्री-पुरुष का साधारण अर्थ और भेद

समझता है। वह समझ सकता है कि पिस्सू भी मनुष्यों की कोई जाति है, जिसमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बड़ी होती हैं। इस प्रसंग में पुरुष और स्त्री की जगह नर और मादा[1] या इस भाव के सूचक दूसरे शब्द होने चाहिएँ। पिस्सुओं के प्रसंग में यदि 'नर और मादा' शब्दों का प्रयोग न करके 'पुरुष और स्त्री' सरीखे शब्दों का प्रयोग किया जायगा तो अपरिचितों या विदेशियों को ठीक आशय समझने में भ्रम होगा। इसी प्रकार युरोपियनों आदि के भोजन के प्रसंग में किसी से यह कहलाना ठीक नहीं—'चलो, खाना ठंढा हो रहा है।' क्योंकि वे लोग प्रायः गरम और ताजा भोजन करते ही नहीं; ठंढा और बासी भोजन ही करते हैं।

इसी प्रकार यह कहना भी भ्रामक है—'मक्खी के समान इन अंडों में भी परिवर्तन होते हैं।' वस्तुतः आशय तो यह है कि जिस प्रकार के परिवर्त्तन मक्खियों के अंडों में (स्वयं मक्खियों में नहीं) होते हैं, उसी प्रकार के परि-वर्त्तन इन अंडों में भी होते हैं। परन्तु वाक्य की रचना से ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार के परिवर्त्तन स्वयं मक्खियों में (उनके अंडों में नहीं) होते हैं, उसी प्रकार के परिवर्त्तन इन अंडों में भी होते हैं। और यह आशय वास्त-विक तथ्य से बहुत दूर जा पड़ता है।

यह ठीक है कि भाषा में कुछ अवसरों पर लाघव का तत्त्व भी काम करता है—हम कभी-कभी कहीं कुछ शब्द छोड़ भी देते हैं। जैसे—'ये भी वैसे ही पण्डित हैं, जैसे आप।' इसके अन्त में 'पंडित हैं' न भी रक्खें तो वाक्य बोल-चाल में ठीक ही होगा। पर यदि हम हर जगह 'लाघव' करने लगेंगे, तो

१. कुछ लोग कह सकते हैं कि पुरुष और स्त्री का भी अर्थ वही है जो नर और मादा का है। परन्तु हिन्दी में वस्तुतः पशु-पक्षियों और कीड़े मकोड़ों के सम्बन्ध में प्रायः नर-मादा शब्दों का ही प्रयोग होता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे चलकर 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकरण में किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग विदेशी भाषाओं के शब्दों से घबराते हैं, उनके समाधान के लिए वहीं यह भी बतलाया गया है कि हमें विदेशी भाषाओं के शब्दों से क्यों नहीं घबराना चाहिए और क्यों तथा किन अवसरों पर उनका प्रयोग करना चाहिए।

वाक्य या तो निरर्थक हो जायगा या अनर्थक। अतः केवल लाघव के विचार से वाक्य कभी भ्रामक न होने देना चाहिए।

कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) कोट का दाम पाजामे से अधिक होता है। (पाजामे के दाम से)

(२) आपके सब काम हमसे अच्छे होते हैं। (हमारे कामों से)

(३) बौद्ध स्तोत्र और माहात्म्य हिन्दुओं के-से हैं। (हिन्दुओं के स्तोत्रों और माहात्म्यों के-से हैं।)

यों बोल-चाल में इस प्रकार के वाक्य भले ही चलते हों, पर जहाँ ठीक अर्थ और भाव प्रकट करने की आवश्यकता हो, वहाँ ऐसे वाक्य भ्रामक हो सकते हैं। अँगरेजी में ऐसे वाक्यों में शब्द के साथ एक विशेष प्रकार का संकेत (') लगाने और that of लिखने की प्रथा है, पर हमारे यहाँ यह बात नहीं है। इसलिए ऐसे अवसरों पर हमें विशेष सावधान रहना चाहिए। ऐसे वाक्यों की देखा-देखी प्रायः नये और असावधान लेखक और

भी अनेक प्रकार के भद्दे तथा भ्रामक वाक्य लिखने

भ्रामक वाक्य लगते हैं। ऐसे वाक्यों से प्रायः और का और अर्थ

निकलने लगता है, जो भाषा का बहुत बड़ा दोष है। नीचे के वाक्यों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

(१) कुत्ता दरबान की तरह दुम हिलाता हुआ दरवाजे पर खड़ा रहता था। (मानों दरबान भी कुत्ते की तरह दुम हिलानेवाला कोई जीव हो। होना चाहिए—कुत्ता दुम हिलाता हुआ दरबान की तरह...।)

(२) युद्ध-क्षेत्र पर हताहत सैनिकों के लिए रक्त भेजने का प्रबन्ध। (आहत सैनिकों के लिए तो रक्त का उपयोग होता ही है, पर हत सैनिकों के लिए उसका उपयोग कैसा !)

(३) सिनेमा की अभिनेत्रियों के समान कपड़ों का भंडार बढ़ता गया। (क्या कपड़ों का भंडार उसी प्रकार बढ़ता गया, जिस प्रकार आज-कल सिनेमा की अभिनेत्रियाँ बढ़ रही हैं ! वास्तविक आशय यह है कि जिस प्रकार सिनेमा की अभिनेत्रियों के कपड़ों का भंडार बढ़ता है, उसी प्रकार......।)

(४) इसके सेवन से मूत्र की तादाद कम हो सकती है। (साधारणतः

'तादाद' की जगह 'मिकदार' या 'मात्रा' होना चाहिए। 'तादाद' का प्रयोग उसी अवस्था में ठीक हो सकता है, जब बार-बार मूत्र होने में कमी हो।)

(५) गुदगुदाने के लिए पग बढ़ा ही था कि उसने सोचा—(क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि 'पग' स्वयं गुदगुदाने के लिए आगे बढ़ा था; और उसी ने सोचा? होना चाहिए—वह गुदगुदाने के लिए आगे बढ़ा ही था कि उसने सोचा। यदि ऊपर 'बढ़ा' की जगह 'बढ़ाया' होता तो भी ठीक होता।)

अब तक ऐसे ही वाक्यों के उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें शब्दों के ठीक स्थान पर न होने के कारण या ठीक शब्दों का प्रयोग न होने के कारण भाव बदल जाता है अथवा अलग-अलग स्थानों पर रहने से अलग-अलग भाव प्रकट होते हैं। अब हम ऐसे उदाहरण देना चाहते हैं जिनमें केवल मात्रा का अन्तर होने के कारण भाव बदल जाता है।

मात्राएँ और अर्थ-भेद

'आपको ऐसा भला आदमी जल्दी न मिलेगा' और 'आपके ऐसा भला आदमी जल्दी न मिलेगा' में जो अन्तर है, वह स्पष्ट है। यदि हम कहें—'शत्रु का पहाड़ी पर अधिकार' तो उसका अर्थ यह होगा कि शत्रु ने आगे बढ़कर एक ऐसी पहाड़ी पर अधिकार कर लिया, जो उसकी नहीं थी, अथवा पहले जिसपर उसका अधिकार नहीं था। पर यदि हम कहें—'शत्रु की पहाड़ी पर अधिकार' तो इसका यह अर्थ होगा कि जिस पहाड़ी पर पहले शत्रु का अधिकार था, अथवा जो उसकी थी, उसपर से उसे हटाकर हमारे पक्ष ने अधिकार कर लिया। यह तो बहुत साधारण सी बात है। पर अब इस विषय पर कुछ और गंभीर विचार करने के लिए एक दूसरे प्रकार का वाक्य लीजिए—'रोगी को अनार, सन्तरा और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए।' इसका अर्थ यह होगा कि रोगी को अनार दिया जाना चाहिए; सन्तरा दिया जाना चाहिए और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए। पर यदि हम कहें—'रोगी को अनार, सन्तरे और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए।' तो इसका अर्थ यह होगा कि इन फलों के रस दिये जाने चाहिएँ, ये फल नहीं दिये जाने चाहिएँ। फिर भी यह संदेह रह ही जाता है कि तीन फलों के रस एक में मिलाकर दिये जायँ या अलग-अलग। यह विषय और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यह वा-

दूसरे रूप में रखते हैं—'इस दूकान पर अनार, सन्तरे और अंगूर का शरबत मिलता है।' इसका ठीक-ठीक शब्दार्थ यही होगा कि तीनों फलों का मिला हुआ शरबत मिलता है। यदि हम यह बतलाना चाहें कि तीनों फलों के अलग-अलग शरबत मिलते हैं, तो हमें कहना होगा—अनार, सन्तरे और अंगूर के शरबत मिलते हैं। इस वाक्य पर यह आपत्ति हो सकती है कि इसका अर्थ होगा कि इस दूकान पर अनार मिलते हैं और सन्तरे तथा अंगूर के शरबत मिलते हैं। पर यह आपत्ति ठीक नहीं है। ऐसा भाव प्रकट करने के लिए वाक्य का रूप होगा—'इस दूकान पर अनार और सन्तरे तथा अंगूर के शरबत मिलते हैं। 'अनार' के बाद 'और' आ जाने से वह 'सन्तरे तथा अंगूर के शरबत' से अलग हो गया है। और यदि हम 'सन्तरे' को भी 'शरबत' से अलग करना चाहें, तो हमें कहना पड़ेगा—'इस दूकान पर अनार और सन्तरे तथा अंगूर का शरबत मिलता है'। और यदि वह वाक्य भी कुछ भ्रामक जान पड़े, तो कहना चाहिए—'इस दूकान पर अनार का शरबत और अंगूर तथा सन्तरे मिलते हैं।'

एक बार एक प्रसिद्ध गजल का एक शेर एक अच्छे गवैये के मुँह से इस प्रकार सुना था—

दहाने जख्म से हर वार पर आवाज आती है।
खुदा रक्खे मसीहा को, मजा कातिल से मिलता है॥

बहुत कुछ सोचने पर भी अन्तिम मिसरे का कुछ अर्थ समझ में न आया। इसके बाद जब और भी कई आदमियों के मुँह से यह मिसरा इसी रूप में सुना, तो उलझन और भी बढ़ी। बहुत कुछ सोचने पर समझ में आया कि यह मिसरा इसी लिए निरर्थक जान पड़ता है कि इसमें 'का' की जगह लोगों ने भूल से 'को' कर दिया है। होना चाहिए—

खुदा रक्खे, मसीहा का मजा कातिल से मिलता है।

अर्थात् पूरे शेर का आशय यह है कि कातिल जब-जब मुझ पर वार करता है, तब-तब मेरे घाव-रूपी मुख से यह आवाज आती है कि ईश्वर ऐसे कातिल को जीता रक्खे (कातिल के वारों की जीवन-दायिनी शक्ति और माधुर्य के कारण उसके प्रति शुभ कामना है!) जिससे मसीहा का मजा मिलता है।

इससे मतलब बिलकुल साफ हो जाता है; परन्तु 'का' की जगह 'को' रहने पर कुछ भी मतलब नहीं निकलता था। यहाँ इस मिसरे के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि यदि इसे लिखने में अल्प-विराम का ठीक तरह से प्रयोग न किया जाय तो भी मतलब खब्त हो जायगा। इसी प्रकार की एक और बात एक बार रेडियो सुनते समय हमारे ध्यान में आई थी, एक बार एक सज्जन ने एक गजल के अंतर्गत गाया था—

मैं बुलाता तो हूँ उनको,
मगर ऐ जजबए दिल।
ऐसी बन आये कुछ उनपर,
कि बनाये न बने॥

इसमें के अन्तिम 'बनाये न बने' से कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। वास्तव में होना चाहिए था—

ऐसी बन आये कुछ उनपर,
कि बिन आये न बने।

अर्थात्—प्रेमी कहता है कि उनपर कुछ ऐसी बन आवे (वे ऐसे विवश हो जायँ) कि उनसे बिना आये न रहा जाय—वे अवश्य आवें। पर गायक महोदय ने 'बिन आये न बने' को 'बनाये न बने' करके मिसरा ही निरर्थक कर दिया था।

अर्थ और वास्तविकता

यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जब किसी भाषा के कुछ शब्द उस भाषा के कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किसी वाक्य में एक क्रम से आते हैं, तब उनका कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है। पर उस अर्थ का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है। यदि अर्थ का सम्बन्ध वास्तविकता से न हो तो व्याकरण के नियमों के अनुसार वाक्य शुद्ध होने पर भी निरर्थक रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कल हिमालय पर्वत लन्दन की सैर करने गया था।' या 'अमेरिका का एक हवाई जहाज आज-कल चीन में अपने रहने के लिए एक मकान बना रहा है।' तो ये दोनों वाक्य व्याकरण की दृष्टि से बिलकुल ठीक

होने पर भी अर्थ की दृष्टि से किसी मतलब के नहीं हैं। आलंकारिक कथनों में भले ही हिमालय रोता भी हो और गाता भी हो, पर साधारण कथन के प्रसंग में, अर्थात् वस्तुतः न तो हिमालय पर्वत अपना स्थान छोड़कर कहीं सैर करने जा सकता है और न हवाई जहाज अपने लिए मकान बना सकता है। 'कौआ हमारी चक्की उठा ले गया।' या 'बिल्ली ने हाथी को खा लिया।' सरीखे वाक्य बच्चों की कहानियों में भले ही खप जायँ, पर वस्तुतः इनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। पर कुछ लोग कभी-कभी जल्दी में बिना समझे बूझे इसी तरह के कुछ वाक्य कह या लिख जाते हैं, जिनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। जैसे—'अगला एतवार किस दिन पड़ेगा?' या 'साढ़े-आठ बजेवाली गाड़ी कै बजे जाती है?' एक किस्सा है कि एक सज्जन ने अपने एक मित्र को एक पत्र लिखा था। उस पत्र के अन्त में उन्होंने यह भी लिख दिया था—'यदि यह पत्र आपका न मिले तो मुझे सूचित कीजिएगा। मैं इसकी नकल आपके पास भेज दूँगा।' पर लिखनेवाले ने यह नहीं सोचा कि यदि वह पहला पत्र पानेवाले को मिलेगा ही नहीं, तो वह कैसे जानेगा कि इसकी नकल मेरे (भेजनेवाले के) पास है और माँगने पर मिल सकती है।

इसी तरह के और भी कई किस्से हैं। किसी सरकारी दफ्तर में बहुत-से पुराने कागज-पत्रों की नत्थियाँ बहुत-सा स्थान घेरे हुए थीं। उस विभाग के एक कर्मचारी ने उन्हें बिलकुल व्यर्थ समझकर अपने प्रधान अधिकारी से उन सबको जला डालने की आज्ञा माँगी। जो आज्ञा मिली थी, उसमें लिखा था—'पर इन सबको जलाने से पहले इनकी नकल जरूर कर ली जाय।' अधिकारी ने यह नहीं सोचा कि जो कागज बिलकुल व्यर्थ होने के कारण ही जलाये जा रहे हैं, उनकी नकल रखने से लाभ?

कहते हैं कि एक बार किसी बड़ी देशी रियासत के किसी गाँव में आग लगी। गाँववालों ने तहसीलदार से दम-कल भेजने की प्रार्थना की। तहसीलदार ने वह प्रार्थना-पत्र जिले के अधिकारी के पास भेज दिया और जिले के अधिकारी ने उसे ऊपर के बड़े अफसरों के पास भेजा। अन्त में महीनों बाद महाराज ने उस पर आज्ञा लिखाई—'तुरन्त दम-कल भेजने का प्रबन्ध किया जाय।'

किसी आदमी ने अपनी स्त्री की नाक दाँत से काट ली थी। जब अदालत

में मुकदमा पेश हुआ, तब उस स्त्री ने अपने पति को किसी तरह बचाना चाहा। इसलिए उसने कहा—मेरे पति ने मेरी नाक नहीं काटी। उससे पूछा गया—तब फिर नाक कटी कैसे? उसने उत्तर दिया—मैंने क्रोध में आकर स्वयं अपने दाँतों से अपनी नाक काट ली थी!

एक सज्जन ने किसी समचार-पत्र में पढ़कर अपनी स्त्री को बतलाया कि रेल की दुर्घटनाओं में प्रायः अधिक क्षति सबसे आगेवाले और सबसे पीछेवाले डब्बों की ही होती है। स्त्री चट बोल उठी—तो फिर ये डब्बे पहले ही क्यों नहीं निकाल दिये जाते?

जब एक सज्जन ने किसी डाकिये से अपने नाम का पत्र माँगा और डाकिये ने उनसे उनका नाम पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया था—देख लीजिए, उसी पत्र पर लिखा होगा।

एक मालिक ने अपने नौकर को हुक्म दिया था—जब सो जाना, तब दीया बुझा देना। मतलब यह था कि जब सोने लगना, तब दीया बुझा देना। पर नौकर यदि अपने मालिक की आज्ञा का अक्षरशः पालन करे तो फिर दीया रात भर बुझ ही नहीं सकता। क्योंकि वह जब तक जागता रहेगा, तब तक बुझावेगा नहीं; और सो जाने के बाद उसके लिए बुझाना असम्भव हो जायगा।

भले ही ये सब मन-गढ़न्त किस्से हों, पर कभी-कभी पत्रों और पुस्तकों में भी इस तरह की कुछ बातें देखने में आ ही जाती हैं। एक वक्ता के भाषण में पढ़ा था—'यदि सरकार कहती है कि यह मार्ग बन्द नहीं है, तो उसे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह पुनः खुल जाय।' पर जब मार्ग बन्द ही नहीं है, तब उसके खुलने का प्रश्न ही नहीं उठता। किसी विश्वविद्यालय के एक प्रश्न-पत्र में एक प्रश्न था—'जायसी ने पद्मावत की रचना में ऐतिहासिक तथा काल्पनिक तत्त्वों का अच्छा मिश्रण किया है। बतलाइए कि इसमें उन्हें कहाँ तक सफलता हुई है।' यहाँ विचारणीय यह है कि जब आप पहले ही बतला देते हैं—'अच्छा मिश्रण किया है', तब मानों आप ही यह भी बतला देते हैं कि 'मिश्रण' में जायसी को अच्छी सफलता हुई है। तब प्रश्न में दम ही क्या रह गया? प्रश्न तो तभी ठीक होता जब 'मिश्रण' के पहले 'अच्छा'

विशेषण न होता।

एक बार एक समाचार-पत्र में निकला था—'कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए जो कमेटी बननेवाली है, उसका यह मत है कि देश की पैदावार बहुत बढ़ सकती है।' इसमें विलक्षणता यह है कि कमेटी अभी बनी नहीं है, सिर्फ बननेवाली है; पर उसका मत पहले से बताया जा रहा है, जो किसी प्रकार सम्भव नहीं। एक और पत्र में देखा था—'विधान-परिषद् के भावी अधिवेशन में नेहरू-प्रस्ताव पर बहस समाप्त हो गई।' वस्तुतः इसमें 'हो गई' की जगह 'होगा' होना चाहिए था। एक समाचार-पत्र में छपा था—'चीन भावी विनाश के गर्त्त में पड़ा है।' 'विनाश' तो अभी 'भावी' है; पर उसके गर्त्त में वह पड़ा है अभी से! एक बार एक देशी रियासत के मुख-पत्र में देखा था—'महाजन साहब ने अगले साल के लिए जो नये नियम बनाये हैं' उनसे हम लोगों को बहुत लाभ पहुँच रहा है।' नियम तो बने हैं अगले साल के लिए; पर उनसे लाभ होने लगा है अभी से! एक जगह देखा था—'कलकत्ते और बम्बई जैसे बड़े शहरों में नित्य हजारों इमारतें और सड़कें बनती रहती हैं।' बड़े शहरों में नित्य हजारों इमारतें तो बनती रहती हैं, पर नित्य हजारों सड़कें कैसे बन सकती हैं? एक और जगह पढ़ा था—'विश्व-विद्यालयों और उनके स्नातकों की संख्या तो अवश्य प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है।' वास्तव में स्नातकों की संख्या तो अवश्य प्रति वर्ष बढ़ती है, पर प्रति वर्ष दो-चार नये विश्व-विद्यालय नहीं बनते। एक और जगह पढ़ा था—'लन्दन से जो हवाई जहाज आता है, उसकी रफ्तार फी घण्टे तीन सौ मील होती है।' मानो यह कोई निश्चित नियम हो कि लन्दन से आनेवाले किसी हवाई जहाज की रफ्तार फी घण्टे तीन सौ मील से कम या ज्यादा हो ही नहीं सकती!

एक कहानी में पढ़ा था—'दोनों हाथ कमर पर रख, सीना आगे की ओर झुकाते हुए मुँह बनाकर सुकुल जी ने फंकी लगाई।' जिक्र था सुरती की फंकी का। लेखक ने पहले तो लिखा—'कमर पर दोनों हाथ रख' और अन्त में लिख दिया—'फंकी लगाई।' यह न सोचा कि दोनों हाथ पहले से कमर पर रक्खे थे, तब फंकी कैसे लगाई होगी। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'उसकी पीठ पर एक भारी पत्थर गिरा, जिससे उसकी कमर में बहुत

चोट आई।' पत्थर गिरा पीठ पर, चोट आई कमर में। यह तो वही कहावत हुई—मारूँ घुटने, फूटे आँख।

किसी नाटक के एक पात्र को अभिनय के समय आवेश-पूर्वक कहते हुए सुना था—'मारे थप्पड़ों के खाल खींच लूँगा।' थप्पड़ों की मार से मुँह लाल हो सकता है, पर खाल नहीं खिंच सकती। खाल खींचने की क्रिया तो कुछ और ही साधनों से होती है। एक बार एक सज्जन अपने एक साथी पर कुछ बिगड़े थे। उन्हें कहना चाहिए था—'कार्य करते समय बोला मत करो।' पर वे जल्दी में कह गये—'बात करते समय बोला मत करो।' एक पुस्तक में पढ़ा था—'हाल ही में स्व० श्री उडरफ के तत्त्वावधान में जो तंत्र सोसाइटी स्थापित हुई है, उसमें.........।' सुयोग्य लेखक का यह आशय था कि स्व० श्री उडरफ द्वारा स्थापित तंत्र सोसाइटी में अभी हाल में......। परन्तु असावधानी के कारण यह वाक्य कितना भद्दा हो गया है! एक बार एक शिक्षित व्यापारी ने लेखक से कहा था—"यदि हो तो हमारी दूकान में दो घण्टे में सौ रुपये की बिक्री हो सकती है। और न हो तो एक मिनट में भी नहीं हो सकती।" मानों दो घण्टों की अपेक्षा एक मिनट का मान बहुत अधिक हो।

कभी-कभी लोग अपनी भाषा आलंकारिक बनाने के फेर में पड़कर अपने वाक्य अर्थ की दृष्टि से दूषित कर देते हैं। एक बार एक सज्जन ने 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' की परम्परा में पड़कर एक अवसर पर लिखा था—'जब तक आकाश में सूर्य, चन्द्र और तारे रहेंगे, तब तक मैं आपका कृतज्ञ रहूँगा।' मानों लेखक महोदय यह समझते हों कि जब तक आकाश में चन्द्र-सूर्य आदि रहेंगे तब तक मैं भी इस पृथ्वी पर रहूँगा ही। इस प्रकार के प्रयोगों को आशीर्वादों और मंगल-कामनाओं तक ही परिमित रखना चाहिए।

कभी-कभी लोग जल्दी में या प्रमाद-वश कुछ ऐसी रचना कर जाते हैं, जिसमें एक साथ दो विरोधी बातें या तत्त्व आ जाते हैं। जैसे, यदि हम कहें—"यह अपने विषय की एक ही और सर्व-श्रेष्ठ पुस्तक है।" तो इसमें दो विरोधी बातें होंगी। 'सर्व-श्रेष्ठ' का मतलब है 'सब से बढ़कर'। पर यदि वह पुस्तक अपने ढंग की 'एक' ही हो तो 'सर्व-श्रेष्ठ' कैसे होगी? सर्व-श्रेष्ठ तो तभी होगी, जब उस ढंग की और भी दो-चार या दस-बीस पुस्तकें हों। 'वे अपनी

परम्परा के अकेले कवि हैं' में 'परम्परा' के साथ 'अकेले' का प्रयोग इसलिए ठीक नहीं है कि 'परम्परा' अनेक कवियों के चलते हुए क्रम की सूचक है। फिर उसमें 'अकेले' कैसे संगत होगा? हाँ, यदि यह आशय हो कि इन्होंने अपनी कोई नई परम्परा चलाई थी तो यह बात इसी रूप में कही जानी चाहिए। इसी प्रकार यह कहना भी दो विरोधी बातों से युक्त है—'वे लोग आँखें मूँदकर सारा अत्याचार देख रहे थे।' हम आँखें मूँदकर और कार्य भले ही करते या कर सकते हों, पर कम-से-कम देख तो नहीं सकते! 'राज्य के स्तम्भ को फँसाने के लिए जाल बिछाया गया था; पर वह स्तम्भ ही अपने विरोधियों का चारा और कँटिया निगल गया' में एक साथ कई असंगत बातें आ गई हैं। कहाँ स्तम्भ और कहाँ उसे फँसाने के लिए जाल! और कहाँ उस स्तम्भ का चारा और कँटिया निगलना! एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'पाकिस्तान के जिस किले को सीमा-प्रान्त ने ढहा (या ढा?) दिया था, पंजाब की राजनीतिक समझदारी ने उसके कफन में कीलें जड़ दी हैं।' किले का ढहना तक तो ठीक है; पर ढहे हुए किले के लिए कफन कैसा? और फिर कफन में कीलें कैसी? कीलें तो ताबूत या अर्थी में होती या हो सकती हैं।

वाक्यों में विरोधी बातें

एक मान्य विद्वान् के लेख में पढ़ा था—"इस बार असन्तोष की जो लहर उठी थी, वह चिर काल से दबी हुई असन्तोषाग्नि की चिनगारी मात्र थी!" पर कहाँ लहर और कहाँ चिनगारी! 'उनका यह विश्वास परीक्षा की भट्ठी में तप चुका था; फिर भी उस पर कोई आँच नहीं आने पाई थी।' भी विचारणीय है। 'आँच आना' मुहावरा तो अवश्य है, परन्तु 'तपने पर भी आँच न आना" कवित्वपूर्ण भले ही हो, अपने विरोधाभाष के कारण साधारण गद्य में विलक्षण ही जान पड़ता है। 'वे अपने आपको समझदार और दूसरे को बेईमान समझते हैं।' या 'उनसे हमारा जितना सामीप्य है, उतना ही इनसे विरोध है।' कहना भी इसलिए ठीक नहीं है कि 'समझदार' का 'बेईमान' से और 'सामीप्य' का 'विरोधी' से वास्तविक विरोध नहीं है। उक्त वाक्यों में क्रमात् 'मूर्ख' और 'दूरत्व' होना चाहिए।

दो विरोधी या असंगत तत्त्वों के एक साथ आने की सम्भावना उस समय

और भी बढ़ जाती है, जब गणित या लेखे से सम्बन्ध रखनेवाला कोई विषय आता है। एक बहुत पुराने साप्ताहिक पत्र के एक प्रतिष्ठित सम्पादक महोदय, जो स्वभावतः बहुत ही सरल थे, केवल बँगला जानते थे; और फलतः बँगला पत्रों से ही अनुवाद करके अपने पत्र के स्तम्भ भरते थे। एक बार उन्होंने लिखा था—'अमुक कार्य में......पाउंड अर्थात्......रुपये व्यय हुए।' उन दिनों पाउंड की दर १५) निश्चित थी। जब पत्र के अध्यक्ष महोदय ने वह अंश देखा, तब उन्हें पता चला कि या तो पाउंड के आँकड़ों में भूल है या रुपये के आँकड़ों में। उन्होंने सम्पादक जी का ध्यान इस भद्दी भूल की ओर आकृष्ट करके पूछा कि यह क्या बात है? सम्पादक जी चट अपने कमरे में चले गये, और दो मिनट बाद लौटकर बोले—"वसुमति (बँगला साप्ताहिक) में तो ऐसा ही लिखा है।" अध्यक्ष ने कहा—"पर आप तो हिसाब लगाकर देखिए की यह ठीक है या नहीं।" उन्होंने फिर उत्तर दिया—"वसुमति में तो ऐसा ही लिखा है।" अध्यक्ष महोदय ने खिझलाकर अखबार हाथ से फेंक दिया। इस घटना के उल्लेख का आशय यही है कि जहाँ किसी प्रकार के हिसाब का सम्बन्ध हो, वहाँ देख लेना चाहिए कि वह ठीक है या नहीं।

इसी से मिलता-जुलता एक और प्रकार का प्रसंग होता है, जिसमें लेखकों से, असावधानता के कारण, प्रायः बड़ी-बड़ी भूलें हो जाती हैं। एक समाचार-पत्र में काशी के जेल की एक घटना के सम्बन्ध में शीत काल के प्रसंग में छपा था—"यहाँ की बरफीली रातें...।" पर यह न सोचा गया कि काशी में बरफ पड़ती ही नहीं। एक समाचार-पत्र में सन् १८५७ के गदर के प्रसंग में कहा गया था—"वह उद्देश्य था सम्राट् की सरकार को उलटना!" पर सन् १८५७ में भारत पर सम्राट् का साम्राज्य था ही नहीं। 'ईसवी आरम्भिक शताब्दियों में मुसलमानों ने रसायन की बहुत उन्नति की थी।' में ध्यान देने की बात यह है कि ईसवी आरम्भिक शताब्दियों में मुसलमानों का अस्तित्व ही नहीं था। इन पंक्तियों के लेखक को एक बार एक देशी रियासत की इतिहास-सम्बन्धी एक ऐसी पाठ्य-पुस्तक के अनुवाद का संशोधन करना पड़ा था, जिसके कई संस्करण हो चुके थे। उसमें एक राजा के सम्बन्ध में लिखा था कि गुरु गोविन्दसिंह के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। पर उसी

पुस्तक में उस राजा की मृत्यु का जो संवत् दिया था, उसके तीन वर्ष बाद पटने में गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ था ! इस प्रान्त के हाई स्कूलों में पढ़ाने के लिए इंगलैण्ड का एक इतिहास लिखा गया था। छपने के समय उसकी पांडुलिपि में इसी से मिलती-जुलती दो-तीन भूलें इन पंक्तियों के लेखक के देखने में आईं। जब पुस्तक के लेखक का, जो इतिहास के प्राध्यापक थे, ध्यान उन भूलों की ओर लाया गया, तब वे दंग रह गये। उनकी समझ में ही न आता था कि ऐसी भूलें किस प्रकार ढूँढ़कर निकाली गईं। जब उन्हें बतलाया गया कि ज़रा सी असावधानी से भी कभी-कभी बहुत-बड़ी भूलें हो जाती हैं और थोड़ी-सी सतर्कता से ही ऐसी भूलें ढूँढ़कर निकाली जा सकती हैं, तब उन्होंने बहुत कृतज्ञता प्रकट की और भविष्य में लिखते समय पूर्ण सतर्क रहने की प्रतिज्ञा की।

शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात और है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अशुभ या अरुचिकर बातों से बचना चाहता है; और

मंगल-भाषित

शुभ तथा रुचिकर बातों की ओर अधिक अनुरक्त होता है। जो विचार या भाव उसे अशुभ, अमांगलिक या दूषित जान पड़ते हैं, उन्हें व्यक्त करने के समय वह कभी-कभी ऐसे शब्दों का आश्रय लेता है, जो होते तो उन अशुभ भावों के प्रतिकूल या विरुद्ध ही हैं, फिर भी जिनसे निकलनेवाला अर्थ या भाव ज्यों का त्यों बना रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आने पाता। अर्थात् अरुचिकर बातें भी कभी-कभी रुचिकर रूप में प्रकट की जाती हैं। भाव-व्यंजन की इस प्रणाली को 'मंगल-भाषित' कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा हम अमंगल-सूचक बातें भी मंगल-सूचक शब्दों में कहते हैं।

उदाहरण के लिए 'मरना' शब्द लीजिए। मृत्यु सभी जगह बहुत बुरी और अशुभ समझी जाती है। यहाँ तक कि कुछ लोग उसका नाम लेना भी अच्छा नहीं समझते; इसी लिए हमारे यहाँ स्वर्गवास, परलोकवास, गंगा-लाभ आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं। 'जलाना' क्रिया का सम्बन्ध मृत्यु, मृतक और नाश से है, इसलिए बहुत से लोग 'दीया जलाना' की जगह 'दीया लगाना' या 'दीया-बत्ती करना' आदि कहते हैं। कुछ स्थानों

में होली या चूल्हे आदि के प्रसंग में 'जलाना' क्रिया का प्रयोग न करके 'मंगलना' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रान्त में जिस प्रकार 'दूकान बन्द करना' की जगह लोग 'दूकान बढ़ाना' कहते हैं, उसी प्रकार कुछ स्थानों में 'दूकान मंगलना' का भी प्रयोग करते हैं। इसी अमंगल-वारण के विचार से कहीं साँप को 'मामा' और कहीं गीदड़ को 'पाँड़े' कहते हैं। जब अपना कोई प्रिय या आदरणीय व्यक्ति किसी रोग से पीड़ित होता है; तब इसी सिद्धान्त के अनुसार उर्दूवाले कहते हैं—'उनके दुश्मनों की तबीयत नासाज है।' अर्थात् उस प्रिय या आदरणीय के रोग का आरोप उसके 'दुश्मनों' पर कर दिया जाता है। इन सब बातों का अभिप्राय यही है कि कुछ अवसरों पर अमंगल के परिहार के विचार से मंगल-सूचक शब्दों का प्रयोग होता है। इससे कभी तो शब्दों के अर्थों में कुछ नये अर्थों का आरोप हो जाता है, और कभी कुछ विशिष्ट क्रियाओं के योग से कुछ नये मुहावरे बन जाते हैं। ऐसे अवसरों पर शब्दों के ज्यों के त्यों या मूल अर्थ लगाना ठीक नहीं होता।

वाक्यों के अर्थ और भाव का विचार हो चुका। अब एक और तत्त्व का विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है, जिसके बिना यह विवेचन शायद अधूरा रह जायगा। वह तत्त्व है ध्वनि। हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्यकारों ने इस तत्त्व का अपनी रचनाओं में विशद विवेचन किया है। उनका मत है कि जिस काव्य में यह तत्त्व होता है, वह सर्वोत्तम समझा जाता है। काव्यगत ध्वनि का विवेचन करना हमारा काम नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो उस सामान्य ध्वनि से है जो प्रायः वाक्यों से निकलती है। साधारणतः ध्वनि उस चमत्कार को कहते हैं जो वाक्यों के शब्दों से निकलनेवाले साधारण अर्थ के अतिरिक्त किसी प्रकार के व्यंग के रूप में प्रकट होता है। यदि रचना में यह चमत्कार जान-बूझकर लाया जाय और उससे अभीष्ट की ठीक तरह से सिद्धि हो तो रचना अवश्य उत्तम मानी जायगी। परन्तु कभी-कभी लोग भूल से या अनजान में ऐसी बात कह जाते हैं जिससे कोई अनिष्ट या अप्रिय ध्वनि निकलती है। बहुत दिन हुए, उर्दू के किसी अखबार में किसी हलुए के

ध्वनि और चमत्कार

विज्ञापन में उसकी तारीफ में छपा था—'यह हलुआ खाने के बाद फिर कुछ भी खाने की जरूरत नहीं रह जाती।' बात बहुत दिनों की है, इसलिए वाक्य का रूप, सम्भव है, इससे कुछ भिन्न रहा हो; पर उससे ध्वनि यही निकलती थी कि यह हलुआ खाकर आदमी मर जाता है, और उसके फिर कुछ खाने की नौबत नहीं आती!

कहते हैं कि एक आदमी किसी दवाखाने में कोई दवा खरीदने गया। दवा बेचनेवाले नौकर ने एक दवा की तारीफ करते हुए कहा—'इसकी एक ही शीशी से आपका रोग सदा के लिए बिलकुल छूट जायगा।' उस आदमी ने पूछा—'आखिर आप यह किस आधार पर कहते हैं कि एक ही शीशी से रोग सदा के लिए अच्छा हो जायगा?' उसने उत्तर दिया—'जो वह शीशी एक बार ले गया, वह फिर कभी लौट कर न आया।' यह बात उस नौकर ने अपनी ओर से बिलकुल सीधी तरह से कही थी। पर उसके कथन से यही ध्वनि निकलती थी कि या तो यह दवा खाते ही आदमी मर जाता है, या इससे इतना निराश हो जाता है कि फिर यहाँ नहीं आता!

स्व० सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के समय धार्मिक कृत्य करानेवाले एक पादरी से किसी कृत्य में भूल हो गई। बादशाह ने नम्रतापूर्वक पादरी से कहा कि यह कृत्य इस प्रकार नहीं, बल्कि इस प्रकार होना चाहिए था। पादरी ने बिना सोचे-समझे उत्तर दिया—बहुत ठीक! अगली बार मैं इसका ध्यान रक्खूँगा। अर्थात् जब आप मरेंगे और मैं आपके उत्तराधिकारी का अभिषेक कराऊँगा, तब ऐसी भूल न होगी! यह है ध्वनि का चमत्कार!

बहुत दिनों की बात है। स्व० महामना पं० मदनमोहन मालवीय दिल्ली की काउन्सिल में भाषण कर रहे थे। प्रश्न था काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को मिलनेवाली आर्थिक सहायता का। उसी में अछूतों का भी कुछ प्रसंग आ गया। श्री कबीरउद्दीन अहमद पूछ बैठे—'क्या आप अछूतों से मिलते-जुलते हैं?' मालवीय जी ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाँ, मैं उनसे उसी प्रकार स्वच्छन्दता-पूर्वक मिलता-जुलता हूँ, जिस प्रकार अपने मित्र श्री कबीरउद्दीन अहमद से।' इस कथन से जो मार्मिक ध्वनि निकलती थी, उसके कारण काउन्सिल में खूब जोरों का ठहाका लगा था।

एक बार बर्नर्ड शॉ एक ऐसी स्त्री से बातें कर रहे थे जो उनसे विवाह करना चाहती थी। स्त्री ने उन्हें अपनी ओर विशेष रूप से अनुरक्त करने के लिए कहा—'हम लोगों की जो सन्तान होगी, उसे रूप तो मेरा प्राप्त होगा और बुद्धि आपकी।' शॉ भला कब चूकनेवाले थे! उन्होंने पूछा—'पर यदि उस सन्तान ने रूप मेरा पाया और बुद्धि तुम्हारी पाई, तो?' स्त्री का चेहरा फीका पड़ गया और वह चुपचाप उठकर चल दी।

जूलाई १९४४ में हिटलर की हत्या का जो प्रयत्न हुआ था, उसके सम्बन्ध में हिटलर के एक बहुत बड़े पक्षपाती ने जो कुछ कहा था, उसका सारांश एक दैनिक में इस रूप में निकला था—'फुहरर को बचाकर ईश्वर ने जैसा रूप प्रकट किया है, वैसा फिर कभी न होगा।' मुख्य आशय तो यह था कि ईश्वर फिर कभी हिटलर पर ऐसा संकट न आने देगा; पर वाक्य की रचना से यह ध्वनि निकलती थी कि यदि फिर कभी हिटलर की हत्या का प्रयत्न हुआ तो ईश्वर कभी उसकी रक्षा न करेगा!

एक स्त्री अपने पति को तलाक देना चाहती थी। इस सम्बन्ध में वकीलों के यहाँ दौड़ती-दौड़ती जब वह बहुत परेशान हो गई, तब उसने अपनी एक विधवा धनिक सखी से अपनी परेशानी का जिक्र किया। विधवा सखी ने कहा—'कुछ न पूछो। मुझे अपनी विशाल सम्पत्ति का प्रबन्ध करने के लिए वकीलों के यहाँ इतना दौड़ना पड़ता है कि कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि मेरे पति न मरते तो अच्छा होता।' (अर्थात् साधारणतः मेरे पति का मर जाना ही मेरे लिए अच्छा हुआ!)

इन सब बातों का आशय यही है कि जरा सी असावधानी से कभी-कभी मुँह या कलम से कोई ऐसी बात निकल जाती है, जो साधारणतः नहीं निकलनी चाहिए। अतः लिखते समय एक-एक शब्द और एक-एक मात्रा का ध्यान रहना चाहिए और प्रत्येक शब्द अपने ठीक अर्थ में और उपयुक्त स्थान पर आना चाहिए। यदि इन सब बातों का ध्यान न रक्खा जायगा तो ठीक अर्थ तो निकलेगा ही नहीं; कभी-कभी उलटा या बुरा अर्थ भी निकल सकेगा!

इसी ध्वनि के अन्तर्गत वह तत्त्व भी आ जाता है, जिसे व्यंग्य या ताना

कहते हैं। जैसा कि स्वयं 'व्यंग्य' शब्द से प्रकट है, यह तत्त्व भी शब्द की व्यंजना शक्ति से ही प्रकट होता है। पर 'ध्वनि' और 'व्यंग्य' में कुछ अन्तर होता है। 'ध्वनि' बहुधा अनजान में या असावधानता से कही हुई बात में से निकलती है। जान-बूझकर कही हुई बातों में भी 'ध्वनि' होती या हो सकती है; और अनेक अच्छे कवि तथा लेखक प्रायः बहुत-कुछ इसी उद्देश्य और ढंग से लिखते हैं कि कविता या लेख से कुछ विशिष्ट ध्वनि निकले; फिर भी अनिष्ट ध्वनि प्रायः अनजान में कही हुई बात से ही निकलती है। इसके विपरीत व्यंग्य सदा जान-बूझकर, किसी को चिढ़ाने, नीचा दिखाने अथवा सचेत या सावधान करने के लिए होता है। अर्थात् व्यंग्य सदा किसी उद्देश्य से होता है, कभी निरुद्देश्य नहीं होता। सद्भाव और सदुद्देश्य से कही हुई व्यंग्यपूर्ण बातें प्रायः शुभ फल उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार के सुन्दर व्यंग्य से भरा श्री 'संगम' का लिखा हुआ 'सोमनाथ पर चढ़ाई' शीर्षक एक लेख एक बार 'समाज' (साप्ताहिक, काशी) में निकला था (दिसम्बर '४७)। उसके अनेक अंश बहुत ही सुन्दर थे। जब जूनागढ़ राज्य के अन्तर्गत सोमनाथ के ध्वस्त मन्दिर को फिर से बनवाने का विचार और आयोजन हो रहा था, तभी यह लेख निकला था। इसका उद्देश्य था—भारतीय हिन्दुओं को पाकिस्तानी मुसलमानों की दुरभिसन्धियों से सजग करना। उक्त लेख के कुछ सुन्दर व्यंग्यपूर्ण स्थल इस प्रकार थे—'भारत भूमि हलाकू और चंगेज को भूल गई तो अनर्थ हो जायगा।' 'मुसलमानों के आने से पूर्व यहाँ कोई चीज व्यवस्थित नहीं थी...मुसलमान आये तो उन्होंने सब बुराइयों का जड़-मूल से नाश कर दिया।' 'मुसलमानों का सितारा चमका है...दिल्ली भी (उनके) हाथ आवेगी, आज नहीं तो कल।' 'स्वतंत्र भारत में यदि दो-चार पानीपत की लड़ाइयाँ न लड़ी गईं, हल्दी घाटी और थानेश्वर के शानदार युद्ध नहीं हुए,...तो हम भारतवासियों के लिए...चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है।' 'स्वतंत्र भारत में बच्चों को यह बतलाया जायगा कि यहाँ ईंट से ईंट बजती है। यह आजादी की देन है।' 'बनाइए नये सिरे से सोमनाथ का मन्दिर! महमूद गजनवी की आँखों का काँटा बनिए।' 'और आप? आप विश्वास रखिए ये सब धमकियाँ ही हैं। किसी प्रकार की तैयारी करने की क्या

आवश्यकता है ?' 'गजनवी और गोरी को तैयारी करने दीजिए। आप पृथ्वीराज की भाँति क्षमा-शील बने रहिए।' 'अपनी नीयत के पैमाने पर (से) शत्रु की नीयत नापने की पुरानी परिपाटी न छोड़िए।' 'जो आज करना हो, उसे कल पर टालते जाइए।' आदि ! अधिकतर हिन्दुओं की अकर्मण्यता और उदासीनतापूर्ण निश्चिन्तता पर कैसे सुन्दर छींटे हैं।

एक अँगरेजी कहावत का आशय है कि बराबर अध्ययन करते रहने से मनुष्य में पूर्णता आती है और लिखने से यथार्थ दृष्टि रखने की योग्यता। पर यह तभी हो सकता है, जब लिखने के समय मनुष्य पूर्ण सतर्क रहे। और यह सतर्कता सर्वांगीण संगति के सम्बन्ध में होनी चाहिए। शब्द, अर्थ, भाव, ध्वनि और संगति सब का विचार करके जो कुछ लिखा जायगा, उसी की गिनती सत्साहित्य में होगी।

[५]

वाक्य-विन्यास

वाक्यों की स्पष्टता—निरर्थक वाक्य—शिथिल वाक्य—जटिल वाक्य—अनिर्वहित वाक्य—निरर्थक शब्द और पद—दो प्रकार की द्विरुक्तियाँ—बे-मेल शब्द-योजना—वाक्यों में अँगरेजी शब्द—भ्रामक कारण-निर्देश—अधूरे वाक्य—व्याख्यायक पद और वाक्यांश—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन।

वाक्यों की स्पष्टता

लिखते या बोलते समय इस बात का ध्यान रखने की बहुत अधिक आवश्यकता होती है कि जो कुछ लिखा या कहा जाय, वह बिलकुल स्पष्ट हो और उसे समझने में किसी को कठिनता न हो। यदि लिखी या कही हुई बात किसी की समझ में ही न आवे या उसे समझने के लिए कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़े अथवा आवश्यकता से अधिक समय लगाना पड़े, तो वह लिखना या कहना व्यर्थ भले ही न हो, पर दूषित अवश्य समझा जायगा। कुछ अवसरों पर तो वह लिखना या कहना इसलिए व्यर्थ भी हो जाता है कि बहुत-से लोग या तो उस लेख या कथन का ठीक-ठीक आशय ही नहीं समझ पाते या कुछ-का-कुछ अर्थ लगा बैठते हैं। जिन कारणों से यह बात होती है, उनमें दूषित वाक्य-रचना मुख्य है। अनियमित वाक्य-विन्यास के कारण भाषा में भद्दापन तो आता ही है, कुछ और तरह के दोष भी आ जाते हैं। अस्पष्टता, शिथिलता, जटिलता, भ्रामकता, अर्थ-हीनता आदि ऐसे दोष हैं जो किसी प्रकार क्षम्य नहीं हो सकते। ये सब दोष इसी लिए होते हैं कि वाक्य का आदि से अन्त तक ठीक तरह से निर्वाह नहीं होता। यदि इस अनिर्वाह के कारण उक्त दोष न भी आवें तो भी भाषा में भद्दापन तो आ ही जाता है। भाव या अर्थ सम्बन्धी अथवा शाब्दिक द्विरुक्ति या पुनरुक्ति भी वाक्य-रचना का बहुत बड़ा दोष है। यदि वाक्य का आदि से अन्त तक ठीक तरह से निर्वाह तो हो अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से वाक्य शुद्ध तो हो, पर उसमें

आशय भी हो सकता है कि वाइस प्रेसिडेण्ट ही काउन्सिल के सदस्यों का चुनाव करेंगे। उक्त वाक्य अपनी दूषित रचना के कारण भ्रामक था। ठीक इसी प्रकार की ये पंक्तियाँ भी हैं—

"हिन्द के व्योम में रक्त की लालिमा
जुल्म की कालिमा आज धोने चली।"

इससे सहज में यह समझ में नहीं आता कि 'लालिमा' को 'कालिमा' धोने चली या 'कालिमा' को 'लालिमा'[1]।

एक स्थान पर लिखा था—'श्री हितहरिवंश जू के प्रशंसात्मक छप्पय की टीका।' इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जिस छप्पय की टीका का उल्लेख है, वह हितहरिवंश जू का बनाया है अथवा हितहरिवंश जू की प्रशंसा में किसी और का बनाया है। प्रसंग से यह बात अवश्य समझ में आ गई थी कि हितहरिवंश जू की प्रशंसा में जो छप्पय बने हैं, उन्हीं की टीका से मतलब है। फिर भी वाक्य की रचना ऐसी थी कि लोगों को धोखा हो सकता था। एक पाठ्य-पुस्तक में एक बार देखा था—'इस संस्था में एक घोड़े की तसवीर है, जिसके द्वारा दस हजार का साँप के काटे का सीरम तैयार कराके बाहर भेजा गया है।' इसमें यह पता ही नहीं चलता कि 'घोड़े की तसवीर' 'के द्वारा सीरम...भेजा गया है।' का क्या अर्थ है। और इसमें 'दस हजार का' भी कितना अस्पष्ट और भ्रामक है! फिर सारे वाक्य की संगति कैसे बैठती है! 'कानून के अनुसार जो रिश्वत देता है, वह भी दंड का भागी है।' का ठीक अर्थ तभी समझ में आवेगा, जब कहा जायगा—'जो रिश्वत देता है, वह भी, कानून के अनुसार दंड का भागी होता है।' 'इस जगह पं० सुन्दर-लाल के अभी आज ही पढ़े लेख का जिक्र करना असंगत न होगा।' से यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक ने आज ही पं० सुन्दरलाल का कोई लेख पढ़ा है; अथवा पं० सुन्दरलाल ने आज कहीं कोई लेख पढ़ा है; और लेखक उसका जिक्र कर रहा है। एक कोश में 'मालिश' के प्रसंग में लिखा था—'मालिश से पक्षा-घात के आरम्भ होने में सहायता मिलती है'। मतलब यह था कि पक्षाघात के

---

[1] जैसा कि आगे चलकर एक स्थान पर बतलाया गया है, 'लालिमा' शब्द दुष्ट और अशुद्ध है।

आरम्भ में मालिश से भी कुछ लाभ होता है। पर वाक्य का अर्थ होता है कि मालिश करके पक्षाघात आरम्भ किया जा सकता है! 'युद्ध का निर्णयात्मक अध्याय में प्रवेश' ऐसा पद है, जिसका अर्थ कम लोग सहज में समझेंगे।

वाक्यों के भ्रामक होने का एक और प्रकार है। कभी-कभी वाक्यों की रचना तो बिलकुल ठीक होती है, पर उसमें कोई शब्द इस ढंग से आ जाता है कि उससे कुछ-का-कुछ अर्थ सूचित हो सकता है। कुछ दिन हुए, एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक देखा था—'लार्ड वेवेल नए हल की तलाश में।' यह 'हल' था तो समस्या के निराकरण के अर्थ में; पर वह खेत जोतने के प्रसिद्ध उपकरण का भी सूचक हो सकता था। जबलपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के समय एक स्वागत-गान गाया गया था, जिसका एक चरण था—'स्वागत करो पसार कर'। इसमें का 'कर' था तो 'हाथ' का वाचक, पर वह 'पसार' के साथ आने के कारण पूर्व-कालिक क्रिया के समान जान पड़ता था। अतः वाक्य-विन्यास में ऐसे भ्रामक प्रयोगों से बचना चाहिए।

ये तो ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक वाक्यों के उदाहरण हैं, जो पाठक या श्रोता को भ्रम में भले ही डाल दें, फिर भी कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य रखते हैं— चाहे वह अर्थ लेखक या वक्ता के आशय के विपरीत ही हो।

निरर्थक वाक्य पर इनसे भी बढ़कर दूषित वे वाक्य होते हैं, जिन्हें लाख प्रयत्न करने पर भी आदमी किसी तरह समझ ही नहीं सकता। 'उन्होंने अपने वक्तव्य में पुलिस के अत्याचारों की पुष्टि की।' में 'अत्याचारों की पुष्टि' का कुछ भी अर्थ नहीं है। ऐसे वाक्य आप पढ़ या सुन भले ही लीजिए, परन्तु आपके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा। उनमें बिलकुल वही 'अन-मिल आखर, अरथ न जापू।' वाली बात होगी। उदाहरणार्थ—

१. समाचार-पत्र प्रति शत के भाव से हमारे यहाँ अभी व्यापार नहीं बन पाये।
२. गाँवों तक समझे जानेवाले साहित्य से हम उच्चता वसूल करने की जिद छोड़कर सम्पर्क स्थापित करें।
३. हम क्यों आँख मूँदते हैं कि अँगरेजी इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है?
४. दूसरी तरफ वे साहित्यिक (!) हैं जिनकी पढ़ने की भूख की तृप्ति

उनकी रोटियाँ बेचकर भी पूरी नहीं होती।

५. ईमान परिस्थितियों के कारीगरों के यहाँ टूट-फूट कर मरम्मत किया जाता रहता है।

६. जिनका शासन ने तिरस्कार किया है, केवल उसी तिरस्कार पर हम अपने कलाकारों को न भुला दें।

७. क्षत-विक्षत सोम-मलय को वन-सीमा पर रखकर रश्मि-धावन के पार खो गया है।

८. अँगरेज हमसे कह रहे हैं कि साम्राज्य ही हमारा अन्तिम सहारा है, यदि हम उन्हें यह विश्वास नहीं दिला देते कि प्रजातंत्र के लिए अपनी जिम्मेदारी पूरी करने में हम किनाराकशी के सिद्धान्त से परिचालित न होंगे।

९. लेकिन जनता को तो उस जालिम के विरुद्ध अधिकार का दृढ़ विश्वास चाहिए, जो स्यात् उतना भी सहृदय न हो।

१०. जिसकी साख आसमानी सुलतानी हरकतों से पैदा हुई बेबसी को छोड़कर बाकी ध्रुव की तरह अचल हो।

११. भारत के विषय में मेरी दृष्टि सच्चे अर्थों में फासिस्ट-विरोधिनी है।

१२. सबको उत्सुकता का मिश्र अनुभूत हुआ।

१३. वह पति के प्रति पीड़ा-ग्रस्त हो उठी।

१४. थोड़ी सी वर्षा से ऋतु-परिवर्तन का मुख्य कारण महायुद्ध से उत्पन्न गैस है।

१५. विरुद्ध चेष्टाओं के प्रति अशंकित ललकार।

१६. बहुमत के हेतु अब प्रसार का मार्ग खुल गया है।

१७. इसका फल यह हुआ कि दंगों की घबराहट में समझौते की चेतना उत्पन्न हुई है।

१८. अन्त में योग्यता द्वारा मेडिकल कालेज में जो प्रवेश पाने में असमर्थ होकर अलीगढ़ में मेडिकल कालेज खोला गया।

१९. आपने बतलाया कि विक्रय-कर धारा सभा से स्वीकृत होने तथा गवर्नर की अनुमति प्राप्त हो चुकने का भय नहीं होना चाहिए।

२०. वे ऐसे विश्वास और परिचय के साथ पाठकों को वहाँ तक ले जाते हैं
कि उनको धक्का बिलकुल नहीं लगता।

आप उक्त वाक्य दो चार बार पढ़ें और उनके आशय समझने का प्रयत्न करें। और यदि आपकी समझ में कुछ भी आशय न आवे तो ऐसी वाक्य-रचना से बचने की प्रतिज्ञा करें।

अब शिथिल वाक्य लीजिए। साधारण शिथिल वाक्य थोड़ा प्रयत्न करने पर समझ में आ जाते हैं। परन्तु जब उनकी शिथिलता बहुत बढ़ी हुई होती है, तब वे भी बहुत कुछ अस्पष्ट और भ्रामक होते हैं। अस्पष्ट वाक्यों की अपेक्षा शिथिल वाक्य कुछ कम दूषित होते हैं; अतः कहा जा सकता है कि अस्पष्टता से शिथिलता कुछ हलका दोष है; फिर भी वह दोष तो है ही। कुछ शिथिल वाक्य बिना किसी प्रकार की कठिनता के समझ में आ जाते हैं; फिर भी वे लेखक की अयोग्यता अथवा असावधानता प्रकट करने के लिए यथेष्ट होते हैं। अतः वाक्यों को शैथिल्य-दोष से बचाने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। शिथिल वाक्यों के कुछ उदाहरण लीजिए—

शिथिल वाक्य

'यदि हम इस युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा से इन्कार ही करते रहेंगे तो उस समय जब हमें पिछड़ा हुआ युद्ध एशिया में चलाने का अवसर होगा, तब उन्हीं लोगों से काम पड़नेवाला है, जिनका हमारे प्रति विश्वास गलित हो चुका होगा।'

यही वाक्य यदि इस रूप में लिखा जाता, तो कितना स्पष्ट होता!—'यदि हम इस युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने से इन्कार करते रहेंगे तो हमें जान रखना चाहिए कि एशिया में पिछड़ा हुआ युद्ध जोरों से चलाने के समय हमें उन्हीं लोगों से काम पड़ेगा, जिनका हमारे प्रति विश्वास गलित हो चुका होगा।'

'देहातों में हफ्ते में एक बार डाक बँटना देशी भाषाओं के पत्रों के फैलने में महान् संकट है।' इस वाक्य का अच्छा रूप यह होगा—'......एक बार डाक बँटना देशी भाषाओं के पत्रों के प्रचार में बहुत बाधक है।' 'कब्रें उखाड़-कर वे ही पीछा पकड़ने का पागलपन करते हैं।' की जगह—'कब्रें खोदकर

(बल्कि गड़े मुर्दे उखाड़कर) वही पीछे मुड़ने (या पिछड़ने ?) का पागलपन करते हैं।' कहना ठीक होगा। 'ऐसे दोनों अवसरों पर जो दोनों एक ही मास के भीतर की घटनाएँ हैं।' की जगह 'ऐसे दोनों अवसरों पर, जो दोनों एक मास में आये हैं......।' अधिक उत्तम होगा। 'यह संस्था ठीक नाजीवाद के समान है।' इसलिए शिथिल और अस्पष्ट है कि संस्था तो सदा किसी दूसरी 'संस्था' के ही समान होगी, 'वाद' के समान नहीं। हाँ, वह नाजीवाद के सिद्धान्तों की अनुगामिनी हो सकती है, अथवा नाजो संस्था के समान। 'नेत्रों के सभी रोगों में सूर्य की किरणें बहुत मूल्यवान् हैं।' का अर्थ तो यही होगा कि सूर्य की किरणें भी एक प्रकार का नेत्र-रोग हैं। वास्तविक आशय यह है कि नेत्र के सभी रोग दूर करने में सूर्य की किरणें बहुत उपयोगी होती हैं; और इस दृष्टि से वाक्य का रूप होना चाहिए—'नेत्रों के सभी रोगों में सूर्य की किरणें बहुत गुणकारी होती हैं।'

ऐसे शिथिल वाक्यों के संशोधन के फेर में न पड़कर यहाँ हम उनके कुछ और उदाहरण दे देना ही यथेष्ट समझते हैं। पाठकों और विशेषतः विद्यार्थियों को स्वयं उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१. तब के बाद हिन्दी बहुत आगे बढ़ी कही मानी जाती है।
२. ग्वालियर अनेक विद्वानों को अपने में रखने का गौरव पाले हैं।
३. हमारा साहित्य गतिशील होने के बजाय, उसे मुहाफिजखानों में रखना पड़े।
४. खाद्य-समस्या के बारे में हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।
५. वह बैठने के विरोध में मानों कुछ और चली जाने को उद्यत-सी दीखी।
६. ब्रिटिश खाद्य-अफसर इस अमेरिकन रिपोर्ट को साफ-साफ इन्कार करते हैं कि भारत-सरकार अमेरिका के खाद्य-बोर्ड को भारत की शोचनीय स्थिति से कायल नहीं कर पा सके हैं।
७. इस प्रकार तुमने जीवों के आश्रयदाता संयमी पिता को चन्दन वृक्ष को कृष्ण सर्प के शिशु के समान दूषित किया।
८. विरुद्ध दृष्टि के प्रति गरम हो जाना उन्हें पसन्द न था।
९. उसकी दाढ़ी में उसे हँसी नहीं रही।

१०. वह सुनने की स्वीकृति में कहती ही गई ।

ये सब उदाहरण ध्यान-पूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य किन कारणों से शिथिल होते हैं। पहली बात तो यह है कि शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ और प्रयोग के ज्ञान का अभाव ही प्रायः वाक्यों को शिथिल करता है। दूसरे, व्याकरण-सम्बन्धी भूलें भी प्रायः वाक्य को शिथिल कर देती हैं; और जो तीसरी सबसे बड़ी बात किसी वाक्य में शिथिलता उत्पन्न करती है, वह है शब्दों का अपने नियत या उचित स्थान से हटकर इधर-उधर होना। सतर्क लेखक इन तीनों दोषों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

अब जटिल वाक्य लीजिए। जटिल वाक्यों के दूषित होने में तो कुछ भी सन्देह नहीं, परन्तु उनका दोष कुछ अवस्थाओं में और कुछ दृष्टियों से क्षम्य होता है। प्रायः ऐसे अवसर आते हैं, जिनमें किसी गूढ़ विषय का विवेचन करते समय अथवा अन्य भाषा से अनुवाद करते समय लेखक को विवश होकर कुछ जटिल वाक्य-रचना करनी पड़ती है। अथवा कभी-कभी ठीक ध्यान न देने से या अभ्यास-वश भी वाक्य जटिल हो जाते हैं। प्रायः वाक्यों का अनावश्यक विस्तार भी उन्हें जटिल बना देता है। ऐसे वाक्य केवल आंशिक रूप में अस्पष्ट होते हैं; थोड़ा प्रयास करने पर उनका ठीक-ठीक अर्थ समझ में आ जाता है। विशुद्ध जटिल वाक्य व्याकरण सम्बन्धी भूलों से रहित होते हैं। यदि लिखते समय पूरी तरह से सतर्क न रहा जाय, तो जटिल वाक्य भी व्याकरण की दृष्टि से दूषित हो सकते हैं—उनमें व्याकरण सम्बन्धी भूलें आ सकती हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे जटिल वाक्यों के उदाहरण देते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं तो बिलकुल शुद्ध, फिर भी जिनका आशय समझने में कुछ कठिनता होती है।

जटिल वाक्य

१. अलबत्ता इस जगह यह बात न देखी जाती थी कि कोसों तक सुस्वादु मीठे फलों से लदे हुए वृक्ष पथिकों के आतिथ्य के लिए अपनी लम्बी और विस्तृत शाखा-रूपी भुजाओं से हवा में झकोरे खा-खाकर उन्हें बुला रहे हों।

२. आधुनिक युद्ध-प्रणाली में किसी स्थान से सेना के हारकर पीछे हटने के समय वहाँ की सब चीजों को पूरी तरह से जलाकर अथवा और

उपायों से इस प्रकार नष्ट कर देना कि वहाँ पहुँचने पर शत्रु को कुछ भी न मिले, 'सर्व-क्षार' कहलाता है।

३. हमें भाषा के द्वारा अपनी इच्छा या आवश्यकता ही नहीं प्रकट करनी पड़ती और उसकी सिद्धि का प्रयत्न अथवा उपाय ही नहीं करना पड़ता, बल्कि और भी ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जिनका इस अवसर पर विवेचन इष्ट न होने और एक बड़ी सीमा तक अप्रासंगिक होने के अतिरिक्त अनुचित और आक्षेप योग्य भी समझा या माना जा सकता है। (यह वाक्य यदि दो वाक्यों में विभक्त हो जाय तो इसकी जटिलता जाती रहे।)

४. उनका त्यागपत्र प्रकाशित हो जाने पर इस संयोग से ऐतिहासिक समानान्तरता की सिद्धि होने पर भी यह आशा की जाना (उर्दू प्रभाव) और भी स्वाभाविक था कि अब प्रत्येक उपयुक्त अवसर आने पर वे निश्चित रूप से प्रजा का ही पक्ष लेने की तत्परता दिखलावेंगे। (जटिल और शिथिल)

५. दूकानदारों के इस कथन पर विश्वास न करने का कोई कारण न होने से जिन मकानों में बिजली नहीं है, उनमें रहनेवाले चिन्तित हो रहे हैं। (जटिल और शिथिल)

६. जो लोग माया और मोह से अपना मन हटाकर गुरु के उपदेश से उसका सारा मल धो डालते हैं और उसे आत्म-स्वरूप में स्थापित कर लेते हैं और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्र में नहीं पड़ता, तब तक तो वह समुद्र से भिन्न और आकार के विचार से उसके सामने बिलकुल तुच्छ जान पड़ता है, पर जब वही नमक समुद्र में मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब उससे अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिसका मन संकल्प-विकल्प के बाहर निकलकर चैतन्य में मिल जाता है, वह पुरुष यद्यपि देखने में देश-काल की मर्यादा के विचार से अन्यान्य लोगों की तरह देह में स्थित जान पड़ता है, तो भी वह अपने आत्म-स्वरूप से तीनों भुवनों को व्याप्त कर लेता है। (केवल विस्तार के कारण जटिल और दुरूह)

७. चूल्हा लोहे या मिट्टी आदि का बना हुआ वह प्रसिद्ध आधार है, जिसका आकार पात्र के सदृश होता है और जिसके नीचे आग जलाकर जिसपर रसोई पकाते हैं। (जटिल होने पर भी विलक्षण)

इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जटिलता बहुत-कुछ वाक्य के विस्तार से सम्बन्ध रखती है। साधारणतः जब कोई बहुत लम्बा वाक्य लिखने का प्रयत्न किया जाता है अथवा आवश्यकता-वश ऐसा वाक्य लिखना पड़ता है, तब प्रायः उसमें जटिलता या दुरूहता आ जाती है। इस दोष से बचने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि जहाँ तक हो सके, छोटे-छोटे वाक्य लिखे जायँ, अथवा एक ही वाक्य के कई छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जायँ; और तब उन्हें भाव तथा संगति के विचार से उपयुक्त स्थानों पर रक्खा जाय। फिर भी यदि कहीं बड़ा वाक्य लिखने की आवश्यकता आ ही पड़े तो सतर्क रहना चाहिए; और उसे दुरूहता से बचाना चाहिए।

कभी-कभी वाक्य में आदि से अन्त तक ठीक तरह से न होनेवाले निर्वाह के कारण ही भाव प्रायः अस्पष्ट रह जाता और वाक्य भद्दा हो जाता है। वाक्य-रचना या वर्णन में इस प्रकार का अनिर्वाह 'प्रक्रम भंग' कहलाता है। यह

अनिर्वहित वाक्य

अनिर्वाह दो प्रकार का होता है - शब्द-गत और अर्थ-गत। अथवा हम कह सकते हैं कि पहले प्रकार में तो व्याकरण-सम्बन्धी भूलें होती हैं; और दूसरे प्रकार में अर्थ या भाव-सम्बन्धी। पहले प्रकार में वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें वाक्य उठता तो प्रायः ठीक है, पर मध्य या अन्त में जाकर बिगड़ जाता है। ऐसे वाक्यों में या तो शब्दों का चुनाव दूषित होता है या वाक्य की रचना। जैसे—

'वह वस्तुतः काव्य की सीमा, उसका स्वरूप, उसकी धारणाएँ आदि का पता देनेवाली है।' केवल व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध और अनिर्वहित वाक्य है। इसका शुद्ध रूप होगा—'वह वस्तुतः काव्य की सीमा, उसके स्वरूप और उसकी धारणाओं आदि का पता देनेवाली है।' इसी प्रकार के कुछ और वाक्य लीजिए—

१. उन्होंने कबीर आदि झाड़-फटकार के द्वारा चिढ़ानेवाले सिद्ध

हुए संतों के साथ इनकी तुलना की है।

२. चावल की फसल कटने लग जाने पर भी सरकार अपनी योजना लागू करने सम्बन्धी कठिनाई समझ रही थी।

३. आज-कल दो लाख आदमियों को नित्य गल्ला खरीदने की हालत है।

४. आज दस लाख हिन्दू सिन्ध से भागने की दशा में पड़े हैं।

५. केवल ऐसा करने से ही भावुकता को स्थान नहीं हो जाता।

६. साल से मढ़े अस्थि-पंजरों का दम तोड़ता समूह देहातों में मौत का तहलका मचा रहा था।

७. लेकिन आज तो दो लेखों पर ही गुरु-चेलों की जूती-पैजार होते देखी जाती है।

८. आप कैसे यह कह सकते हैं कि स्थिति के संबंध में स्वाँग नहीं बनाया गया है!

९. भारत चाहता है कि वह भी माल तैयार करने की दशा में हो।

१०. एक भावुक जो काम-धंधे में जकड़ दिया गया था, किन्तु उसकी लेखनी यहाँ भी भावुकता का परिचय देने लगी।

११. ऐसा दारुण अन्न-कष्ट कभी नहीं देखा गया, जैसी भयंकर दशा आज उत्पन्न है।

१२. इस विभाग के इतने आदमी ऐश कर रहे हैं कि सर ज्वाला जैसी रईस तबीयत के लोग किस तरह इन लोगों का दामन छोड़ें।

१३. वे जब टोकियो आये, तब अपने साथ कई मित्रों को ले गये।

१४. लीग को एक ऐसे निर्णय में बाँध दिया गया है कि मुसलमानों का हित नहीं हो सकता। ('कि' की जगह 'जिससे' होना चाहिए।)

१५. वहाँ एक ऐसे षड्यन्त्र का पता लगा है, जो रजाकारों की भर्ती का प्रयत्न कर रहे थे।

स्पष्ट है कि ऊपर के वाक्यों की रचना ठीक तरह से नहीं हुई है; उनमें शब्दों का चुनाव और विन्यास ठीक तरह से नहीं हुआ है; उनमें प्रवाह भी ठीक नहीं है; और भाषा बोल-चाल की दृष्टि से बेढंगी है।

अनिर्वहित वाक्यों का दूसरा प्रकार वह होता है, जिसमें एक वाक्य या वाक्यांश की दूसरे वाक्य या वाक्यांश से, अर्थ की दृष्टि से, संगति नहीं बैठती। जैसे—'पुस्तक में जहाँ-तहाँ भाषा-सम्बन्धी भूलें बहुत हैं। प्रूफ देखने में अधिक सावधानी होनी चाहिए थी।' पर 'भाषा-सम्बन्धी भूलें' कुछ और होती हैं; 'प्रूफ देखने की सावधानी' न होने के कारण होनेवाली 'भूलें' कुछ और। 'भारत के सभी भागों में मुसलमान सुरक्षित हैं; और उनका विश्वास है कि आगे भी उन्हें यह प्राप्त रहेगी।' में पहले वह संज्ञा ही नहीं आई है, जिसका सूचक 'यह' सर्वनाम आया है। अतः यहाँ या तो 'यह' की जगह, या उसके बाद, 'सुरक्षा' शब्द होना चाहिए। इसी वर्ग में यह वाक्य भी आता है—'उन्हें दो रोग पकड़ लेते हैं—थाइसिस या प्रेम!' होना चाहिए—'......दो में से कोई एक रोग पकड़ लेता है..........।'

इसी से मिलता-जुलता उर्दू का शेर है—

"ऐ तीरे निगह आकर, दो काम किये तूने।
लगते ही कलेजे में ली दिल की खबर तूने॥"

पर अन्तिम चरण एक ही काम का सूचक है, दो कामों का नहीं। दो काम तो तब होंगे, जब कहा जायगा—(१) तू आकर कलेजे में लगा; और (२) तूने दिल की खबर ली। 'कलेजे में लगते ही तूने दिल की खबर ली' कहने से दो अलग कार्य सिद्ध नहीं होंगे। 'उन्हें विश्वास दिलाया गया कि जब कभी जरूरत हो, इस्लाम सरकार की सेवा करने को हम हर समय उपस्थित हैं।' में 'जब कभी' और 'हर समय' की संगति नहीं बैठती। अतः यह भी, अर्थ की दृष्टि से, अनिर्वहित वाक्य है।

आगे बढ़ने से पहले हम यहाँ अनिर्वहित वाक्यों के सम्बन्ध में एक-दो बातें और बतला देना चाहते हैं। पहली और स्पष्ट बात यह है कि भाषा पर जिन लोगों का यथेष्ट अधिकार होता है, उनकी कलम से अनिर्वहित और किसी प्रकार के दूषित वाक्य जल्दी निकलते ही नहीं। अथवा यदि किसी अवसर पर दृष्टि-दोष से निकल भी जायँ तो वे तुरन्त और सहज में उन्हें सुधार लेते हैं। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि वाक्य आरम्भ करने पर जब लेखक उसके मध्य या अन्त तक पहुँचने को होता है, तब उसे पता चलता है कि अपने

इस रूप में वाक्य का ठीक तरह से निर्वाह न होगा—यह अनिर्वहित हो जाएगा। उस समय उसे वह वाक्य काटकर फिर नये सिर से लिखना पड़ता है। पर अधिक सक्षम लेखक लिखे हुए को काटकर फिर से लिखना अच्छा नहीं समझते; और इसी लिए वे बीच में ही वाक्य का प्रवाह या विन्यास ऐसे सुन्दर ढंग से बदल देते हैं कि उसका ठीक तरह से निर्वाह हो जाता है—वह अनिर्वहित नहीं होने पाता। यहाँ इस बात का उल्लेख इसी लिए किया गया है कि नये लेखक वाक्य-विन्यास के इस तत्त्व से भी परिचित रहें और भाषा पर इस प्रकार का अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करें कि वे अनिर्वहित हो चलनेवाले वाक्य की गति बीच में ही बदलकर उसका ठीक तरह से निर्वाह कर सकें और व्यर्थ की काट-कूट से बच सकें।

कभी-कभी लोग वाक्यों में ऐसे शब्द ले आते हैं, जिनकी अन्य शब्दों या क्रियाओं के साथ संगति नहीं बैठती। जैसे—'इस श्लोक में स्त्री के विभिन्न अंगों और क्रियाओं के संस्पर्श से वृक्षों के पुष्पित होने का उल्लेख है।' यहाँ सोचने की बात यह है कि अंगों का संस्पर्श तो ठीक है, परंतु क्रियाओं का संस्पर्श कैसा होता है? इसी प्रकार का एक और वाक्य है—'यह सुदूर की संस्थाओं और व्यक्तियों के कार्यों के अनुवाद करके अपने पत्र में देता है।' इसमें संस्थाओं और व्यक्तियों के कार्यों के अनुवाद का क्या अर्थ है? 'गन्धर्व वृक्षों के और अप्सराएँ उर्वरता की अधिष्ठात्री देवियाँ मानी जाती थीं।' तभी ठीक होगा जब 'और' के पहले 'अधिष्ठाता देवता' हो।

निरर्थक शब्द और पद

कभी-कभी बिलकुल फालतू या निरर्थक शब्दों की भरती से ही वाक्य भद्दे हो जाते हैं। 'यथार्थ में वे महर्षि धन्य हैं कि जिन्होंने ये ग्रंथ बनाये।' और 'मैं इसका वह अर्थ नहीं लगाता जो कि आप लगाते हैं।' में 'कि' बिलकुल व्यर्थ है। 'बात तो यह है........' में 'तो' निरर्थक है। 'यहाँ जो निराशावाद छाया हुआ है......।' में 'वाद' फालतू है। होना चाहिए—'यहाँ जो निराशा छाई हुई है......।' 'उत्सव के रंग में भंग' में 'उत्सव के' फालतू ही नहीं, बल्कि भ्रामक भी है! 'आज तुम ससुराल जा रही हो, अतः जाओ' में 'अतः' फालतू है। 'मयूरी को प्रलुब्ध करने के लिए पुरुष मयूर नृत्य करता है।' में

जब मयूर और मयूरी दोनों मौजूद हैं, तब मयूर के साथ 'पुरुष' विशेषण लगाना व्यर्थ है। 'जनता ने विराट् जलूस का प्रदर्शन किया' सरीखे वाक्य भद्दे होने के सिवा अर्थ के विचार से भी निकृष्ट होते हैं।

किसी नेता की मृत्यु पर एक पत्र में उनकी संक्षिप्त जीवनी निकली थी। उसमें लिखा था कि अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त 'आप तत्काल अपने छोटे बच्चों के माँ-बाप दोनों बन गये।' यह न सोचा गया कि वे उन बच्चों के बाप तो पहले से थे ही; फिर नये सिर से बाप कैसे बने! यहाँ साहित्य-दर्पणकार की एक बात याद आ गई। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि 'भवानीश' कहना इसलिए ठीक नहीं है कि 'भवानी' शब्द का अर्थ ही है—भव की पत्नी अर्थात् पार्वती। भवानीश का अर्थ होगा—'भव की पत्नी के पति' और यह भाव दूषित होने के कारण त्याज्य है। पर गोस्वामी तुलसीदास जी तक लिख गये हैं—

त्रयःशूल निर्मूलनं शूलपाणिम्। भजेहं भवानीपति भावगम्यं॥

साहित्य दर्पणकार के बाद के साहित्यकारों ने 'भवानी' को एक शब्द और नाम मानकर 'भवानी-पति' और इससे मिलते-जुलते प्रयोगों को ठीक सिद्ध किया है। फिर भी इस प्रकार के प्रयोगों की विचारणीयता बनी ही रहती है।

यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ और ऐसे वाक्य दिये जाते हैं, जिनमें या तो फालतू शब्दों का प्रयोग हुआ है या भद्दे और बे-मेल शब्दों का।

१. उसके कार्य-कलाप से लोगों पर बड़ी-बड़ी आफतें आईं।
२. तीस साल पहले बंगाल में प्रति व्यक्ति के मत्थे ३८४ पाउंड चावल पैदा होता था।
३. चोर बाजार की आस्मानी कीमत से चावल खरीद सकने की सार्थकता लोगों में नहीं रह गई।
४. कुन्ती ने वहीं से इन पुत्रों की आमदनी की थी।
५. उनकी एक आँख कानी थी।
६. बिना दवा के संग्रहणी समाप्त हो गई।
७. वे इन सब चीजों की तैयारी करने में विशेषज्ञ थे।
८. इसका इलाज लगातार रूप से करना चाहिए।

९. उनकी प्रखर बुद्धि-शक्ति हर काम में प्रकट होती है।

व्यर्थ के और फालतू शब्दों के प्रसंग में एक और बात है। एक साहित्यज्ञ का कहना है कि 'आप अपने मन में सोचें' में 'अपने' शब्द फालतू है, क्योंकि सोचा सदा अपने ही मन में जाता है, पराये मन में नहीं। परन्तु इस तर्क में विशेष सार नहीं है। हम प्रायः कहते हैं—'यह चीज आप अपने हाथ से उन्हें दीजिए।' अथवा 'जरा आँख से देखो।' इन वाक्यों में 'अपने' और 'आँख से' के कारण कुछ विशेषता आ गई है, अतः हम इन्हें निरर्थक नहीं कह सकते। हाँ 'वह अपने कपड़े बदलने चली' में 'अपने' अवश्य फालतू है। और 'आप अपनी तशरीफ ले जायँ' में 'अपनी' व्यर्थ है। 'उसकी आवाज कान में सुनाई पड़ी।' में या तो 'कान में' फालतू है, या 'सुनाई' निरर्थक है। 'वह खाने-पीने के व्यंजन बनाने में मदद दे रही थी' में 'खाने-पीने के' फालतू है; क्योंकि व्यंजन सदा खाने-पीने के ही होते हैं।

वाक्य-विन्यास में एक और प्रकार की भूल द्विरुक्तियों के कारण होती है। ये द्विरुक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। पहले प्रकार में हम वे द्विरुक्तियाँ ले सकते हैं जो शब्द-गत होती हैं। अर्थात् एक ही वाक्य में एक ही शब्द दो बार आता है, जिससे वाक्य भद्दा हो जाता है। इस प्रकार की सबसे भद्दी भूल एक दैनिक-पत्र में इस रूप में मिली थी—'यह आवश्यक है कि युद्ध की समाप्ति पर शान्ति और सुरक्षा के लिए बनी योजना में संशोधन करना आवश्यक है।' और इससे मिलता हुआ वाक्य एक दूसरे पत्र में देखा था—'आपमें जिन आवश्यक गुणों की आवश्यकता है......।' या तो होना चाहिए था—'जिन आवश्यक गुणों की कमी है' या 'जिन गुणों की आवश्यकता है'। इस प्रकार की भूलों के कुछ और उदाहरण लीजिए—

दो प्रकार की द्विरुक्तियाँ

१—मुसलमान लोगों में जो लोग अत्यंत धर्म-परायण थे।

२—विश्व-व्यवस्था के आधार स्वरूप रूप में पक्का समझौता हो जाय।

३—उसने निश्चित रूप से यह रूप धारण कर लिया था।

४—दो वर्षों के बीच भारत और ब्रिटेन के बीच जो कटुता हुई है।

५—इस प्रकार वह अनेक प्रकार के बहाने बनाने लगा।

६—इसी रूप में वह जुदा-जुदा प्रान्तों में जुदा-जुदा रूप लेती है।

७—भारत-सरकार ने एक आदेश निकालकर उन्हें यह आदेश दिया है कि ...।

८—यही वे कारण हैं, जिनके कारण हैदराबाद में अशान्ति बढ़ रही है।

९—आपने अपने २५ ता० के लिखे हुए पत्रों में लिखा है।

द्विरुक्ति दोष का दूसरा प्रकार वह है, जो अर्थ से संबंध रखता है। अर्थात् जब वाक्य में एक ही अर्थ या भाव सूचित करनेवाले दो शब्द साथ-ही-साथ लाये जाते हैं, तब यह दोष होता है। कभी-कभी ऐसी द्विरुक्ति भ्रामक भी हो सकती है। जैसे—'कुछ मस्त नहीं अँखियाँ हमरी, कुछ नैन नहीं हमरे मत-वारे।' से यह भ्रम हो सकता है कि 'अँखियाँ' कुछ और चीज हैं, 'नैन' कुछ और। यदि इस प्रकार का भ्रम न भी उत्पन्न हो, तो भी वाक्य भद्दे अवश्य हो जाते हैं। एक बार एक सज्जन ने विद्वानों की एक सभा में कहा था—'मैं इस प्रस्ताव का समर्थन और अनुमोदन करता हूँ।' यह ठीक है कि वास्तव में 'समर्थन' और 'अनुमोदन' में वही अन्तर है जो Second और Support में है; पर वक्ता ने दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया था। और फिर समर्थक तथा अनुमोदक अलग-अलग व्यक्ति होते हैं। कुछ और उदाहरण लीजिए।

१—कदाचित् यदि वह मान-पत्र ठीक भी सिद्ध हो......।

२—वहाँ बहुत से लोग बेहाल दशा में पड़े थे।

३—देश की वर्तमान मौजूदा सामाजिक परिस्थिति......।

४—वेदव्यास ने यहीं बैठकर अपनी रचनाओं की सृष्टि की थी।

५—माँ भी सोती नींद से जाग पड़ी।

६—वे गुनगुने गरम पानी से स्नान करते हैं।

७—वे सब काल-चक्र के पहिये के नीचे पिस गये।

८—वहाँ प्लेग के खतरे का डर है।

९—उसकी मर्यादा की सीमा टूट गई।

१०—अपनी चातुरी और शक्ति-बल से उन्होंने वह काम कर डाला।

११—जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, वे नेपाल में पाये गये हैं।

१२—शौनकादि प्रभृति शास्त्र-ग्रंथों के अनुसार......।

१३—सरकार की उस पर आलोचना चाहने की इच्छा नहीं थी।

१४—न जाने कितने बेशुमार जीव पैदा हो गये।

१५—अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा बाँधकर रख लिया।

१६—वे अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करना चाहते हैं।

१७—बहुत से लोग आपके विवाहोत्सव समारोह में सम्मिलित हुए थे।

१८—इस प्रान्त में गोवंश की नसल सुधारने का प्रयत्न होगा।

१९—आपका भवदीय। (पत्र के अंत में)

वाक्य वही सुंदर होते हैं, जिनमें आदि से अंत तक एक ही मेल के शब्दों का प्रयोग हो। एक ही वाक्य में कई तरह के या कई भाषाओं के बे-मेल शब्दों का प्रयोग वाक्य-विन्यास का बड़ा दोष है।

बे-मेल शब्द-योजना

'प्रति' के साथ 'दिन' ही भला लगेगा, 'रोज' नहीं। 'सज्जन पुरुष' की जगह 'शरीफ पुरुष' सरीखे पद रखने से वाक्य भद्दे होते ही हैं, उनसे लेखक की असावधानता और उसके शब्द-भंडार की अल्पता भी सूचित होती है। कुछ और उदाहरण लीजिए—

१—आज-कल वहाँ काफी सरगरमी दृष्टिगोचर हो रही है।

२—वह सब उसके शिकम में विलीन हो जाता है।

३—नेचर के जर्रे-जर्रे पर नये जोबन का प्लावन था।

४—इसकी हर लाइन जिन्दादिली से परिपूर्ण है।

५—अलौकिक की लौकिक पर हावी होने की स्कीम नहीं है।

६—वे वैज्ञानिक अन्वेषणों में अजहद दिलचस्पी रखते थे।

७—वकीलों ने कागजात का निरीक्षण किया।

८—शीघ्र ही सनसनीखेज भीषण युद्ध छिड़ने की सम्भावना है।

९—उनका भंडार निखिल न्यामतों से भरा था।

१०—साहित्य को अत्युच्च पैमाने पर पहुँचाना चाहिए।

११—अत्यधिक-ह्रास के बावजूद भी...
१२—प्रबल विरोध के बावजूद भी...
} इनमें 'के बावजूद' की जगह 'होनेपर' से काम चल सकता है।

१३—महाशय, आप कहाँ तशरीफ ले जायँगे ?

१४—वे अपने कर्त्तव्य की पाबन्दी का बहुत ध्यान रखते थे ।

१५—परम पेचीदा वैधानिक मसलों पर विचार...... ।

१६—समर्थ भारत सरकार की हैरत-अंगेज मुफलिसी ।

१७—बृहद् पैमाने पर जन-परिवर्तन की व्यवस्था ।

आज-कल लेखों आदि में अँगरेजी शब्दों के प्रयोग करने की प्रथा भी खूब चल रही है । विशेषता यह है कि ऐसे प्रयोग करनेवाले शब्दों के आगे उनकी व्याख्या करने या अर्थ देने की भी आवश्यकता नहीं समझते । मानों वे यह मान लेते हैं कि हमारी ही तरह हमारे पाठक भी इन शब्दों के अर्थ जानते हैं और ये शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत आ गये हैं । एक समाचार-पत्र में एक बार निकला था—"दिल्ली में इसके लिए एड हाक कमेटी बुलाई गई है ।"

वाक्यों में अँगरेजी शब्द

पर हिन्दी क्या, अँगरेजी के भी बहुत से साधारण पाठक एड हाक (ad hoc) का ठीक अर्थ न जानते होंगे । हिन्दी में इसकी जगह 'तदर्थ समिति' होना चाहिए । कुछ ऐसे साहसी लोग भी हैं जो अँगरेज़ी भाषा से बिलकुल अपरिचित होने पर भी सिर्फ देखा-देखी और आज-कल का फैशन समझकर ऐसे शब्दों के प्रयोग करते हैं । ऐसे ही एक सज्जन ने कहा था—हम इस टेकनीक की थ्योरी पर विश्वास नहीं करते ।

साहित्य में आये हुए अँगरेजी शब्दों से युक्त कुछ वाक्य देखिए—

१. मोटर का टायर बर्स्ट हो गया ।

२. ये सब ग्रन्थ क्लासिक माने जाते हैं ।

३. उनपर इन बातों का हिस्टिरिक प्रभाव पड़ा ।

४. हमें चाहिए कि हम अपने साहित्य की स्पिरिट समझें ।

५. यह वेस्टर्न पेनिन्सुला में नासिक से उत्तर सरकार तक होता है

६. उन्होंने सीलोन से लोअर ब्रह्मा तक यात्रा की थी ।

७. स्थान के प्रोपोर्शन का सौन्दर्य बिगड़ गया ।

८. लाईट और शेड का आइडिया फोटोग्राफर को खाक भी न था ।

९. आपका तो इंप्रेशन परफेक्ट है ।

हमने अच्छे अच्छे लेखकों को अपने वाक्यों में एब्सकांड, फारमैलिटी, म्यूजिक, स्कीमिंग, प्रोग्रेस, एटिकेट, एक्सिडेन्ट आदि शब्दों का प्रयोग करते देखा है; और वह भी कभी-कभी रोमन लिपि में। एक अच्छी पुस्तक में पढ़ा था—"यह ग्रंथ उससे कम अच्छा और inferior मान लिया गया था।" कुछ लोग इससे भी और आगे बढ़कर अँगरेजी संज्ञाओं से बने हुए विशेषणों तक का वाक्यों में प्रयोग करने लगे हैं। एक समाचार पत्र में देखा था—'रैशण्ड गल्ले की दुकानों पर......।' यह प्रवृत्ति परम दूषित और सर्वथा त्याज्य है।

भ्रामक कारण या फल

वाक्य-विन्यास में और भी अनेक प्रकार के दोष होते हैं। उनमें से एक प्रकार का दोष है—भ्रामक कारण-निर्देश। हम एक बात कहते हैं, परन्तु ऐसे ढंग से कहते हैं कि उसका कारण या फल कुछ-से-कुछ प्रतीत होने लगता है। यह बात प्रायः अँगरेजी ढंग की वाक्य-रचना के कारण होती है। उदाहरण के लिए एक प्रतिष्ठित लेखक का एक वाक्य है—'राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत-यात्रा ने इन संस्कृत ग्रंथों की संख्या को और भी बढ़ा दिया है।' लेखक महोदय का आशय तो यह है कि राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत में बहुत से नये ग्रंथ मिले हैं; और इस कारण इस प्रकार के ग्रंथों की संख्या और भी बढ़ गई है। परन्तु वाक्य-रचना से ऐसा जान पड़ता है कि मानों स्वयं राहुल जी की यात्रा ने ही उन ग्रंथों की संख्या बढ़ा दी हो! इसी प्रकार का एक और वाक्य है—'उसने मौर्यों की राजधानी का विशद वर्णन किया है, क्योंकि वह कई वर्षों तक वहाँ रहा था।' मानों मौर्यों की राजधानी में बहुत दिनों तक रहने से ही किसी में उसका विशद वर्णन करने की योग्यता आ जाती हो; अथवा कई वर्षों तक कहीं रहने के कारण ही कोई वहाँ का विशद वर्णन करने के लिए विवश होता हो। इसमें का 'क्योंकि' बहुत ही भ्रामक है। होना चाहिए—'वह बहुत दिनों तक मौर्यों की राजधानी में रहा था; इसने उसका विशद वर्णन किया है।'

इसी से मिलते-जुलते वे वाक्य होते हैं, जिनसे भ्रामक निष्पत्ति होती है। जैसे—

१. आप अपनी पत्नी और दो पुत्रों के अतिरिक्त शोकाकुल परिवार छोड़ गये हैं। (क्या पत्नी और पुत्र शोकाकुल नहीं हैं?)

२. साहित्य एक नदी की तरह है जो मैदानों की भाँति देश के प्राणियों के मस्तिष्कों का सिंचन (!) करता है। (क्या मैदान प्राणियों के मस्तिष्क का सेचन करते हैं?)

३. आज़ाद फौज के गिरफ्तार किसी बन्दी को दण्ड दिया गया तो जन-मत को क्षुब्ध करने के सिवा दूसरा लाभ न होगा। (मानों जन-मत को क्षुब्ध करना भी लाभ है और पहला लाभ है।)

अपेक्षक वाक्य

कभी-कभी लोग असावधानी से ऐसे वाक्य लिख जाते हैं जो यों पूरे मालूम होने पर भी वस्तुतः अधूरे होते हैं और जिनमें भाव स्पष्ट करने के लिए कुछ और शब्दों की अपेक्षा रहती है। ऐसे वाक्यों को हम अपेक्षक वाक्य कह सकते हैं। जैसे—'जो दरजा हिन्दी में तुलसी का, उर्दू में गालिब का और ग्रीक में होमर का है, वही आपका है।' में अन्तिम वाक्यांश अपेक्षक है। उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि 'आप' का वह दरजा कहाँ या किसमें है। 'वह तो मेल-जोल बढ़ाना चाहते हैं, पर आपका मुँह देखने को जी नहीं चाहता।' में यह स्पष्ट नहीं होता कि 'आपका' किसके लिए आया है। इसलिए अन्तिम वाक्यांश का रूप होना चाहिए—'पर आप उनका मुँह नहीं देखना चाहते।' 'अँगरेजी राज्य की स्थापना के अनन्तर अँगरेजी शब्दों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती गई है।' भी अधूरा वाक्य है। वास्तव में लेखक का आशय यह है कि जब से हमारे देश में अँगरेजी राज्य स्थापित हुआ है, तब से हमारी भाषा में अँगरेजी शब्दों की संख्या बढ़ रही है। पर वाक्य के अधूरेपन के कारण उससे यह आशय नहीं निकलता। 'मद्रास के सिवा देश की खाद्य स्थिति सन्तोषजनक है' का अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक 'देश' के पहले 'बाकी सारे' न हो।

वाक्यों में क्रम

कुछ लोग वाक्यों में क्रम का ध्यान नहीं रखते। पहले दो-तीन कर्त्ता दे दिये और तब क्रम का ध्यान रक्खे बिना उनके कर्म या क्रियाएँ दे दीं। जैसे—'ऐसे चित्रों में किसी व्यक्ति या घटना के दृश्य या रूप का ही अंकन प्रधान

होता है ।' 'व्यक्ति' का 'रूप' होता है, 'दृश्य' नहीं, और इस प्रसंग में 'घटना' का 'दृश्य' ही होगा, 'रूप' नहीं । अतः होना चाहिए—'व्यक्ति या घटना के रूप या दृश्य..... ।' ऐसा ही एक और वाक्य है—'वहाँ बहुत से पशु और पक्षी उड़ते और चरते हुए दिखाई दिये ।' इस वाक्य में यदि 'पशु' पहले है तो उसका कर्म 'चरना' भी पहले होना चाहिए; और यदि 'पक्षी' बाद में है तो उसका कर्म 'उड़ना' भी बाद में होना चाहिए । हास्य-रस के एक लेख में पढ़ा था—'उनके प्रेम और मेरी यात्रा का सास और दामाद का सम्बन्ध हो गया था, पर 'प्रेम और यात्रा' के बाद 'दामाद' और 'सास' होना चाहिए था । या यदि 'सास और दामाद' ही रखना था, तो फिर उससे पहले 'यात्रा और प्रेम' रखना चाहिए था ।

व्याकरण के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—साधारण, मिश्र और संयुक्त । ऐसे छोटे वाक्य, जिनमें एक ही संज्ञा और एक ही क्रिया हो, और जिनसे एक ही घटना सूचित या एक ही विचार प्रकट होता हो, साधारण वाक्य कहलाते हैं । वाक्य-विश्लेषण के प्रसंग में ऐसी संज्ञा को उद्देश्य और ऐसी क्रिया को विधेय कहते हैं । 'मैं वहाँ जाऊँगा ।' या 'आप पुस्तक भेज दीजिएगा ।' आदि साधारण वाक्य हैं । इनसे एक ही विचार प्रकट होता है; और वह भी ऐसा ही विचार प्रकट होता है, जो दो वाक्यों में प्रकट नहीं किया जा सकता । यदि हम ये विचार दो वाक्यों में प्रकट करना चाहें तो हमें इनमें कुछ नये विचार भी सम्मिलित करने पड़ेंगे । परन्तु सभी वाक्य इतने छोटे और सरल नहीं हो सकते । प्रायः ऐसे बड़े वाक्य भी होते हैं, जिनमें मुख्य विचार तो एक ही होता है, पर उसी से सम्बन्ध रखनेवाला कोई गौण विचार भी लगा रहता है । अर्थात् ऐसे वाक्यों में मुख्य उपवाक्य के साथ कुछ आश्रित उपवाक्य भी रहते हैं । वे 'मिश्र-वाक्य' कहलाते हैं । जैसे—'मैं तुम्हें भी वहीं भेज दूँगा, जहाँ वह गया है ।' ऐसे वाक्यों के प्रायः दो वाक्य सहज में बन सकते हैं । हम यह भी कह सकते हैं—'उन्होंने अपने नौकर को इसलिए मारा कि वह उनके कपड़े चुरा ले गया था ।' और यह भी कह सकते हैं—'उन्होंने अपने नौकर को मारा । वह उनके कपड़े चुरा ले गया था ।' संयुक्त वाक्य उन्हें कहते हैं, जिनमें कई प्रधान उप-वाक्य और उनके साथ कई

आश्रित उप-वाक्य भी होते हैं। ऐसे वाक्यों में दो या अधिक मुख्य विचार तथा उनके साथ कुछ गौण विचार भी होते हैं। अर्थात् जब हम दो-चार वाक्यों में कही जाने योग्य बातें एक-साथ रखकर एक ही वाक्य में कहते हैं, तब वह वाक्य 'संयुक्त वाक्य' कहलाता है। जैसे—'मैं उन लोगों को ठीक रास्ते पर लाना चाहता था, इसलिए मैं भी वहीं रुककर उनसे बातें करने और उन्हें समझाने-बुझाने लगा।' कभी कभी लोग संयुक्त वाक्य और मिश्र वाक्य एक ही में मिलाकर लिख जाते हैं। जैसे—'वह मिल जाने पर मुफ्त की चीज ले तो लेता था, पर उसके लिए किसी के आगे हाथ नहीं पसारता था, यदि इस वाक्य में से 'मिल जाने पर' और 'किसी के आगे' उपवाक्य निकाल भी दिये जायँ, तो भी बाकी बचा हुआ अंश 'संयुक्त वाक्य' रह जायगा।

मिश्र वाक्यों के दोष

व्याकरण की जटिलताओं से अपने विवेचन को बचाना आरम्भ से हमारा सिद्धान्त रहा है। इसलिए यहाँ भी हम व्याकरण सम्बन्धी जटिलताओं के फेर में न पड़कर यही बतलाना चाहते हैं कि मिश्र वाक्यों में किस प्रकार के और किन कारणों से दोष आते हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो मिश्र तथा संयुक्त वाक्य प्रायः दो कारणों से दूषित होते हैं। एक तो उनके उपवाक्यों का अपने ठीक स्थान पर न होकर कुछ आगे-पीछे होना। जैसे—

१. इस पुस्तक में साधारण लेखकों से जो गलतियाँ होती हैं, उनका अच्छा विवेचन है। (होना चाहिए—साधारण लेखकों से जो गलतियाँ होती हैं, उनका इस पुस्तक में अच्छा विवेचन है।)

२. 'यह चित्र श्री शारदा जी जब नागौद पधारे थे, उस समय का है। (होना चाहिए—यह चित्र उस समय का है, जब श्री शारदा जी नागौद पधारे थे।)

३. किसी अवसर पर किसी ऐसे काम के लिए स्वतन्त्रता जो और अवसरों पर निषिद्ध हो, प्राप्त होती है। (होना चाहिए—किसी अवसर पर किसी ऐसे काम के लिए भी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, जिसके लिए और अवसरों पर वह निषिद्ध (या वर्जित) होती है।)

४. इस परिश्रम का बदला अपने कार्य से मनुष्य को जो संतोष होता है, वही है। (होना चाहिए—अपने कार्य से मनुष्य को जो संतोष होता है, वही

उसके लिए होनेवाले परिश्रम का बदला है।)

५. इधर मेरे देखने में बहुत-से ऐसे ग्रन्थ, जो तीसरी से छठी शताब्दी तक लिखे गये थे, और जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए, आये हैं। (होना चाहिए—इधर बहुत से ऐसे ग्रन्थ मेरे देखने में आये हैं, जो ....।)

६. महात्मा जी कार्य समिति के सदस्यों से पहले यह वादा करा लेने पर ही कि बात-चीत का विषय केवल अगस्त प्रस्ताव वापस लेने का होगा, मिलने दिये जायँगे। (वाक्य शिथिल और दूरान्वयी तो है ही, इसमें 'ही कि' का प्रयोग तो बहुत ही भद्दा है।)

दूसरे, जब इस प्रकार के वाक्यों में उद्देश्य से विधेय या कोई पद अथवा उप-वाक्य अपने उपयुक्त स्थान से इतनी दूर जा पड़ता है कि उसका सम्बन्ध निश्चित करना या अन्वय करना कठिन हो जाता है, तब वे भद्दे होने के अतिरिक्त प्रायः भ्रामक भी हो जाते हैं। जैसे—

१. अधिकांश धातु की वस्तुएँ साफ करके यथा-स्थान रख दी गई थीं। (क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि वही वस्तुएँ साफ करके यथा-स्थान रक्खी गई थीं जो अधिकांश (या अधिकतर ?) धातु की बनी हुई थीं ? होना चाहिए—धातु की अधिकतर वस्तुएँ साफ करके......।)

२. एक ऐसे मिस्तरी की आवश्यकता है जो कपड़ा धोनेवाला और टायलेट साबुन तैयार करनेवाला हो। (साधारणतः इसका अर्थ यही होगा कि ऐसे मिस्तरी की आवश्यकता है जो कपड़ा धोनेवाला हो; और टायलेट साबुन तैयार कर सकता हो। होना चाहिए......जो कपड़े धोने के और......।)

३. निद्रा से उठे हुए ब्रह्मा को मत्स्येन्द्र रूप-धारी दानवों के शत्रु विष्णु ने प्रणाम किया। (इसका तो यही अर्थ होता है कि विष्णु सब दानवों के शत्रु नहीं थे, बल्कि केवल ऐसे दानवों के शत्रु थे, जिन्होंने मत्स्येन्द्र का रूप धारण कर रक्खा था। लेखक का वास्तविक आशय यह है कि मत्स्येन्द्र रूप-धारी विष्णु ने, जो दानवों के शत्रु थे, ब्रह्मा को प्रणाम किया।)

४. खेद है कि भारत सरकार तक अपनी पुरानी परम्परा पर चल रही है और तुम उसे तोड़ना चाहते हो। (लेखक का वास्तविक आशय यह है

कि पुरानी परम्परा पर चलना ही ठीक है। भारत-सरकार तक उसी परम्परा पर चल रही है; परन्तु खेद है कि तुम वह परम्परा तोड़ना चाहते हो। पर वाक्य की रचना से यह प्रकट होता है कि मानों भारत-सरकार के परम्परा पर चलने पर ही खेद प्रकट किया जा रहा हो; और 'तुम उसे तोड़ना चाहते हो' कहकर कुछ समाधान-सा प्रकट किया गया हो। इसके सिवा इस वाक्य में 'परम्परा' के साथ 'पुरानी' विशेषण भी फालतू ही है।)

५. वह शिलालेख उसने अपनी भोजन शाला में खुदवाकर जड़वाया था। (इसका अर्थ तो यही होगा कि शिलालेख उसकी भोजन-शाला में ही खोदा गया था। पर वास्तविक आशय यह है कि वह शिलालेख खोदा चाहे जहाँ गया हो, पर लगवाया गया था भोजन-शाला में।)

६. दुर्भाग्यवश इस विषय की ओर पण्डितों का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नहीं गया। (क्या यह विषय ही ऐसा है, जिसकी ओर पण्डितों का ध्यान दुर्भाग्यवश ही जाना चाहिए ? इस वाक्य में 'दुर्भाग्यवश' बहुत ही बे-मौके आया है।)

मिश्र तथा संयुक्त वाक्यों में विभक्तियों और अव्ययों के ठीक स्थान पर न रहने से उनकी जो दुर्दशा होती है, उसके कुछ उदाहरण लीजिए—

१. आप हिन्दू महासभा के अधिवेशन के, जो दिसम्बर में होनेवाला है, उसके सभापति चुने गये हैं। ('उसके' व्यर्थ आया है।)

२. उसी निवास-स्थान—जहाँ पिछले कई वर्षों से आप रहते थे—के बाहर आपका शव रखा गया। ('निवास-स्थान' के बाद 'के' होगा।)

३. नारायण मुलजिम, जिसे छः महीने की सजा हुई थी, की अपील मंजूर की गई। ('मुलजिम' के ठीक बाद 'की' होना चाहिए।)

४. यह विधान जलयान, वायुयान आदि जहाँ कहीं हों, के सम्बन्ध में प्रयुक्त होगा। (होना चाहिए—यह विधान सभी जल-यानों, वायुयानों आदि के लिए, चाहे वे कहीं हों, प्रयुक्त होगा।)

५. फिर विदेशी शब्दों के उच्चारण, जो अब हिन्दी के ही अंग हैं, पर पकाश डाला। ('उच्चारण' के ठीक बाद 'पर' होना चाहिए।)

६. ऐसी अनुपस्थिति चाहे उस सम्पूर्ण अवधि के जब कि, उसे कार्य

करना आवश्यक हो, लिए या उसके किसी भाग के लिए हो। (इसमें का पहला 'लिए' वस्तुतः 'अवधि के' ठीक बाद होना चाहिए।)

७. उसकी कुछ समझ में न आया। (होना चाहिए—उसकी समझ में कुछ भी न आया।)

व्याख्यायक पद और वाक्यांश

वाक्य में किसी शब्द या भाव की व्याख्या के लिए जो व्याख्यायक पद या वाक्यांश आते हैं, वे यदि वाक्य में अपने ठीक स्थान पर न हों, और वाक्य के अन्त में हों तो कुछ अवस्थाओं में वे वाक्य सुन्दर भी होते हैं और जोरदार भी। जैसे—'ऐसे लोगों को समझाने का प्रयत्न करना बिलकुल व्यर्थ है—वह सदा निष्फल होगा।' पर सभी अवस्थाओं में यदि वाक्य के बीच का कोई पद या वाक्यांश अपने स्थान से हटाकर अन्त में रख दिया जाय तो वाक्य बहुत ही भद्दे हो जायँगे। जैसे—'हम और आप दोनों वहाँ चलेंगे, साथ में।' या 'मैं आज-कल एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, अच्छी।' इस प्रकार के भद्दे वाक्यों के कुछ उदाहरण लीजिए—

१. परन्तु अन्यत्र समस्त शब्दों में सन्धि करना या न करना ऐच्छिक है, लिखने में।

२. इतना पण्डितों की सेवा में उपस्थित किया गया, थोड़े में।

३. उसने 'निवेदिता' शीर्षक एक कविता छपाई थी, खड़ी बोली की।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन

अब हम एक और आवश्यक बात बतलाकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। अँगरेजी व्याकरण में कथन के दो भेद किये गये हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। हम लोगों ने भी यह तत्त्व ग्रहण कर लिया है। यह हमारे लिए बिलकुल निरर्थक तो नहीं है; कुछ अंशों में यह उपयोगी भी है और आवश्यक भी। पर बिना समझे-बूझे इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। एक उदाहरण लीजिए—'उन्होंने हुक्म दे दिया था कि उनके मकान के सामने रोज छिड़काव हुआ करे।' इस वाक्य में 'उनके' बहुत भ्रामक है। वह हुकुम देनेवाले के सिवा किसी और का भी सूचक हो सकता है। प्रत्यक्ष कथन के प्रकार में इसका रूप होगा—'उन्होंने हुक्म दे दिया था—हमारे मकान के सामने रोज छिड़काव]

हुआ करे।' परन्तु यदि इसे अप्रत्यक्ष कथनवाला रूप दिया जाय तो भी हिन्दी की प्रकृति के अनुसार इसमें 'था' और हमारे बीच में केवल 'कि' आना चाहिए। 'छोटी रियासतों के नरेशों का कहना है कि बड़ी रियासतों के नरेशों और उनके मंत्रियों के षडयंत्र-पूर्ण आचरण से उनकी आवाज का नरेन्द्र-मंडल में कोई मूल्य नहीं है।' में 'उनकी' वास्तव में आया तो है छोटी रियासतों के नरेशों के लिए; पर उससे यह भी भ्रम हो सकता है कि वह बड़ी रियासतों के नरेशों और उनके मंत्रियों के लिए आया है; इसलिए 'उनकी' की जगह 'हमारी' होना चाहिए। 'इन्स्पेक्टर साहब कहते हैं कि शिक्षकों ने जो उन्नति की है, उससे वे बहुत सन्तुष्ट हैं।' में 'वे' किनके लिए है? इन्स्पेक्टर साहब के लिए? या स्वयं शिक्षकों के लिए? है वह वस्तुतः 'इन्स्पेक्टर साहब' के लिए, अतः 'वे' की जगह 'हम' होना चाहिए। नहीं तो इस अवस्था में 'वे' शिक्षकों का ही सूचक होगा। एक समाचार-पत्र में देखा था—'पास ही कुछ सिपाही खड़े थे। श्री चर्चिल ने थोड़ी देर बाद देखा कि उनके सिर के ऊपर से गोलियाँ जा रही हैं।' इस वाक्य में 'उनके' बहुत ही भ्रामक है। आया तो वह वस्तुतः चर्चिल के लिए है, पर वाक्य की रचना से यह भ्रम होता है कि गोलियाँ सिपाहियों के सिर के ऊपर से जा रही थीं। इसी प्रकार—'हिन्दुओं को चाहिए कि वे अपने बच्चों को बतावें कि भारत उनका है।' ठीक नहीं है। इसमें 'उनका' की जगह 'तुम्हारा' या अधिक-से-अधिक 'हमारा' होना चाहिए। 'चाहे वे यह न जानते हों कि उन्होंने भूगोल सीखा है।' में 'उन्होंने' की जगह 'हमने' होना चाहिए। उक्त उदाहरणों में 'उनका' 'उनके' और 'उन्होंने' का प्रयोग केवल अँगरेजी के अप्रत्यक्ष कथनवाले प्रकार का अन्ध अनुकरण करने के कारण हुआ है।

एक बात और है। अँगरेजी व्याकरण का नियम है कि प्रत्यक्ष कथन में वक्ता और दूसरे के उद्धृत कथन के बीच में बेड़ी पाई दे देते हैं और उद्धृत वाक्य उद्धरण-सूचक चिह्नों में रखते हैं। परन्तु अप्रत्यक्ष कथन में वाक्य का वही रूप रखते हैं, जो ऊपर के उद्धृत वाक्यों के हैं। हमारे यहाँ प्रायः लोग दोनों प्रकार एक में मिला देते हैं। अर्थात् वे कहीं तो अप्रत्यक्ष कथन-प्रकार में भी प्रत्यक्ष-कथन प्रकार का रूप ले आते हैं और कहीं अप्रत्यक्ष

कथन-प्रकार भी प्रत्यक्ष कथन के रूप में रखते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारी भाषा की प्रकृति अँगरेज़ी की प्रकृति से बहुत भिन्न है, और हमारे कथन-प्रकार के नियम अँगरेज़ी के कथन-प्रकार के नियमों से अलग हैं। हमें पहले दोनों के नियम अच्छी तरह समझ लेने चाहिएँ; और तब, अपनी भाषा की प्रकृति का ध्यान रखते हुए, ठीक तरह से वाक्यों की रचना करनी चाहिए।

[६]

संज्ञाएं और सर्वनाम

संज्ञाओं के ठीक अर्थ—प्रसंग के अनुसार संज्ञाएँ—समान जान पड़नेवाले शब्दों में सूक्ष्म अन्तर—अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग—संज्ञाओं के अशुद्ध रूप—सर्वनामों के ठीक प्रयोग—सर्वनामों का स्थान—सर्वनाम और वचन।

संज्ञाओं के ठीक अर्थ

भाषा शब्दों से बनती है, इसलिए उसमें शब्दों का महत्व सबसे अधिक होता है। शब्दों में संज्ञाओं का प्रमुख स्थान है, अतः पहले हम उन्हीं का विचार करना चाहते हैं। यों तो कोशों में एक-एक संज्ञा के कई-कई पर्याय मिलते हैं, परन्तु यदि आप ध्यान से देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि जो शब्द पर्यायवाची या समानार्थी माने जाते हैं, उनमें भी प्रायः भाव की दृष्टि से कुछ-न-कुछ अन्तर होता ही है। कुछ अवस्थाओं में आवश्यकता के अनुसार उनमें कुछ निश्चित अन्तर मान भी लिया जाता है। शब्दों के अर्थों और भावों में इसी प्रकार के अन्तरों के कारण भाषा में भाव व्यक्त करने की शक्ति बढ़ती है, और वह अधिक व्यंजक तथा व्यापक होती है। उदाहरण के लिए सीधा-सादा 'मन' शब्द लीजिए। हिन्दी शब्दसागर में इसके दो पर्याय दिये हैं—अन्तःकरण और चित्त। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मन, चित्त और अन्तःकरण तीनों का सब जगह और समान रूप से प्रयोग नहीं हो सकता। हम यह तो कहेंगे—'उन्होंने हमसे मन मोटा कर लिया' पर यह न कहेंगे—'उन्होंने हमसे चित्त या अन्तःकरण मोटा कर लिया।' हम यह तो कहेंगे—'हम सब बातों में अपने अन्तःकरण की आज्ञा मानते हैं।' पर यह न कहेंगे—'हम सब बातों में अपने चित्त की आज्ञा मानते हैं।' हम यह तो कहेंगे—'हमारा चित्त ठिकाने नहीं है।' पर यह न कहेंगे—'हमारा अन्तःकरण ठिकाने नहीं है।' इसी प्रकार हम यह तो कह सकते

हैं—'उनकी स्त्री (या पत्नी) भी उनके साथ आई हैं।' पर यह नहीं कह सकते—'उनकी महिला (या अबला) भी उनके साथ आई हैं।' 'आपने उन्हें यहाँ बुलाकर अशुद्धि की।' नहीं कहा जा सकता; 'भूल की' ही कहा जायगा। साधारणतः क्रिया कृत्य और काम एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं। पर इन सब में जो सूक्ष्म अन्तर हैं, वे इस वाक्य में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाते हैं—वह क्रिया या कृत्य जो किसी कार्य या व्यवहार में आदि से अन्त तक होता है।

एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'स्त्रियों ने अपना नारीत्व त्याग दिया।' पर वह प्रसंग ऐसा था, जिसमें स्त्रियों के एक वीरतापूर्ण कृत्य का उल्लेख था; अतः 'नारीत्व' की जगह 'अबलात्व' होना चाहिए था। इन सब शब्दों के अलग-अलग अर्थ और अलग-अलग भाव हैं। ये तो हिन्दी और संस्कृत के ही शब्द हैं। अब यदि हम इनके साथ इनके अरबी-फारसी आदि के इनके वे पर्याय भी लें जो हमारी भाषा में आकर मिल गये हैं, तो उनके भावों और प्रयोगों में और भी अधिक अन्तर दिखाई देगा।

आगे बढ़ने से पहले हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि आज-कल हमारे यहाँ कुछ संज्ञाएँ, दूसरी भाषाओं के प्रभाव से, विलक्षण अर्थों और रूपों में प्रचलित हो गई हैं। 'अभिभावक' और 'अभ्यर्थना' आज-कल हिन्दी में जिन अर्थों में प्रचलित हैं, वे उन शब्दों के मूल संस्कृत अर्थों से बिलकुल भिन्न और स्वतन्त्र हैं। ये तथा प्राण-पण, चूड़ान्त, गल्प, नितान्त आदि शब्द बँगला भाषा की कृपा से हमारी भाषा में आकर चलने लगे हैं। 'प्रतिशब्द' वस्तुतः 'प्रतिध्वनि' का पर्याय है; पर बहुत से हिन्दी लेखकों ने उसे स्वयं 'पर्याय' का पर्याय मान रक्खा है। वे प्रायः लिखते और बोलते हैं—'हमारे यहाँ अमुक शब्द के लिए कोई प्रतिशब्द नहीं है।' 'महत्त्वाकांक्षा' एक ऐसा परम प्रचलित शब्द है, जिसका न रूप ठीक है, न अर्थ। 'महत्त्वाकांक्षा' का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वह है—महत्त्व प्राप्त करने की आकांक्षा। पर वह प्रचलित है 'बहुत बड़ी या ऊँची आकांक्षा' के अर्थ में। यदि हम 'महती या उच्च आकांक्षा' के अर्थ में उसका उपयोग करना चाहते हों तो उसका रूप होना चाहिए—'उच्चाकांक्षा'। अधिक सतर्क लेखक 'उच्चाकांक्षा'

ही लिखते हैं, 'महत्त्वाकांक्षा' नहीं लिखते। इसी प्रकार का एक परम प्रचलित शब्द 'साहित्यिक' है, जो है तो विशेषण ही, पर जिसका व्यवहार अधिकतर लेखक संज्ञा के रूप में और 'साहित्य-सेवी' के अर्थ में करते हैं। वस्तुतः होना चाहिए—साहित्यकार अथवा साहित्यज्ञ। प्रायः लोग 'विज्ञानवेत्ता' के अर्थ में 'वैज्ञानिक' और कभी-कभी 'इतिहासज्ञ' के अर्थ में 'ऐतिहासिक' का भी प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—'बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का यह मत है।' या 'कुछ ऐतिहासिक यह भी कहते हैं।' ऐसे अवसरों पर क्रमात् साहित्यज्ञ, विज्ञानज्ञ और इतिहासज्ञ सरीखे शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए।

एक बात और है। कुछ वस्तुओं और कार्यों के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के शब्द नियत हैं;और उनका प्रायः नित्य-सम्बन्ध होता है। जैसे गृह का निर्माण, ग्रन्थ की रचना, चित्र का अंकन या लेखन, केशों का विन्यास, न्याय की व्यवस्था, कार्य का संपादन, विषय का प्रतिपादन या विवेचन, समस्या का निराकरण या मीमांसा, शंका का समाधान आदि। इसी प्रकार पशु-पक्षियों आदि की बोलियों के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द नियत हैं। जैसे—चिड़ियों की चहक, हाथी की चिग्घाड़, शेर की दहाड़, साँप की फुफकार, कुत्ते का भूँकना आदि। इस प्रकार के प्रयोगों के समय भी बहुत सचेत रहने की आवश्यकता होती है। अच्छे लेखक लिखते समय शब्दों का चुनाव इसी दृष्टि और विचार से करते हैं।

सभी लोग जानते हैं कि हमारी लिपि का नाम 'नागरी' और भाषा का नाम 'हिन्दी' है; पर लोग असावधानता के कारण लिख ही जाते हैं—'महाकवि कालिदास के नाटकों का नागरी भाषा में अनुवाद।' एक बार हिन्दी के एक व्याकरण में देखा था—'संज्ञा की प्रशंसा करनेवाले शब्द विशेषण कहलाते हैं।' कैसी प्रशंसनीय व्याख्या है! 'जन संख्या का परिवर्त्तन होना चाहिए' में 'जन संख्या' का क्या अर्थ है? यह 'आबादी' या population के एक ही मँजे हुए अर्थ के सिवा और क्या है? यहाँ इसकी जगह 'जनता' 'निवासियों' या 'आबादी' होना चाहिए। 'इस प्रान्त की पुलिस में अभी आबादी का अनुपात न होगा।' में 'आबादी' की जगह 'जन-संख्या' होगा। 'अनुपात' की जगह होना चाहिए—अनुपात के अनुसार परिवर्त्तन या हेर-फेर।

'प्रदान' शब्द का क्या अर्थ है? साधारणतः देने की क्रिया या दान ही इसका अर्थ है। परन्तु 'दान' में 'प्र' उपसर्ग लगा होने के कारण इस अर्थ के साथ इसमें एक भाव भी है। हम यह तो कहेंगे कि अमुक राजा ने पंडित जी को एक गाँव प्रदान किया; पर यह नहीं कहेंगे कि एक भिखारी ने राजा को आशीर्वाद प्रदान किया। क्यों? इसलिए कि प्रदान शब्द का प्रयोग हमारी भाषा में प्रायः उसी दान के लिए होता है, जो बड़ों की ओर से छोटों को हो। छोटों की ओर से तो बड़ों को अर्पण या भेंट होती है। देश में प्रायः नित्य कहीं-न कहीं बड़े-बड़े आदरणीय मान्य व्यक्तियों को अभिनन्दनपत्र और मानपत्र अर्पित किये जाते हैं। परन्तु अधिकतर समाचार-पत्रों में उनके उल्लेख प्रायः इसी रूप में होते हैं—'आज वहाँ अमुक सज्जन को अभिनन्दन-पत्र प्रदान किया गया।' 'कल वहाँ अमुक पण्डित जी को मानपत्र प्रदान किया जायगा।' आदि। हमने अनेक अवसरों पर भरी सभाओं में लोगों को उस समय भी 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करते देखा है, जिस समय मानपत्र बहुत आदरपूर्वक झुककर अर्पित किया जाता है! ऐसे लोग यह नहीं सोचते कि अर्पण और प्रदान के भावों में क्या अन्तर है; और इसी लिए वे अभिनन्दन-पत्रों और मानपत्रों को भी पुरस्कारों और बख्शीशों के वर्ग में ला रखते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो अभिनन्दनपत्र और मानपत्र के साथ 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करके हम उन मान्य व्यक्तियों का अनादर करते हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है—'उन्होंने हिन्दी साहित्य को ऐसी सुन्दर भेंट प्रदान की है।' क्योंकि 'भेंट' और 'प्रदान' दोनों परस्पर-विरोधी भावों के सूचक हैं। बराबरवालों के लिए भी 'प्रदान' का प्रयोग नहीं होना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं है—'सेना का एक अंग दूसरे को सहायता प्रदान कर रहा था।' पर सबसे बढ़कर वे लोग हैं जो स्वयं अपने सम्बध में भी 'प्रदान' शब्द उसी प्रकार प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार कभी-कभी अशिक्षित और असंस्कृत लोग कह जाते हैं—'हमें जो कुछ फरमाना था, वह हमने फरमा दिया।' एक अवसर पर ऐसे ही एक सज्जन ने लिखा था—'मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं संघ के कार्यों में सहयोग प्रदान कर सकूँ।' ऐसी बात कितनी अभिमानपूर्ण और हास्यास्पद जान पड़ती है!

कोई किसी सभा या संस्था की नियमावली बनाता है तो लिखता है--'मैंने इसका निर्माण किया।' कोई लिखता है--'मेरे हृदय में काव्य-स्फूर्ति का निर्माण हुआ।' कोई लिखता है--'उन्होंने बीसियों लेखकों का निर्माण किया।' और कोई पंचांग बनाता है तो उसमें अपने नाम के आगे 'निर्माता' लिखता है। परन्तु उक्त उदाहरणों में निर्माण और निर्माता का प्रयोग ठीक नहीं है। 'इस विषय की पूर्त्ति का प्रयत्न होना चाहिए।' में 'पूर्त्ति' विचारणीय है। पूर्त्ति तो किसी त्रुटि या अभाव की होती है, या फिर काव्य-क्षेत्र में समस्याओं की; पर 'विषय' की नहीं। 'कांग्रेस की तुलना में मुसलिम लीग नहीं ठहर सकती।' में या तो 'तुलना' की जगह 'मुकाबिले' होना चाहिए, या 'नहीं ठहर सकती' की जगह 'कोई चीज नहीं है' सरीखा कोई पद होना चाहिए। 'उन्हें लज्जा का अनुभव करना पड़ा।' में 'अनुभव' की जगह 'बोध' और 'करना पड़ा' की जगह 'हुआ' होना चाहिए। 'अनुभव' तो उसी ज्ञान को कहते हैं, जो साक्षात् या परोक्ष प्रयोग आदि के द्वारा होता है। मन में उत्पन्न होनेवाले भावों आदि का तो 'बोध' या 'उद्रेक' ही होता है। साधारणतः होता यही है कि हम कोई शब्द सुनते या पढ़ते हैं किसी और प्रसंग में; और उसका प्रयोग कर जाते हैं किसी और प्रसंग में। इसी असावधानी का यह परिणाम है कि पंजाब के विद्यार्थियों में 'निबंध' के लिए 'प्रस्ताव' शब्द खूब प्रचलित हो गया है। और अब तो वहाँ के कुछ विद्यार्थी परीक्षा के प्रश्न-पत्रों के अलग-अलग प्रश्नों को भी 'प्रस्ताव' कहने लगे हैं। जैसे—पहले प्रस्ताव का उत्तर, चौथे प्रस्ताव का उत्तर आदि। ऐसा नहीं होना चाहिए।

कोई लिखता है--'सरकार आपकी यह उक्ति मानने को तैयार नहीं है।' और कोई लिखता है--'सरकार आपको मुक्ति देने का विचार कर रही है।' कोई लिखता है—'वहाँ शेक्सपियर के नाट्य-दृश्यों का प्रयोग होता है' ('अभिनय' होना चाहिए)। कोई लिखता है--'इस यन्त्र की उत्पत्ति दो सौ वर्ष पूर्व हुई थी।' और कोई लिखता है--'भगवान् बुद्ध के संदेशों से प्रभावित होकर बहुत-से लोग उदासी बन गये थे।'

न हम 'उक्ति' का ठीक अर्थ समझते हैं, न 'मुक्ति' का। न 'प्रयोग' का ठीक प्रयोग जानते हैं, न 'उत्पत्ति' का। आज-कल चारों ओर 'सन्देशों' की ही भर-मार है, इसी लिए हम भगवान् बुद्ध के 'उपदेश' तो भूल जाते हैं; और हमारे विभाग में चक्कर खानेवाले 'सन्देश' बरबस हमारी कलम से निकल पड़ते हैं। हम यह भी नहीं सोचते कि बुद्ध के अनुयायी त्यागियों को क्या कहते थे; और 'उदासी' आज-कल किस सम्प्रदाय के साधु कहलाते हैं। हम प्रायः अर्थ का विचार किये बिना ही शब्दों का प्रयोग करने के अभ्यस्त-से हो गये हैं।

कोई विषय अच्छी तरह समझे या जाने बिना जो कुछ लिखा जायगा, वह अवश्य बेढंगा और भद्दा होगा। 'अत्यन्त सजल राग में उसने सितार को बजाया।' और 'तार को खींचकर वह उसमें मीड़ देती थी।' सरीखे वाक्य यही सिद्ध करते हैं कि लेखक को संगीत का कुछ भी ज्ञान नहीं है। 'राग' और 'मीड़' उसके लिए सिर्फ सुने-सुनाये शब्द हैं और बिलकुल बेढंगेपन से वाक्यों में रख दिये गये हैं।

प्रसंग के अनुसार संज्ञाएँ

बहुत दिन हुए, स्व० द्विजेन्द्रलाल राय के एक नाटक के एक हिन्दी अनुवाद में एक वाक्य पढ़ा था। यह वाक्य एक वेश्या के मुँह से उस्ताद के प्रति कहलाया गया था और इस प्रकार था—'उस्ताद, मैं इस गाने की कसरत कर रही थी।' 'गाने की' और 'कसरत'! लेखक महोदय यह तो जानते नहीं थे कि गाने के साथ पारिभाषिक शब्द 'रियाज' आता है। उनके सामने स्कूली लड़कों की कसरत आ गई और उसी से उन्होंने काम चलता किया। एक पुस्तक में पढ़ा था—'वह गीत की दो चार लड़ियाँ गाती...।' पर गीत की लड़ियाँ नहीं, कड़ियाँ होती हैं। एक और पुस्तक में पढ़ा था—'सितार एक ओर सहारा लिए लिहाफ में बन्द लेटा है।' पर सितार का 'लिहाफ' नहीं 'गिलाफ' होता है। और फिर 'लिहाफ' ओढ़ा जाता है, उसमें 'बन्द' नहीं हुआ जाता। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'सराफों की दूकानों पर अशरफियों की मंडियाँ लगी रहती थीं।' 'ढेर' के अर्थ में 'मंडियाँ' का यह प्रयोग कितना विलक्षण है!

अर्थ का ध्यान रक्खे बिना लिखे हुए कुछ और वाक्य लीजिए—

१. उसने जालसाजी से चोरी की।

२. अगर मैं गलती करूँ तो आप मुझे दुरुस्त कर दें। (पर किसी को 'दुरस्त करना' बोल-चाल में कुछ और ही अर्थ रखता है।)

३. ऐसी किंवदन्ती है कि प्राचीन काल में राजा लोग इसी दशहरे के दिन शत्रुओं पर चढ़ाई करते थे।

४. यह पक्षी जूलाई में हिमालय को लाँघना शुरू कर देता है।

५. श्री किदवई हृदय के पुराने रोगी हैं।

६. अब तो रुक-रुककर बरसात होने लगी है।

७. विद्वानों से मिलने की उन्हें कोई बेचैनी नहीं थी।

८. वे ऊपर दी गई संज्ञाओं का चीर-फाड़ करके यह बतलावें...।

९. लगातार तीन बैठकों में उपस्थित न होनेवाले सज्जनों का नाम रिक्त समझा जायगा। ('रिक्त' तो स्थान होता है, नाम नहीं।)

१०. आपकी मृत्यु अत्यन्त क्षोभजनक है।

११. गन्ने की रसहीन कतवार (अर्थात् खोई?) से कागज बनाया जायगा।

१२. सरकार की ओर से सीमेन्ट बनाने के सम्बन्ध में एक कारखाना खुलनेवाला है।

प्रायः लोग लिखते समय शब्दों के अर्थों का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। खेद, दुःख और शोक के भेद समझनेवाले और वे भेद समझकर अवसर के अनुसार उपयुक्त शब्द का प्रयोग करनेवाले कितने लेखक हैं? शायद बहुत थोड़े। कोई अपने पत्र का उत्तर न पाकर ही शोक प्रकट करने लगता है; और कहीं अधिकारियों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध पर शोक प्रकट किया जाता है! कोई किसी के भाई के मरने पर भी केवल खेद प्रकट करके रह जाता है; और कोई किसी से भेंट न कर सकने के कारण ही दुःखी होने लगता है! और सबसे बढ़कर एक पुस्तक में किसी को निमंत्रण न भेज सकने के कारण क्षमा-सी माँगने के प्रसंग में पढ़ा था—

समान जान पड़नेवाले शब्दों में सूक्ष्म अन्तर

'मुझे दुःख है कि उस समय मैं आपको कष्ट न दे सका।' 'कष्ट' न दे सकने पर भी दुःख-प्रकाश !

अँगरेजी की देखा-देखी आज-कल हिन्दी में 'प्रश्न' का भी खूब प्रयोग होने लगा है। जैसे—'गर्जा के उन थानों में कबीर की रोटी का प्रश्न था।' यह प्रश्न उस समय और भी बेढब हो जाता है, जब इसके साथ 'को लेकर' लग जाता है। जैसे 'वे भारत के प्रश्न को लेकर चुनाव के लिए खड़े हुए हैं।' 'दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के प्रश्न को लेकर हलचल मची है।' आदि। स्वयं 'प्रश्न' का प्रयोग बहुत समझ-बूझकर होना चाहिए; और यह 'को लेकर' तो बिलकुल छोड़ दिया जाना चाहिए।

आज-कल एक नया शब्द चला है मँहगाई, जिसका अर्थ है—मँहगी के फल-स्वरूप मिलनेवाली वृत्ति या भत्ता। कुछ लोग भूल से 'मँहगाई' का प्रयोग 'मँहगी' के अर्थ में कर जाते हैं। पर 'मँहगी' का अर्थ है 'मँहगा' होने का भाव या मँहगापन। दोनों शब्दों के अलग अलग अर्थ और भाव हैं। 'मँहगाई' तो 'मँहगी' के कारण मिलनेवाला भत्ता है। पर इस प्रकार का अन्तर न समझने के कारण कुछ लोग इनके अशुद्ध प्रयोग कर जाते हैं। एक समाचार पत्र में छपा था 'कांग्रेस ने भारत की अच्छाई के अनेक कार्य किये हैं।' पर 'अच्छाई' का अर्थ है केवल—अच्छापन या उत्तमता; अतः यहाँ इसकी जगह 'भलाई' होना चाहिए, जिसका अर्थ है—उपकार।

'लक्षण' और 'चिह्न' में भी कुछ अन्तर है। सामुद्रिक शास्त्र में प्रयुक्त होनेवाले 'लक्षण' को छोड़कर शेष अधिकतर 'लक्षण' अमूर्त्त या अदृश्य होते हैं; और 'चिह्न' अधिकतर मूर्त्त या दृश्य होते हैं। पर लोग इस बात का ध्यान न रखकर एक ही अर्थ में दोनों का प्रयोग कर जाते हैं। कभी-कभी लोग 'बैठक' और 'अधिवेशन' के प्रयोग में गड़बड़ा जाते हैं। वस्तुतः किसी बड़ी सभा या समाज का 'अधिवेशन' कई दिनों तक होता है, और नित्य उसकी एक या अधिक 'बैठकें' होती हैं। इसी प्रकार की गड़बड़ी प्राय 'लक्ष' और 'लक्ष्य' के प्रयोग में भी देखने में आती है। साधारणतः 'लक्ष' का वही 'अर्थ' है जो 'निशाना' शब्द का क्रियावाला भाव सूचित करनेवाला अर्थ है। जिस 'चीज' पर 'निशाना' लगाया जाता है, वह भी फारसी-उर्दू में तो

'निशाना' ही कहलाती है; पर हमारे यहाँ उस चीज का बोध करानेवाला शब्द 'लक्ष्य' है। यों साधारणतः 'संकलन' भी वही चीज है, जो 'संग्रह' है; फिर भी दोनों के भावों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। 'संग्रह' बहुत कुछ यों ही अथवा किसी विशेष विचार के बिना होता है, पर 'संकलन' प्रायः कुछ सोच-समझकर और चुन-छाँटकर किया जाता है।

बहुत-से लोग 'कारण' और 'हेतु' में कोई अन्तर नहीं समझते। यह ठीक है कि 'हेतु' का एक अर्थ 'कारण' भी होता है, पर उसका वह अर्थ गौण है। 'हेतु' का मुख्य अर्थ है—'वह उद्देश्य जिससे कोई कार्य किया जाय।' कोई कार्य करने का उद्देश्य या अभिप्राय ही मुख्यतः 'हेतु' कहलाता है। एक समाचार-पत्र में एक जज की सम्मति इस रूप में छपी थी—'हर तीसरा विचाराधीन मामला या तो गुजारे की नालिश का होता है और (!) या उसका हेतु प्रायः पति-पत्नी का विग्रह होता है।' यहाँ 'हेतु' शब्द 'कारण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो ठीक नहीं है। इस वाक्य की रचना से यह आशय निकलता है कि हर तीसरे मामले का उद्देश्य ही यह होता है कि पति और पत्नी में विग्रह हो। अर्थात् दोनों में लड़ाई कराने के लिए ही कोई मामला खड़ा किया जाता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। पति-पत्नी में विग्रह पहले होता है और तब उस विग्रह के कारण अदालत में मामला जाता है। अतः उस वाक्य में 'हेतु' के स्थान पर 'कारण' ही होना चाहिए। 'कारण' और 'हेतु' के अर्थों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ एक उदाहरण देते हैं। हम कह सकते हैं—'मैंने आपको वह पत्र जो उस रूप में लिखा था, उसका कारण यह था कि आपके व्यवहार से मुझे दुःख हुआ था।' और 'वह पत्र उस रूप में लिखने का हेतु यह था कि आपकी आँखें खुलें और आप ठीक रास्ते पर आवें।' इन वाक्यों में 'कारण' और 'हेतु' के ठीक प्रयोग इन शब्दों के अन्तर स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट हैं।

कुछ लोग 'संसार' या 'जगत' और 'विश्व' को एक समझकर लिखते हैं—

१. वर्तमान महासमर विश्व की सर्व-प्रमुख समस्या है।

२. विश्व के प्रथम कोटि के विचारक यहाँ तक कहने लगे हैं कि ..

३. यह आवश्यक है कि वे विश्व के सम्मुख भारत के मामले में अपनी सफाई पेश करें।

४. इस षड्यंत्र की निन्दा करने में हम विश्व में सब से आगे रहे हैं।

यह ठीक है कि विश्व का एक अर्थ 'जगत' या 'संसार' भी है; पर वह गौण है। उसका मुख्य अर्थ 'सब भुवनों का समूह' या 'ब्रह्माण्ड' ही है; अतः उक्त उदाहरणों में 'जगत' या 'संसार' का ही प्रयोग होना चाहिए था। हाँ, यह कहना अवश्य ठीक है—'विश्व में न जाने कितने सूर्य-चन्द्रमा और कितने ग्रह-नक्षत्र हैं।'

हिन्दी में 'आयु' और 'अवस्था' के अर्थों पर भी बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रायः किसी का परिचय देते समय लोग कहते हैं—'इस समय आपकी आयु ४० वर्ष की है।' बालकों के एक मासिक पत्र में एक बार एक बालक की कविता छपी थी। उसी के साथ उसका चित्र और नाम भी छपा था। नाम के नीचे कोष्टक में लिखा था—'आयु १२ वर्ष।' वैद्यों से आशा की जाती है कि वे 'आयु' और 'अवस्था' का ठीक ठीक भेद समझते होंगे। परन्तु प्रायः औषधों की पुरजियों तक पर नाम और जाति के साथ एक खाना होता है जिसपर लिखा रहता है—आयु। वास्तव में 'आयु' समस्त जीवन-काल को कहते हैं। जन्म से मरण तक का सारा समय 'आयु' है। 'अवस्था' इससे अलग चीज है। आज जिसकी अवस्था बीस वर्ष की है, पाँच वर्ष बाद उसकी अवस्था पचीस वर्ष की हो जायगी। और यदि पचीस वर्ष की अवस्था में किसी की मृत्यु हो जाय तो हम कहेंगे—'उसने पचीस वर्ष की आयु पाई थी।' अतः ऊपर के उदाहरणों में सब जगह 'आयु' के स्थान पर 'अवस्था', 'वय' या 'उमर' होना चाहिए।[1] इस सम्बन्ध में ध्यान

१—हमारे एक मान्य मित्र का कहना है कि संस्कृत में भी एक जगह 'आयु' शब्द वय के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। प्रमाण-स्वरूप उन्होंने श्लोक भी सुनाये थे जिनमें से एक में आयु शब्द पूर्ण जीवन-काल के लिए और दूसरे में वय, अवस्था या उमर के लिए प्रयुक्त हुआ था। पर हमें संस्कृत कोषों में इसका एक ही अर्थ 'समस्त जीवन काल' मिला। सम्भव है, किसी संस्कृत कवि ने वय या अवस्था के अर्थ में भी

रखने की एक और बात यह है कि 'आयु' और अवस्था का यह अन्तर जीव-धारियों के सम्बन्ध में ही होता है; और निर्जीव पदार्थोंके सम्बन्ध में सदा 'आयु' का ही प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ यदि किसी मकान को बने या किसी वृक्ष को उगे बीस वर्ष हुए हों, तो हम यही कहेंगे कि इस मकान (अथवा वृक्ष) की आयु अभी बीस वर्षकी हुई है। ऐसे अवसरों पर 'अवस्था' का प्रयोग ठीक न होगा।

इस विषय का विशेष विस्तार न करके यहाँ हम कुछ ऐसे शब्द-युग्म देते हैं जिनके प्रयोग में लोग प्रायः भूल करते हैं। थोड़ा विचार करने से पता चल जायगा कि इन युग्मों में का एक शब्द दूसरे का पर्याय नहीं है, बल्कि उससे कुछ भिन्न भाव सूचित करनेवाला है।

प्रयोग	व्यवहार	उत्तेजना	प्रोत्साहन
आदर्श	दृष्टान्त	स्वीकार	स्वीकृत
आँधी	तूफान	सन्देह	आशंका
प्रशंसा	स्तुति	विवेक	आत्मा
नियम	विधान	दया	अनुग्रह
राजस्व	कर	सम्पत्ति	वैभव
कौशल	योग्यता	ध्यान	विचार
परामर्श	सम्मति	निश्चय	विश्वास
साधन	उपकरण	भागी	अधिकारी[1]
शंका	आशंका	त्रुटि	दोष
क्रोध	कोप		

उसका प्रयोग किया हो। और यदि हम यह भी मान लें कि आयु के दोनों अर्थ होते हैं, तो भी 'आयु' का व्यवहार समस्त जीवन-कालके लिए ही अधिक प्रशस्त जान पड़ता है। आखिर दोनों भाव प्रकट करने के लिए हमें अलग-अलग शब्दों की भी आवश्यकता तो है ही।

१—लेखक बहुत दिनों से एक ऐसे शब्द-कोष की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है जिसमें प्रायः सभी मुख्य-मुख्य शब्दों के ठीक प्रयोग और मिलते-जुलते शब्दों से उनका अन्तर तथा पारस्परिक विरोध बतलाया जाय। यदि परिस्थिति अनुकूल हुई और शारीरिक शक्ति ने और कुछ दिनों तक साथ दिया तो उसका श्री-गणेश तो कर ही दिया जायगा। फिर उसकी पूर्ति ईश्वर के हाथ रहेगी।

अब हम शब्दों के दुरुपयोग का एक दूसरा प्रकार लेते हैं। कभी-कभी कुछ लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं, जिनके अर्थ वे बिलकुल नहीं जानते। या यदि सुना-सुनाया अर्थ जानते भी हैं, तो कम-से-कम उनका ठीक आशय और प्रयोग बिलकुल नहीं जानते।

अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग

बम्बई के भीषण विस्फोट और अग्नि-कांड के सम्बन्ध में एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'मकानों में से अभी तक धूएँ के अम्बार निकल रहे हैं।' एक समाचार-पत्र में छपा था—'उनके शरीर से बदबू के अम्बार उठ रहे थे।' एक कहानी में पढ़ा था—'घड़ों और मटकों में चीनी के अम्बार लगे थे।' एक समाचार-पत्र में छपा था—'सुनहले रुपहले काबुकों की जमात में......।' और एक दूसरे पत्र में निकला था—'प्रशान्त के हमले से चीन को राहत मिली है।' एक दैनिक-पत्र में पढ़ा था—'अमेरिकनों की पहलूदही।' और यह 'पहलूदही' भी ठीक 'पहलूतही' के अर्थ में नहीं, बल्कि किसी और अर्थ में आई थी। उसी समाचार-पत्र में फिर कुछ दिन बाद देखा—"वे जो बात कहते हैं, फरागदिली से।' इन सब उदाहरणों में अम्बार, जमात, राहत, पहलूदही और फरागदिली के प्रयोग या तो अशुद्ध अर्थ में या अशुद्ध रूप में हुए हैं। एक समाचार-पत्र में एक भागे हुए अभियुक्त के सम्बन्ध में छपा था—'इसे कैद करनेवाले को सौ रुपए इनाम मिलेगा।' यहाँ 'कैद' की जगह 'गिरफ्तार' होना चाहिए था। एक समाचार-पत्र में निकला था—'सम्मेलन को चाहिए कि वह सर.. ...को एक सारटिफिकट तकसीम कर दे।' पर 'तकसीम करना' या 'बाँटना' तो बहुत से लोगों में होता है; एक आदमी को कोई चीज बाँटी नहीं जाती। एक और पत्र में देखा था—'उन्होंने अपनी शराफत का पूरा तजरुबा ('सबूत' होना चाहिए) दे दिया।' और एक पत्र में देखा था—'जिन्ना अपने रुख पर दृढ़।' इन वाक्यों में तजरुबा और रुख का गलत अर्थ में प्रयोग हुआ है। कुछ लोग विदेशी शब्दों के ठीक रूप न जानने के कारण अपनी ओर से उन्हें कुछ विकट रूप दे देते हैं। एक समाचार-पत्र में छपा था—'भारत का प्रश्न ताक पर।' होना चाहिए 'ताक पर'। एक जगह 'तूमार' की जगह 'तोमाड़'

देखने में आया था। एक समाचार-पत्र के एक लेख में 'लुत्फ' शब्द पाँच छः जगह 'लुफ्त' रूप में छपा था। सिद्धान्त सदा यह होना चाहिए कि हम जिस शब्द का प्रयोग करें, पहले उसका ठीक रूप और अर्थ समझ लें।

लिखते समय हमें प्रायः समस्त पदों का भी उपयोग करना पड़ता है और कभी-कभी नये समस्त पद बनाने भी पड़ते हैं। ऐसे समस्त पद दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और संकर। शुद्ध समास वे होते हैं जो किसी एक भाषा के दो शब्दों के प्रयोग से बनते हैं। जैसे—आय-व्यय, चढ़ा-ऊपरी आदि। इस

शुद्ध और संकर समस्त पद

प्रकार के समास बनाने में लोग प्रायः समास सम्बन्धी संस्कृत व्याकरण के नियम न जानने के कारण अनेक प्रकार की भूलें कर जाते हैं। जैसे वे निरवलम्ब, रीत्यनुसार 'नीत्यनुसार' प्रवृत्यनुसार आदि न लिखकर निरावलम्ब, रीत्यानुसार, नीत्यानुसार, प्रवृत्यानुसार आदि लिख जाते हैं। संकर समास उसे कहते हैं, जिसमें एक शब्द एक भाषा का हो और दूसरा दूसरी भाषा का। आज-कल ऐसे संकर समस्त पद बनाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ती हुई दिखाई देती है। प्रायः सभी भाषाओं में इस प्रकार के समस्त पद होते हैं, पर बहुत कम। हमारे यहाँ ऐसे पद मूलतः बहुत कम थे; परन्तु उर्दू की कृपा से उनकी संख्या कुछ बढ़ गई है। उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों की ही अधिकता है। अतः उसमें इन दोनों भाषाओं के योग से बहुत-से संकर समस्त पद बन गये हैं। जैसे, खिदमतगार, खैरख्वाह, खबरदार, गरीब-परवर, एहसानमन्द, कब्रिस्तान, ताबेदार, दखीलकार, नकल-नवीस, नवाबजादा, बागवान आदि। उर्दूवाले अरबी शब्दों के बहुवचन फारसी व्याकरण के नियमों के अनुसार और फारसी शब्दों के बहुवचन अरबी नियमों के अनुसार भी बना लेते हैं। हमारे प्रान्त में 'अंजुमन हिमायते चपरासियान' तक बनी है! यह ठीक है कि फारसवाले आर्य हैं और अरबवाले सामी या सेमेटिक; परन्तु धार्मिक, सामाजिक, राज-नीतिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से अरब और फारस के लोग आपस में मिलकर बहुत-कुछ एक हो गये थे; और इसी लिए फारस की भाषा में ऐसे संकर समस्त शब्द बहुत अधिक हो गये हैं। प्रायः वे सभी शब्द उर्दू में ले लिये गये हैं; और उनके ढंग पर बहुत-से नये शब्द तथा पद भी गढ़ लिये गये

हैं। उनमें से कुछ शब्द हिन्दी में भी आकर मिल गये हैं। इसके बाद उर्दूवालों ने एक और प्रकार के संकर समासों का प्रयोग आरम्भ किया। वह था हिन्दी और उर्दू के शब्दों का मेल। समझदार, हथियारबन्द, दिल्लगी, गरमाहट, कठ-हुज्जती, चौहद्दी और कमीनापन आदि इसी प्रकार के शब्द हैं जो उर्दू के द्वारा हमारी भाषा में आकर घुल-मिल गये हैं। बहुत-कुछ यही बात 'जेलखाना' के सम्बन्ध में भी है।[1]

आगे बढ़ने से पहले हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। कुछ छोटे शब्द ऐसे होते हैं जो अपनी बनावट या रूप के कारण अपनी मूल भाषा की छाप से बहुत-कुछ बचे हुए होते हैं; जैसे—काम, मन, कल, रेल, कम, पुल आदि। इसी प्रकार कुछ प्रत्यय भी होते हैं; जैसे—पन, दार आदि। 'ी' और 'कार' सरीखे कुछ प्रत्यय ऐसे भी हैं जो संस्कृत और फारसी दोनों में बहुत-कुछ समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत के 'कर' और फारसी के 'गर' प्रत्यय में विशेष अन्तर नहीं है। ऐसे शब्दों और प्रत्ययों में अपनी सरलता के कारण यह एक बहुत बड़ा गुण होता है कि ये सहज में आस-पास की दूसरी भाषाओं में मिल जाते हैं। 'रेलगाड़ी' शब्द देखकर सहसा कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें का 'रेल' शब्द हमारे यहाँ का नहीं है। फारसी 'कार' 'दार' और 'बन्द' आदि कुछ प्रत्यय भी ऐसे ही हैं; बल्कि हम कह सकते हैं कि इनका मूल स्वयं हमारी संस्कृत में है—वे हमारे यहाँ के शब्दों से ही निकले हैं। और यही कारण है कि वे हमें परकीय नहीं जान पड़ते। उधर 'पन' आदि कुछ हिन्दी प्रत्यय भी अन्य कुछ कारणों के अतिरिक्त सहज होने के कारण भी उर्दूवालों को अपने ही जान पड़ते हैं। उन्होंने 'आवारापन' चलाया तो हमने एकाकीपन' पसन्द कर लिया। संस्कृत में 'गुरु' शब्द में अँगरेजी प्रत्यय 'डम' के योग से जो 'गुरुडम' शब्द बना है, वह हमारे यहाँ

---

१. जिस समय उर्दूवालों ने 'जेलखाना' बनाया था, उससे बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'बन्दीखाना' बनाया था। कथा—

रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बन्दीखाना॥

परन्तु 'जेलखाना' में कोई खटक नहीं थी, इसलिए वह चल गया; पर 'बन्दीखाना' में कुछ खटक थी, इसलिए वह नहीं चला।

और विशेषतः पंजाब में बहुत अधिक प्रचलित हो गया है। यमक और अनुप्रास भी ऐसे तत्व हैं जो संकर-समासों की खटक बहुत कम कर देते हैं। इन सब बातों का तात्पर्य यही है कि जिन शब्दों का रूप या बनावट कुछ विशेष प्रकार की और सरल होती है, वे प्रायः सहज में दूसरी भाषाओं में यों ही या संकर समासों में खप जाते हैं, और इसी लिए वे जल्दी खटकते भी नहीं।

पर आज-कल हिन्दी में जो संकर समस्त पद बनते हैं, उनमें से बहुतेरे प्रायः विकट और कर्ण-कटु होते हैं। वह विकटता और कर्ण-कटुता उस समय और भी बढ़ जाती है, जब दो विभिन्न भाषाओं, और विशेषतः विभिन्न प्रकृतियोंवाली भाषाओं के शब्दों से यौगिक या समस्त पद बनाये जाते हैं। हिन्दी और संस्कृत में उतना अधिक वैषम्य नहीं है, जितना हिन्दी और अरबी-फारसी में है। रणखेत या पूँजीपति ऐसे शब्द हैं, जिनमें खटक जरूर है, पर बहुत अधिक नहीं। अब हम आधुनिक हिन्दी लेखकों के प्रयुक्त किये हुए कुछ ऐसे यौगिक शब्द बतलाते हैं जिनमें बहुत अधिक खटक है। शीशा-विशेषज्ञ, पैमाइश-प्रबोध, नन्दन-चमन, सान्ध्य-पोशाक, सामानवाही-विमान, युद्ध-सामान, नेतागिरी, वर्दी-धारी, पिस्तौल-वाहक, सड़क-निर्माण, गोली-कांड, पूँजीवाद, बहु-खर्चीलापन, तबला-वादन, वर्ष-गाँठोत्सव, जेल यात्रा, मंजूरी-पत्र, कांग्रेसांक, सुलह-समिति, बाढ़-पीड़ित, झंडाभिवादन, जाँचकर्त्ता आदि ऐसे शब्द हैं जो सुनने में बहुत खटकते हैं। इनमें से अन्तिम तीन शब्द तो बहुत कुछ चल भी गये हैं। आप कह सकते हैं कि सड़क-निर्माण, गोली-कांड और पूँजीवाद भी तो वैसे ही हैं, जैसे रणखेत और पूँजीपति हैं। पर नहीं, इनमें कुछ अन्तर है। रण और खेत, पूँजी और पति ऐसे शब्द हैं जो आपस में किसी तरह मिल सकते हैं; पर सड़क और निर्माण, गोली और कांड, कांग्रेस और अंक ऐसे शब्द नहीं हैं। इनका सामाजिक योग श्रुति-मधुर या सुष्ठ नहीं है। इन सब की प्रकृति भी एक-सी नहीं है। जो बात सुनने में भली न मालूम हो और जिसमें प्रकृतिगत साम्य न हो, वह खटकेगी ही। इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का यह फल है कि पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के एक दवाखाने ने अपने यहाँ के एक नेत्र-उपचार का नाम रक्खा है—'ऐनक-तोड़ साधन'। लाहौर के एक प्रसिद्ध

वैद्य ने पथरी की दवा का नाम रक्खा था—'संग तोड़'। काशी के एक वैद्य ने प्लेग की दवा का नाम रक्खा है—'प्लेगारि'। और हिन्दी की एक परम प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक संस्था के बनाये हुए शब्द-कोश में 'कुर्की' के लिए शब्द गढ़ा गया था—मालापहरण! कुछ दिन हुए, किसी पत्र में पढ़ा था कि लखनऊ विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थी। 'कुल-हिन्द विद्यार्थी साहित्य अंजुमन' स्थापित कर रहे हैं! इधर कुछ दिनों से कुछ पत्र 'सलाह-कारिणी समिति' भी लिखने लगे हैं। अभी तक तो 'झंडाभिवादन' ही होता था, पर अब कहीं कहीं 'झंडोत्तोलन' भी दिखाई देने लगा है। पर 'झण्डाभिवादन' से 'ध्वजाभिवादन' या 'ध्वजवन्दन' अधिक अच्छा भी है और शुद्ध भी। कुछ लोग 'अधिकांश' की जगह 'बहुतांश' लिखने लगे हैं। ऐसी सन्धियाँ करनेवालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे हिन्दी व्याकरण में सन्धि होती ही नहीं। सन्धि तो संस्कृत में ही होती है और संस्कृत शब्दों की ही होती है। यदि हिन्दी और संस्कृत के शब्दों को संस्कृत के सन्धि-नियमों के अनुसार मिलाने की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई तो जो लोग आज 'विमानाक्रमण' लिखते हैं, वही कल को 'जहाजाक्रमण' भी लिखने लग जायँगे। आज-कल के वकील 'अर्पणनामा' तो लिखने ही लगे हैं; कल को कोई कर्मठ कर्मकांडी 'तर्पणनामा' भी तैयार कर देंगे! 'आप का कृपा-कार्ड मिला।' तो प्रायः पत्र-व्यवहार में देखने में आता ही है। पर शायद अब 'आपका कृपानामा दस्तगत हुआ।' सरीखे ऐसे वाक्य भी बनने लगेंगे, जिनकी कल्पना स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने केवल परिहास में की थी। यों तो हमारी भाषा में जो शब्द आते हैं, वे सभी, तात्त्विक दृष्टि से, हमारे हो जाते हैं। फिर भी कोई सीमा या मर्यादा तो होनी ही चाहिए। जो शब्द हमारी भाषा में आकर अच्छी तरह रच-पच गये हैं और जिनपर से परकीयतावाली छाप बिलकुल मिट चुकी है, अथवा जिनपर परकीयता की कोई छाप है ही नहीं, उनके समास ही खटक से खाली होंगे।

अब हम संज्ञाओं के अशुद्ध रूपों के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाना चाहते हैं। 'निर्मोही' हिन्दी का बहुत पुराना शब्द है और प्रायः कविताओं और विशेषतः गीतों में आता है। पर इससे कुछ लोग भाव-वाचक संज्ञा

'निर्मोहता' भी बनाने लगे हैं। 'छटपटाना' से सीधी-सादी भाववाचक संज्ञा बनती है—छटपटी; पर कुछ लोग अपनी ओर से उसका नया रूप गढ़ लेते हैं—छटपटाहट। संस्कृत का प्रसिद्ध शब्द 'प्रकट' यदि हिन्दी में 'प्रगट' तक लिखा जाय तो ठीक ही है। पर यदि उस 'प्रगट' से 'प्रागट्य' भी बनने लगे तो क्या कहा जाय! 'कौशल' की जगह 'कौशल्य' और 'अज्ञान' की जगह 'अज्ञानता' लिखना अपना अज्ञान ही प्रकट करना है।

संज्ञाओं के अशुद्ध रूप

यद्यपि 'चारुताई', 'मित्रताई', 'सुन्दरताई' आदि से हमारा पीछा बहुत-कुछ छूट चला है, पर 'तरलता' की जगह 'तरलाई', 'साफल्य' या 'सफलता' की जगह 'साफल्यता', 'साहाय्य' की जगह 'साहाय्यता', 'वैमनस्य' की जगह 'वैमनस्यता', 'तत्त्वावधान', की जगह 'तत्त्वावधानता', 'महत्ता' की जगह 'महानता'[1] और 'ऐक्य' की जगह 'ऐक्यता' लिखनेवाले अब भी बहुत-से लोग मौजूद हैं। ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जो फारसी 'लाल' से 'लालिमा' और हिन्दी 'हरा' से 'हरीतिमा' तक बना लेते हैं; और ऐसे शब्दों को सं० 'कालिमा' के वर्ग में ला रखते हैं। 'पत्रकार' से भाववाचक संज्ञा 'पत्रकारिता' बननी चाहिए, पर आज-कल की 'पत्रकारी' के सामने उसे कोई पूछता भी नहीं। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'पत्रकारी' (पत्रकारिन्) का भी वही अर्थ है, जो 'पत्रकार' का है। पर यह शायद बहुत अधिक प्रचलित शब्द 'चित्रकारी' (भाववाचक संज्ञा) के ढंग पर गढ़ लिया गया है। इन सबसे बढ़कर विलक्षण भाववाचक शब्द हमें एक कोष में मिला था। उसमें Backwardness के आगे लिखा था—'पिछड़ाहुआपन'! 'फल' शब्द के पहले जब 'सह' लगता है, तब संस्कृत समास के नियम के अनुसार उसका रूप 'स' हो जाता है जिससे 'सफल' शब्द बनता है; और उसका भाव-वाचक रूप होता है 'सफलता।' अधिकतर हिन्दी लेखक उसी 'सफल' में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'असफल' और 'असफलता' लिखते हैं। हमारी सम्मति में इनके स्थान पर

---

१ यह भूल इसलिए होती है कि लोग 'महान्' को 'महान' समझने और लिखने लगे हैं; और इसी भूल के कारण कुछ लोग 'महत्तम' को 'महानतम' भी लिख जाते हैं।

'विफल' और 'विफलता' का प्रयोग ही अधिक उत्तम होगा।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती हुई गलत रास्ते पर पहुँच रही है। अब हम लोग बिना सोचे-समझे अनेक प्रकार के 'संकर' शब्द बनाने लगे हैं। शब्द एक भाषा का होता है तो उसमें प्रत्यय दूसरी भाषा का लगता है! जैसे-मुसलमानत्व, अपनत्व, थिरता, सुघरता, कट्टरता आदि। ऐसे शब्दों में 'त्व' या 'ता' प्रत्यय की जगह 'पन' प्रत्यय लगाना ही अधिक उत्तम होगा। दो एक स्थानों पर 'लाजुकता' का भी प्रयोग हमारे देखने में आया है। यदि इसी के पीछे लगी हुई 'नाजुकता' भी आ पहुँचे तो उसे कौन रोकेगा? इसलिए यह प्रवृत्ति कभी शुभ नहीं कही जा सकती।

भाव-वाचक संज्ञाओं का प्रसंग आ गया है; इसलिए यहाँ हम इस सम्बन्ध में एक और बात बतला देना चाहते हैं। संस्कृत में भाव-वाचक संज्ञाएँ कई प्रकार से बनती हैं। जैसे—निकट से निकटता, निकटत्व और नैकट्य; एक से एकता, एकत्व और ऐक्य; विकट से विकटता, विकटत्व और वैकट्य; और तटस्थ से तटस्थता, तटस्थत्व और ताटस्थ्य आदि। इनमें से निकटता, एकता, विकटता और तटस्थता सरीखे रूप विशेष सुगम हैं; अतः जहाँ तक हो सके, ऐसे ही रूपों का प्रयोग करना चाहिए। पर साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'स्वास्थ्य' और 'स्वस्थता' या 'सामर्थ्य' और 'समर्थता' के अर्थों में बहुत-कुछ अन्तर भी है। साधारणतः 'स्वस्थता' या 'समर्थता' का जो अर्थ होता है, उसकी अपेक्षा 'स्वास्थ्य' या 'सामर्थ्य' से कुछ विशेष अर्थ या भाव सूचित होता है। अतः हमें रूपों की सुगमता और सुन्दरता का तो अवश्य ध्यान रखना चाहिए; पर साथ ही शब्दों के अर्थ या भाव पर भी पूरी दृष्टि रखनी चाहिए।

'स्पष्टीकरण' और 'एकीकरण' के ढंग पर भी आज-कल कुछ नये शब्द बनने लगे हैं। जैसे राष्ट्रीयकरण, शस्त्रीकरण, औद्योगीकरण आदि। यहाँ तक तो ठीक है। पर इस प्रकार के कुछ संकर शब्द भी बनने लगे हैं; जैसे--फिरंगीकरण, मुसलमानीकरण, उर्दूकरण आदि। ऐसे प्रयोग विचारणीय हैं। एक अवसर पर एक सज्जन ने तो इसी फेर में पड़कर 'पृथक्करण' को 'पृथक्कीकरण' बना डाला था; और एक पत्र में छपा था—

'सभ्यीकरण'! पर इस ढंग पर सरलीकरण, साधारणीकरण, निरस्त्रीकरण आदि कुछ सुन्दर और ठीक शब्द भी चलते हैं।

सभी भाषाओं में आवश्यकतानुसार कुछ शब्द और प्रयोग औरों से लिये जाते हैं; पर वे सब-के-सब चल नहीं पड़ते। इनमें से जो बातें ग्रहण करनेवाली भाषा की प्रकृति के अनुकूल होती हैं, वही चलती हैं; बाकी बातें या तो छूट जाती हैं या दूषित समझी जाती हैं। बहुधा सुयोग्य भाषा-विद् पंडित समझ-बूझकर जो शब्द चलाते हैं, अधिकतर वही चलते हैं। स्व० लोकमान्य तिलक ने एक शब्द चलाया था—'नौकरशाही' जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आपसे-आप चल गया। हिन्दी में 'निरादर' सरीखे कुछ ऐसे शब्द भी चलते हैं, जो संस्कृत व्याकरण के अनुसार ठीक न होने पर भी हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य और जन-साधारण की बोल-चाल में आ गये हैं। साधारण लोगों के चलाये हुए कुछ शब्द भी अवश्य चल जाते हैं; परन्तु इस वर्ग में वही शब्द आते हैं जो ग्राहक भाषा की प्रकृति के अनुकूल होते हैं। परन्तु ऊपर उदाहरण-स्वरूप जो संकर यौगिक तथा भाव-वाचक शब्द दिये गये हैं, वे अधिकतर सामान्य लेखकों की कलम से और वह भी परम असावधानता के कारण निकले हैं। वे शब्द गढ़नेवाले अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो भाषा-विज्ञान के तत्त्व और स्वयं अपनी भाषा की प्रकृति नहीं जानते। और उनकी देखा-देखी उन्हीं की कोटि के नये अनजान लेखक भी इन शब्दों के प्रयोग कर चलते हैं; और कभी-कभी उन्हीं के ढंग पर नये शब्द भी बनाने लगते हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार के अधिकतर शब्दों की आयु बहुत थोड़ी होती है और वे जल्दी ही मर जाते हैं; फिर भी यह प्रकृति बहुत ही घातक है। नये तथा सामान्य लेखकों को इससे सदा बचना चाहिए।

सर्वनामों के ठीक प्रयोग

जिस प्रकार हम लोग संज्ञाओं के प्रयोग में असावधान बनते हैं; उसी प्रकार प्रायः सर्वनामों के प्रयोग में भी। एक ही वाक्य में 'हम' के साथ 'अपना' या 'अपने' की जगह 'हमारा' और 'हमारे' तथा 'मैं' के साथ 'अपना' या 'अपने' की जगह 'मेरा' और 'मेरे' का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—

१. हमारे महान् राष्ट्र को पद-दलित रखनेवाली जंजीरों को हम शीघ्र झटक दें।

२. मेरी निगाह मेरे मित्र की ओर थी।

३. हमारी भाषाकी यह दुर्दशा देखकर मैंने उसके निवारण का उपाय सोचा।

४. इस संबंध में मेरा मत मैं पहले ही प्रकट कर चुका हूँ।

५. मेरी माता की मृत्यु के उपरांत मैं अपने पिता जी के पास सोता था।

उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि प्रायः लोग यह निश्चय नहीं कर सकते कि कहाँ 'अपना' (या 'अपने') और कहाँ 'मेरा' (या 'मेरे') अथवा 'हमारा' (या हमारे') होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक व्यापक सिद्धान्त यह है कि जहाँ किसी कथित वस्तु या विषय के साथ वक्ता का बिलकुल 'स्व' का सम्बन्ध हो, अर्थात् जिसके साथ वस्तुतः अपनेपन या निजत्व का भाव हो, उसके बाद 'अपना' या 'अपने' का प्रयोग होना चाहिए; और जिसके साथ 'पर' का सम्बन्ध हो, या जहाँ कुछ परायेपन का भाव हो, वहाँ 'मेरा—मेरे' या 'हमारा-हमारे' होना चाहिए। एक दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। ऊपर एक उदाहरण है—'मेरी निगाह मेरे मित्र की ओर थी।' यहाँ साधारण कथन-प्रकार के विचार से 'निगाह' के साथ कोई परकीयता-वाला भाव नहीं है। अतः इसमें 'मेरे' की जगह 'अपने' रखना ठीक है। हाँ 'मेरी निगाह मेरे वश में नहीं थी।' में 'मेरे' इसलिए ठीक है कि (वश में न होने के कारण) उसमें परत्व का भाव आ गया है। इसी प्रकार 'मेरा मन अपनी पुस्तक में लगा था' और 'मेरा मन मेरा विरोध करता था' भी हैं। इनमें से पहले वाक्य में 'अपनी' और दूसरे वाक्य में दूसरा 'मेरा' दोनों ठीक हैं। 'मैंने अपने भाई से सुना था।' में 'स्व' वाला तत्त्व वर्तमान है; अथवा कम-से-कम परत्व सूचित करनेवाला कोई भाव नहीं है; इसलिए इसमें 'अपने' ही ठीक है। पर 'मेरा भाई मुझसे कहता था' में भाई की सत्ता मुझसे स्पष्टतया अलग सूचित होती है; इसलिए इसमें 'मेरा' ही ठीक है[1]।

१. यह विवेचन पढ़कर एक सज्जन ने पूछा था—

न काबू में है दिल मेरा, न कहने में जबाँ मेरी।
कोई हो राजदाँ अपना, तो कह दे दास्ताँ मेरी॥

फिर भी कुछ अवसरों पर यह बतलाना बहुत ही कठिन हो जाता है कि यहाँ 'हमारा' या 'हमारे' क्यों होना चाहिए, अथवा इनकी जगह 'अपना' या 'अपने' क्यों होना चाहिए। इस पुस्तक के तीसरे संस्करण में 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकारण के पहले अनुच्छेद में एक वाक्य बढ़ाया गया था, जो इस प्रकार था—'हमारे जो अंग व्यवहार में आने अथवा पुराने होने के कारण छीजते रहते हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी और हमारे समस्त अंगों की पुष्टि, वृद्धि और विकास के लिए भी हमें अनेक पोषक तत्त्वों की आवश्यकता होती है।' पर प्रूफ देखने के समय ध्यान में आया कि इस वाक्य के उत्तरार्द्ध में जो 'हमारे समस्त अंगों की......' पद है, उसमें 'हमारे' की जगह 'अपने' रखना ठीक होगा। और इसका कारण कदाचित् यही था कि इसके उपरान्त 'हमें अनेक पोषक तत्त्वों......' पद आया है। और यही सोचकर प्रूफ में उक्त 'हमारे' की जगह 'अपने' कर दिया गया था। फिर भी हम यही कहेंगे कि अभी तक इस सम्बन्ध के पूरे और व्यापक नियम नहीं बने हैं; इसलिए ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उन्हीं के आधार पर विद्यार्थियों को ठीक प्रयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधारणतः नियम यह है कि वाक्य में संज्ञा पहले आती है और तब आगे आवश्यकता पड़ने पर उससे संबंध रखनेवाला सर्वनाम आता है। पर कुछ

सर्वनामों का स्थान

लोग अँगरेजी की छाया में रहने के कारण यह क्रम उलट देते हैं। वे पहले सर्वनाम रखते हैं और संज्ञा बाद में लाते हैं। जैसे—'तब उसने अपनी दृष्टि उसके चेहरे पर गड़ाकर सुनीता से कहा।' होना चाहिए—'तब उसने सुनीता के चेहरे पर दृष्टि गड़ाकर उससे कहा।' नहीं तो कुछ अवस्थाओं में ऐसा 'उसके' भ्रामक हो सकता है; और उससे किसी दूसरे के चेहरे के संकेत का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार 'उसे अपनी जानकारी का बहुत अभिमान था; इसलिए माधव ने अकड़कर कहा—' के बदले 'माधव को अपनी जानकारी का बहुत अभिमान

में 'अपना' का प्रयोग ठीक है या नहीं ? यहाँ 'अपना' का प्रयोग इसलिए बिलकुल ठीक है कि वह वक्ता और उसके प्रिय दोनों के लिए आया है। आशय यह है कि जो हम लोगों (प्रेमी और प्रिय) जो रहस्यनय संबंध जानता हो, वह उनसे मेरा हाल कह दे।

था; इसलिए उसने अकड़कर कहा—' कहना ही अधिक उत्तम है।

कुछ लोग ऐसे अवसरों पर भी संज्ञा का ही प्रयोग कर जाते हैं, जिनमें सर्वनाम होना चाहिए। जैसे—'किसी असाध्य कार्य के साधन में प्रेतादि की सहायता लेने के लिए उन दिनों लोग श्मशान में जाकर प्रेतादि के हाथ महामांस बेचते थे।' में दूसरे 'प्रेतादि' की जगह 'उन' होना चाहिए। 'मैं उसे विद्वानों की गवेषणा की वस्तु समझकर विद्वानों के लिए ही छोड़ देता हूँ।' में यदि 'विद्वानों के लिए ही' की जगह 'उन्हीं के लिए' हो तो वाक्य हलका और सुंदर हो जाय।

सर्वनाम और वचन

कुछ अवस्थाओं में सर्वनाम के वचन का ध्यान न रखने से भी वाक्य भ्रामक हो जाते हैं। एक बार एक समाचार-पत्र में महात्मा गान्धी के एक वक्तव्य में पढ़ा था—'जेल में यदि उनकी मृत्यु भी हो जाय तो मैं उसके लिए आँसू न बहाऊँगा।' इसमें 'उसके' की जगह 'उनके' होना चाहिए। यों वह 'उन' की ओर संकेत न करके स्वयं 'मृत्यु' की ओर संकेत करता हुआ जान पड़ता है। अर्थात् जिस रूप में वाक्य ऊपर दिया गया है, उसका अर्थ होता है—मैं मृत्यु के लिए आँसू न बहाऊँगा। पर वास्तविक आशय है—मैं उन लोगों के लिए आँसू न बहाऊँगा। पर यह आशय तभी प्रकट होगा, जब 'उसके' की जगह 'उनके' होगा। उक्त वाक्य के समर्थन में कहा जा सकता है कि उसमें का 'उसके' वस्तुतः 'मृत्यु हो जाने' के सम्बन्ध में आया है। पर इस प्रकार के समर्थन से वाक्य की भ्रामकता दूर नहीं हो सकती। यही बात—'और कामों की भीड़ भी तो है, जिसे निपटाना है।' के सम्बन्ध में भी है। इसमें 'जिसे' का संबंध वस्तुतः 'कामों' से है, न कि उनकी भीड़ से; अतः 'जिसे' की जगह 'जिन्हें' होना चाहिए।

वाक्य में एक ही व्यक्ति या वस्तु के लिए कहीं 'यह' और कहीं 'वह' कहीं 'आप' और कहीं 'तुम', कहीं 'उसे' और कहीं 'इन्हें', कहीं 'उसका' और कहीं 'उनका' भी नहीं होना चाहिए। पर प्रायः लोग इस छोटी सी बात पर भी ध्यान नहीं देते। वे बहुत-कुछ इस प्रकार के भद्दे वाक्य लिख जाते हैं—

'आप जब वहाँ पहुँचे, तब स्टेशन पर भारी भीड़ थी। बहुत से लोग

उनका स्वागत करने के लिए आये थे। स्टेशन के बाहर एक शामियाने के नीचे बहुत बड़ी सभा हुई। वहाँ से चलकर जब ये ठहरने के स्थान पर पहुँचे, तब संध्या हो चुकी थी।' 'ऐसा माल बिकता भी जल्दी है और उसका मूल्य भी अधिक होता है।' 'ये आँखें किसकी हैं? उन आँखों में क्या है?' 'इन्हें अपने साथ ले जाइए। आप सब बातें उन्हें समझा देंगे।" आदि। कुछ लोग सर्वनामों के साथ आनेवाली क्रियाओं के रूप भी गड़बड़ा देते हैं। जैसे—'आप खाना खाने आ जाओ।' 'सुनो, मैं आपका कृतज्ञ हूँ।' आदि। होना चाहिए—'आप खाना खाने आ जायँ।' और 'सुनिए, मैं आपका कृतज्ञ हूँ।' इस प्रकार की भूलों से वाक्य बहुत भद्दे हो जाते हैं; पर जरा सी सावधानी से उन्हें भद्देपन से बचाया जा सकता है।

कभी-कभी लोग सम्बन्धवाचक सर्वनामों का प्रयोग करने में अनेक प्रकार की भूलें करते हैं। एक बार एक पत्र में छपा था—'श्रीनगर में यह अफवाह फैली है कि कबायलियों को उनका मत बदलने के लिए उन्हें उसकाया गया है।' वास्तविक आशय यह था कि कश्मीरियों का मत बदलने के लिए कबायलियों को उसकाया गया है। पर वाक्य से यह आशय नहीं निकलता। इस प्रकार की कई भूलों से युक्त जो एक वाक्य हमें एक समाचार-पत्र में मिला था, वह इस प्रकार था—'जिन लोगों की नौकरी २० वर्ष से कम की है और वे अभी जाना नहीं चाहते, जो जाना भी चाहते हैं और उनका आवेदनपत्र अभी स्वीकृत नहीं हुआ है, वे तथा स्थायी सैनिक अधिकारियों को तब तक भारत में रखा जायगा, जब तक यहाँ उनकी जरूरत समझी जायगी।' इस वाक्य में 'और वे' की जगह 'पर जो', 'और उनका' की जगह 'पर जिनका' और 'वे' की जगह 'उन्हें' होना चाहिए। इसी प्रकार की एक और भद्दी भूल एक बार एक समाचार-पत्र में इस रूप में देखने में आई थी—'कुछ मुसलमान पाकिस्तान से कुछ हिन्दू स्त्रियों को भगाकर पश्चिमी सीमा प्रान्त में ले गये थे। इपी के फकीर ने फतवा निकालकर उन्हें कुत्तों से नुचवा डाला।' इसमें का 'उन्हें' कितना भ्रामक है! पता ही नहीं चलता कि यह 'उन्हें' उन मुसलमानों के लिए आया है जो हिन्दू स्त्रियों को भगा ले गये थे, या उन हिन्दू स्त्रियों के लिए, जिन्हें वे लोग भगा ले गये थे। यद्यपि

इपो के फकीर का रुख देखते हुए यही जान पड़ता था कि हिन्दू स्त्रियों को भगा ले जानेवाले मुसलमान ही कुत्तों से नुचवाये गये होंगे, फिर भी अधिकतर अनजान लोगों ने यही समझा होगा कि हिन्दू स्त्रियाँ ही कुत्तों से नुचवाई गई थीं। थोड़ा ध्यान रखने से ही लोग ऐसी भद्दी भूलों से बच सकते हैं।

[७]

विशेषण और क्रिया-विशेषण

विशेषण की व्याख्या—विशेषणों में पारस्परिक अन्तर—उपयुक्त विशेषण और क्रिया-विशेषण—विशेषणों के अशुद्ध प्रयोग—अनुपयुक्त विशेषण—विशेषणों के अशुद्ध रूप—समान जान पड़नेवाले विशेषणों में अन्तर—विशेषणों का ठीक स्थान—संस्कृत विशेषणों के शुद्ध और अशुद्ध रूप—प्रत्ययों के दूषित प्रयोग—व्यर्थ के विशेषण और क्रिया-विशेषण—विशेषणों के स्त्री-लिंग रूप—संख्यावाचक विशेषणों के अशुद्ध प्रयोग—संज्ञा की जगह क्रिया-विशेषण—नित्य-सम्बन्धी क्रिया-विशेषण।

व्याकरणों में आपको विशेषण की कई प्रकार की व्याख्याएँ मिलेंगी। पर उन सब का सारांश साधारणतः यही होगा कि संज्ञा की विशेषता बतलानेवाले शब्द विशेषण कहलाते हैं। 'विशेषण' शब्द ही इस विशेषता-वाले तत्व का सूचक है। पं० कामताप्रसाद गुरु ने इस व्याख्या से कुछ और आगे बढ़कर अपने 'हिन्दी व्याकरण' में लिखा है—'जिस विकारी शब्द से संज्ञा की व्याप्ति मर्यादित होती है, उसे विशेषण कहते हैं।' पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भाषा के क्षेत्र में विशेषण का कार्य इससे कहीं अधिक विस्तृत है। वस्तुतः विशेषण का कार्य है—किसी वस्तु या कार्य का बिलकुल यथार्थ और यथा-तथ्य परिचय देना; ऐसा परिचय देना, जिससे उस वस्तु या कार्य का ठीक-ठीक स्वरूप पाठकों के ध्यान में आ जाय और उसके संबंध में उनके मन में कोई भ्रम न रह जाय। संज्ञा के संबंध में जो काम विशेषण करता है, वही काम क्रियाओं और विशेषणों के संबंध में क्रिया-विशेषण करता है; और साधारण वाक्यों में जो काम विशेषण या क्रिया-विशेषण करता है, मिश्र तथा संयुक्त वाक्यों में वही काम विशेषण उपवाक्य या क्रिया-विशेषण उपवाक्य करता है।

विशेषण की व्याख्या

यदि हम विशेषण अथवा क्रिया-विशेषण का प्रयोग तो करें, पर ऐसा प्रयोग करें, जिससे किसी को उस विशिष्ट वस्तु या कार्य के ठीक स्वरूप का ज्ञान ही न हो सके अथवा कुछ का कुछ ज्ञान हो, तो उस अवस्था में हमें मानना पड़ेगा कि हमने विशेषण या क्रिया-विशेषण का ठीक प्रयोग नहीं किया और हमारे उस प्रयोग का उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। ऐसा प्रयोग हमारे भाषा-ज्ञान की अपूर्णता का सूचक होगा।

अधिकतर शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं और अधिकतर भावों के सूचक कई-कई शब्द होते हैं। पर सब में प्रायः कुछ-न-कुछ सूक्ष्म अन्तर भी होता ही है।

विशेषणों में पारस्परिक अन्तर

अतः प्रत्येक अवसर पर व्यवहार में लाने के लिए शब्दों का चुनाव बहुत ही सावधान होकर करना चाहिए। उदाहरण के लिए एक शब्द लीजिए—मोटा। मोटा आदमी भी होता है और मोटा कपड़ा भी; यहाँ तक कि कुछ आदमियों की अक्ल भी मोटी होती है। पर टेबुल मोटा नहीं होता, तसवीर मोटी नहीं होती और बेवकूफी भी मोटी नहीं होती। अब दूसरा पक्ष लीजिए। 'मोटा' का विरोधी भाव सूचित करनेवाले कई शब्द हैं, जैसे महीन, बारीक, सूक्ष्म, पतला आदि। छड़ पतला होता है, पर कपड़ा महीन। पेड़ की डाल पतली तो हो सकती है, पर महीन नहीं हो सकती। और 'मोटी बुद्धि' का विरोधी भाव सूचित करने के लिए हम 'पतली या महान बुद्धि' नहीं कह सकते। हमें बुद्धि के साथ 'सूक्ष्म' विशेषण लगाना होगा। फिर 'पतला' का विरोधी भाव 'मोटा' से तो सूचित होता ही है; उसका विरोधी भाव सूचित करनेवाला एक और शब्द है—गाढ़ा। 'पतली डाल' भी होती है और 'मोटी डाल' भी। पर पकी हुई 'दाल' यदि 'पतली' न हो तो वह 'मोटी' नहीं, बल्कि 'गाढ़ी' कहलावेगी। ये सभी विशेषण अलग-अलग भावों के सूचक हैं, और अलग-अलग पदार्थों के साथ अलग-अलग अवस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—चावल मोटा होता है किसी और अर्थ में, और उसकी संगिनी दाल पतली होती है किसी और अर्थ में। फिर जिस अर्थ में दाल पतली होती है, उस अर्थ में तरकारी पतली नहीं होती, बल्कि उसका रसा पतला होता है। इस प्रकार के अवसरों पर

ठीक और उपयुक्त विशेषण चुनने की आवश्यकता होती है।

संज्ञाओं और क्रियाओं के साथ विशेषण और क्रिया-विशेषण बहुत समझ-बूझकर लगाये जाने चाहिएँ। एक समाचार-पत्र में देखा था—'पर सिले हुए कपड़े इस आज्ञा से वंचित हैं।' परन्तु 'वंचित' का प्रयोग ऐसे अवसर पर होना चाहिए, जब कोई अधिकारी या पात्र अपना उचित प्राप्य पाने से रोका जाय। यहाँ तो केवल यह आशय है कि यह आज्ञा सिले हुए कपड़ों के लिए प्रयुक्त न होगी। अतः उक्त वाक्य में 'वंचित' का प्रयोग बिलकुल गलत अर्थ में और बे-मौके हुआ है। एक पुस्तक में पढ़ा था—'मैं अपने से कम जाति की स्त्री के हाथ का भोजन नहीं करता।' पर जातियाँ एक दूसरी से 'कम' या 'ज्यादा' नहीं हुआ करतीं। वे तो 'छोटी' या 'नीची' अथवा 'ऊँची' होती हैं। प्रायः समाचार-पत्रों में 'पठित समाज' सरीखे प्रयोग देखने में आते हैं। पर 'पठित' का अर्थ है—पढ़ा हुआ (ग्रन्थ, विषय आदि)। 'पढ़ा-लिखा' या 'शिक्षित' के अर्थ में 'पठित' का प्रयोग बिलकुल अशुद्ध है। 'पठित समाज' की जगह सदा 'शिक्षित समाज' का प्रयोग होना चाहिए। 'नोबेल-पुरस्कार-विजयिनी पर्ल बक' में 'विजयिनी' का प्रयोग ठीक नहीं है। 'पुरस्कार' जीता नहीं जाता, मिलता या प्राप्त होता है। अतः उक्त वाक्य में 'विजयिनी' की जगह 'प्राप्त' होना चाहिए था। एक प्रतिष्ठित मासिक पत्र में एक चित्र का परिचय इस प्रकार छपा था—'विद्यार्थी द्वारा निर्मित चित्र'। पर चित्र सदा अंकित या चित्रित होता है। यदि इस वाक्य में 'चित्र' की जगह 'मूर्ति' हो तो उसके साथ "निर्मित" ठीक होगा। कहीं कोई किसी पुस्तक-माला का प्रकाशन आरंभ करता है, तो लिखा जाता है—'अमुक सज्जन ने यह पुस्तक-माला स्थापित की है।' कहीं चन्दा जमा होता है तो निकलता है—'वहाँ ४० हजार रुपये संकलित हुए।' कोई लिखता है—'यह गौरव और भी उन्नत हो गया है।' कोई लिखता है—'भवन-निर्माण-योजना धीरे-धीरे उन्नत हो रही है।' कोई लिखता है—'वे सारे देश का धूँआधार दौरा करेंगे।' कहीं 'तालों के लिए टेंडर निमंत्रित किये जाते हैं।' कहीं लिखा मिलता है—'उन्होंने परामर्श स्थिर कर लिया।' और कहीं कोई लिखता है—'आप अपने

उपयुक्त विशेषण और क्रिया-विशेषण

अनुभवी हाथों से उसे प्रस्तुत करते थे ।'

विशेषणों के अशुद्ध प्रयोग

एक बार एक ऐसे सज्जन का प्रार्थनापत्र देखने को मिला था जो हिन्दी के एम० ए० तो थे ही, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-रत्न भी थे। उन्होंने अपनी इन योग्यताओं का इन शब्दों में उल्लेख किया था—'मैंने सन् १९३६ में सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा उत्तीर्ण की थी और गत वर्ष काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है। लगभग उन्हीं दिनों हिन्दी की एक परम प्रतिष्ठित पत्रिका में किसी के परिचय के अन्तर्गत पढ़ा था—'आपने प्रथम श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है।' एक और जगह पढ़ा था—'एक परीक्षा उत्तीर्ण करके अब उन्हें दूसरी का सामना करना पड़ा।' वस्तुतः होता तो है मनुष्य स्वयं किसी परीक्षा में उत्तीर्ण; परन्तु उसकी 'योग्यता' उससे स्वयं परीक्षाएँ ही उत्तीर्ण करा डालती है ! क्रमात् होना चाहिए—'मैं अमुक परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ हूँ।' 'आप अमुक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं।' और 'एक परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर अब उन्हें दूसरी का सामना करना पड़ा।'

कन्या के विवाह के सम्बन्ध में जो निमन्त्रण-पत्र अपने सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रों के यहाँ भेजे जाते हैं, उनमें प्रायः लिखा रहता है—'हमारी सौभाग्यवती कन्या......का शुभ विवाह......।' पर कुमारी कन्या के लिए 'सौभाग्यवती' शब्द का प्रयोग अनुचित है। वह सौभाग्यवती तो तब होती है, जब उसका विवाह हो जाता है। विवाह से पहले आप उसके लिए और विशेषणों (सौभाग्य-कांक्षिणी, कल्याणीया, स्वस्तिमती आदि) का प्रयोग कर सकते हैं, पर 'सौभाग्यवती' का नहीं। इसी प्रकार निमन्त्रण-पत्र में यह लिखना भी ठीक नहीं है—'मेरे सुपुत्र (अथवा सुपुत्री) का विवाह......।' अपने मुँह से अपने पुत्र को 'सुपुत्र' कहना कुछ वैसा ही है, जैसा अपने लड़के का परिचय देते समय कहना—'ये हमारे साहबजादे हैं।' इससे ध्वनि यह निकलती है कि हम 'साहब' या 'बड़े आदमी' हैं।

प्रायः लोग 'अपूर्व' का बहुत ही भद्दा और बे-ठिकाने प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—'उनकी मृत्यु से नगर की अपूर्व क्षति हुई है।' और 'इस दंगे के

कारण नगर में हिंसा का अपूर्व दृश्य उपस्थित था।' ऐसे प्रयोग करने-वालों को जानना चाहिए कि 'अपूर्व' का प्रयोग सदा शुभ और इष्ट बातों के लिए ही होता है; अशुभ और अनिष्ट बातों के लिए नहीं। अपूर्वता में सदा प्रशंसा या उल्लास आदि का भाव निहित रहता है। अतः अनिष्ट प्रसंगों में 'अपूर्व' का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

बहुत-से लोग 'दाता' और 'दायक' का भेद न समझने के कारण एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। यद्यपि दोनों का शब्दार्थ 'देनेवाला' है, फिर भी दोनों के प्रयोग में बहुत अन्तर है। 'दाता' का प्रयोग प्रायः व्यक्ति के सम्बन्ध में और 'दायक' का प्रयोग वस्तु के संबंध में होना चाहिए। 'हे प्रभो, आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिए।' में 'दाता, का प्रयोग बिलकुल ठीक है; क्योंकि वह ईश्वर (व्यक्ति) के संबंध में आया है। और 'वह स्थान हम लोगों के लिए सब प्रकार से सुखदायक सिद्ध हुआ' में 'दायक' का प्रयोग इसलिए ठीक है कि वह स्थान (वस्तु) के सम्बन्ध में आया है। यह ठीक है कि कुछ अवसरों पर 'दाता' की जगह भी 'दायक' का प्रयोग हो सकता या होता है; पर हर जगह 'दायक' के बदले 'दाता' का प्रयोग नहीं हो सकता। इसलिए इन शब्दों के प्रयोग में भी बहुत सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

प्रायः 'गम्भीर' का प्रयोग भी ऐसे अवसरों पर किया जाता है, जहाँ वह या तो निरर्थक होता है या अनावश्यक। 'यह विषय गम्भीर है।' और 'उनकी मुद्रा गम्भीर थी।' कहना तक तो ठीक ही है; पर 'मालवीय जी की अवस्था गम्भीर है।' और 'आटे का भाव गम्भीर रूप धारण कर रहा है।' में 'गम्भीर' का क्या अर्थ है? हम एक पाठ पढ़ लेते हैं कि Serious का अर्थ 'गम्भीर' है। यह नहीं सोचते कि Serious के कई अर्थ होते हैं, जिनमें 'गम्भीर' केवल एक अर्थ है, और इसके अतिरिक्त उसके और भी अनेक अर्थ होते अथवा हो सकते हैं। फिर जहाँ-जहाँ हमें Serious का भाव व्यक्त करना होता है, वहाँ-वहाँ हम 'गम्भीर' बैठाते चलते हैं। यह नहीं सोचते कि इस अँगरेजी शब्द के लिए अलग-अलग प्रसंगों के अनुसार हमारे यहाँ कई अलग-अलग शब्द होने चाहिएँ।

साधारणतः वाक्यों में विशेषणों का प्रयोग कुछ विशेषता प्रकट करने के सिवा उनमें कुछ चमत्कार उत्पन्न करने और जोर लाने के लिए भी होता है। पर प्रायः लोग विशेषता या चमत्कार का ध्यान छोड़-
अनुपयुक्त विशेषण कर केवल अपनी कलम का जोर दिखाने के लिए बड़े-बड़े
अनुपयुक्त या व्यर्थ के विशेषणों का प्रयोग करते हैं। वे इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रखते कि हमारे ऐसे प्रयोगों का कुछ अर्थ भी होता है या नहीं। 'उन्होंने एक निरीह बालिका का चित्रण उपस्थित किया।' में 'उपस्थित' अनावश्यक तो है ही, निरर्थक भी है। एक बार एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'यह बात परम आश्चर्य-जनक तो है ही, अत्यन्त विस्मय-कारक भी है।' मानों 'परम आश्चर्य-जनक' किसी एक भाव का सूचक हो और 'अत्यन्त विस्मय-कारक' किसी दूसरे भाव का। एक पुस्तक में पढ़ा था—'आकाश से भीषण बूँदें पड़ रही थीं।' लेखक ने यह नहीं सोचा कि 'बूँद' सरीखी छोटी और तुच्छ चीज के साथ 'भीषण' विशेषण खप भी सकता है या नहीं। 'भीषण वर्षा' तक तो ठीक है, पर 'भीषण बूँदें' ठीक नहीं है। विशेषणों के ऐसे प्रयोगों से वाक्य बहुत ही बोदे हो जाते हैं। जो बात वाक्यों में वस्तुतः जान डालनेवाली होनी चाहिए, वही उन्हें परम निर्जीव कर देती है। विशेषणों के भद्दे प्रयोगों के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. साहित्य और जीवन का घोर संबंध है।

२. उनके घोर आग्रह करने पर ही वह पत्र लिखा गया था।

३. उनकी मृत्यु के समाचार से नगर में भीषण शोक छा गया।

४. राजनीतिक परिस्थिति ने देश में भीषण निराशा उत्पन्न कर दी।

५. वे दान देने में विकट रूप से प्रसिद्ध थे।

६. उनकी उग्र गम्भीरता देखकर सब लोग चकित हो गये।

७. ब्रिटिश सैनिकों ने उस अवसर पर भयानक सहन-शक्ति का परिचय दिया।

८. वहाँ भारी-भरकम भीड़ जमा थी।

९. गाँवों की स्थिति उग्र है।

१०. उसने आग्रह-ग्रस्त होकर कहा।
११. वे सरकार की इस नटखट सलाह पर अमल न करेंगे।
१२. अनेक विषयों का साहित्य उनकी मेज पर विराजमान होने लगा।
१३. वे चुनाव में प्रचंड बहुमत से जीते।
१४. इस काम में भयंकर विलम्ब हो सकता है।
१५. वह भीषण रूप से इस काम में लग गया।

विशेषणों के अशुद्ध रूप

जब हम स्वयं अपने यहाँ के विशेषणों का ऐसा दुरुपयोग करते हैं, तब रबी-फारसी आदि के विशेषणों का तो कहना ही क्या है। एक बहुत पुराने और प्रतिष्ठित लेखक ने एक बार अपने एक उपन्यास में नायक के मुँह से नायिका के प्रति कहलाया था—'तुम बहुत लजीज हो।' 'लजीज' का अर्थ है स्वादिष्ट; और उसका प्रयोग केवल खाने-पीने की चीजों के सम्बन्ध में होता है। जैसे—पुलाव बहुत लजीज बना था। किसी स्त्री को 'लजीज' कहना मानों उसे भी खाद्य-पदार्थों की कोटि में ला रखना है। एक समाचार-पत्र में छपा था—लीगियों ने खूँख्वार अस्त्र-शस्त्रों से हमला किया। पर खूँख्वार तो शेर, चीते, भालू आदि जानवर होते हैं, या उनकी-सी प्रकृतिवाले मनुष्य भी 'खूँख्वार' कहे जा सकते हैं। 'अस्त्र-शस्त्र' के साथ 'खूँख्वार' विशेषण कैसा? एक पत्र में निकला था—'मैंने इसके हसीन पहलुओं का खाका तैयार कर रक्खा है।' पर 'हसीन' का प्रयोग केवल व्यक्तियों के सम्बन्ध में होना चाहिए, पदार्थों या अमूर्त विचारों आदि के सम्बन्ध में नहीं। एक जगह देखा था—वे लोग जोश में लबालब थे। पर 'लबालब' का प्रयोग बरतन-भाँड़ों या अधिक-से-अधिक ताल तलैया आदि के लिए ही होता है। एक जगह देखा था—न्याय को बालाए ताक पर रख दिया जाता था। पर 'बालाए ताक' का मतलब ही है—ताक पर। अतः वाक्य में या तो 'बालाए' नहीं होना चाहिए था या 'पर'। एक समाचार-पत्र में देखा था—कुल १५० आदमी, जिनमें ५० पुलिसवाले भी शरीक हैं, घायल हुए। इसमें 'शरीक' शब्द का बिलकुल गलत प्रयोग हुआ है; इसके स्थान पर 'शामिल' होना चाहिए। 'शरीक' शब्द का प्रयोग उस अवस्था

में होता है, जब कुछ लोग मिलकर खुद कोई काम करते हैं। 'शरीक' वह कहलाता है जो किसी काम में अपनी इच्छा से आगे बढ़कर सम्मिलित होता है। आदमी खाने-पीने में शरीक हो सकता है, चोरी करने या डाका डालने में शरीक हो सकता है या हिस्सा बँटने के समय अपना हक लेने के लिए उसमें शरीक हो सकता है। पर यह मार खाने और घायल होने में शराकत कैसी? मार खानेवालों में तो वह अधिक से अधिक 'शामिल' ही रहेगा।

एक पुस्तक में एक बार पढ़ा था—मेरी तबीयत नाशाद थी। पर असल मतलब था—नासाज थी। एक मासिक पत्र में पढ़ा था—'वहाँ बात-चीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने (दिखलाने) का मौका नहीं दिया जाता था। एक साप्ताहिक में छपा था—जब तक मि० चर्चिल और एमरी का जबानी घोड़ा मुबारक है......। इसमें 'मुबारक' की जगह 'सलामत' होना चाहिए। एक और जगह पढ़ा था—उन्हें बेशुमार परेशानी हुई।' इसमें 'बेशुमार' की जगह 'बेहद' होना चाहिए था। 'बेशुमार' का प्रयोग तो उन्हीं चीजों के सम्बन्ध में होना चाहिए जो गिनी न जा सकती हों। इस प्रकार के प्रयोग देखकर यदि किसी विद्यार्थी ने परीक्षा की उत्तर-पुस्तक में लिख दिया—'सूरज का दीपक बहुत जल्लाद है।' तो इसमें उस बेचारे का विशेष दोष नहीं मानना चाहिए। यहाँ प्रसंग आ गया है, इसलिए ऐसे प्रयोगों के सम्बन्ध में हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। वह यह कि खाली 'बड़े' या 'अच्छे' और 'बड़े-बड़े' या 'अच्छे-अच्छे' के अर्थों में भी कुछ अन्तर है। उदाहरण के लिए दो वाक्य लीजिए—(१) 'हिन्दी के अच्छे लेखक ऐसा नहीं करते।' और (२) 'हिन्दी के अच्छे-अच्छे लेखक ऐसा करते हैं।' पहले वाक्य में 'अच्छे' के अन्तर्गत हिन्दी के सभी अच्छे लेखक आ जाते हैं; पर दूसरे वाक्य में 'हिन्दी के सभी अच्छे लेखक' नहीं आते, बल्कि उनमें से कुछ या अधिकतर ही आते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'अच्छे' की जितनी व्याप्ति है, उतनी अच्छे-अच्छे' की नहीं है। दूसरी बात यह है कि पहले वाक्य में 'अच्छे' के अन्तर्गत वही लेखक आते हैं जो वस्तुतः अच्छे और उच्च कोटि के हैं। पर दूसरे वाक्य में 'अच्छे-अच्छे' के अन्तर्गत ऐसे लेखक भी आ जाते हैं जो वस्तुतः

अच्छे और उच्च कोटि के नहीं हैं, बल्कि सामान्य से कुछ ही उच्च कोटि के हैं। अर्थात् ऐसे विशेषणों की पुनरुक्ति से एक तो विशेष्य की व्याप्ति मर्यादित होती है; और दूसरे उन विशेषणों से प्रकट होनेवाली विशेषता में भी कुछ न्यूनता का भाव आ जाता है। अतः ऐसे प्रयोग करते समय बहुत सावधानता और विचार की आवश्यकता होती है।

समान जान पड़नेवाले विशेषणों में अन्तर

जिस प्रकार समानार्थक जान पड़नेवाली अनेक संज्ञाओं में वस्तुतः बहुत-कुछ अन्तर होता है, उसी प्रकार समानार्थक जान पड़नेवाले अनेक विशेषणों में भी। 'चिन्तनीय' का अर्थ है - जिसके सम्बन्ध में चिन्तन या सोच-विचार करने की आवश्यकता हो; अर्थात् चिन्ता करने के योग्य (विषय, विचार आदि)। और चिन्ताजनक का अर्थ है – जो मन में चिन्ता उत्पन्न करे। पर इस अन्तर का ध्यान न रखकर एक पत्रकार ने लिख दिया था—'चावल का चिन्तनीय अभाव'। यों किसी चीज का अभाव भी चिन्तन का विषय या चिन्तनीय हो सकता है; पर जिस प्रसंग में यह वाक्य आया था, उसमें 'चिन्ताजनक' के अर्थ में ही था। अतः वहाँ 'चिन्तनीय' की जगह 'चिन्ता-जनक' ही होना चाहिए था। प्रायः लोग समझते हैं कि 'अन्तिम' और 'पिछला' समानार्थक हैं। इसी लिए एक समाचार-पत्र में निकला था—'गान्धी जी ने अपनी अन्तिम जेल-यात्रा से पहले कहा था...।' पर 'अन्तिम' का अर्थ है—उनके अन्त का। अतः इसका यह अर्थ होगा कि यह गान्धी जी का आखिरी बार जेल जाना था; और अब भविष्य में वे कभी जेल नहीं जायँगे। पर यह कोई निश्चित बात नहीं है। हो सकता था कि उन्हें फिर जेल जाना पड़ता। अतः उक्त वाक्य में 'अन्तिम' की जगह 'पिछला' होना चाहिए था। कुछ लोग 'आगामी' और 'भावी' का अन्तर न समझ सकने के कारण गड़बड़ा जाते हैं; और 'आगामी घटना' आदि लिख जाते हैं। 'आगामी' का अर्थ है—आगे चलकर आनेवाला। इसमें आनेवाली वस्तु का आना निश्चित होता है; और इस बार आने या होने के बाद ही फिर अगली बार जब उसके आने या होने का जिक्र होता है, तब इसका प्रयोग किया जाता है। प्रायः इसका प्रयोग काल का मान बत-

जानेवाले शब्दों के साथ होता है। जैसे—आगामी सप्ताह, आगामी वर्ष आदि। जिन कार्यों का निश्चित समय हो, उनके सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे—आगामी अधिवेशन। 'भावी' का अर्थ है—भविष्य में होने-वाला। अर्थात् जिसका न तो होना ही विशेष निश्चित हो और न कोई पारी ही हो, उसके सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है। अतः 'घटना' सरीखे शब्दों के साथ 'भावी' का ही प्रयोग ठीक है, 'आगामी' का नहीं।

बहुत से लोग 'विहीन' और 'रहित' में कोई अन्तर नहीं समझते। यह ठीक है कि कुछ अवस्थाओं में दोनों बहुत-कुछ समानार्थक होते हैं; पर कुछ अवस्थाओं में दोनों में सूक्ष्म अन्तर भी होता है। हम यह तो कह सकते हैं—'वे सब प्रकार के दोषों से रहित हैं।' पर यह नहीं कह सकते—'वे सब प्रकार के दोषों (अथवा कष्टों, रोगों आदि) से विहीन हैं।' 'विहीन' का प्रयोग केवल अपेक्षित, अच्छी या इष्ट बातों के अभाव के सम्बन्ध में हो सकता है; बुरी या अनिष्ट बातों के अभाव के सम्बन्ध में नहीं। पर 'रहित' का प्रयोग, प्रायः अच्छी और बुरी या इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार की बातों के अभाव के लिए हो सकता है। जैसे—पुरुषार्थ-रहित, रोग-रहित, कष्ट-रहित आदि।

'कोई' और 'कुछ' के प्रयोगों में भी प्रायः गड़बड़ी देखी जाती है। प्रायः लोग लिख या बोल जाते हैं—'इसका कोई अर्थ नहीं होता।' पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय, तो ऐसे अवसरों पर 'कोई' की जगह 'कुछ' होना चाहिए। 'जिस जीवन की कोई हस्ती न हो, वह व्यर्थ है।' और—'हम दोनों सगे भाई होकर भी मैं कोई नहीं और आप चक्रवर्ती!' में भी 'कोई' की जगह 'कुछ' ही होना चाहिए; क्योंकि 'कोई' सम्बन्ध-सूचक है। और उक्त वाक्यों में सम्बन्ध-सूचकता प्रकट करने का कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो 'सार्थक अस्तित्व' सूचित करनेवाला शब्द होना चाहिए; और ऐसा शब्द 'कुछ' है। हाँ—'आत्मीय होकर मुझसे राय नहीं ली, जैसे मैं कोई नहीं।' में 'कोई' का ठीक प्रयोग हुआ है; क्योंकि यहाँ अस्तित्व की नहीं, बल्कि सम्बन्ध सूचित करनेवाले शब्द की आवश्यकता है। इसी विचार से 'इसका तो कोई अर्थ ही नहीं होता' में भी 'कोई' की जगह 'कुछ' होना चाहिए। 'कोई', 'किसी' और 'कुछ' का अन्तर स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ और उदाहरण देते

हैं। मान लीजिए, हम कहते हैं—१. यह कोई काम की बात नहीं है। २. यह किसी काम की बात नहीं है। और ३. यह कुछ काम की बात नहीं है। अब यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उक्त तीनों वाक्यों के अर्थ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। अर्थों की यह विभिन्नता नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट होती है—१. यह कोई अच्छी आदत नहीं है। २. यह किसी काम का आदमी नहीं है। और ३. यह कुछ तमाशा नहीं है। अतः इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते समय अथ, प्रयोग और प्रसंग का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

यहाँ हम इस प्रकार के कुछ और ऐसे विशेषण देते हैं, जिनके अर्थों में है तो बहुत बड़ा अन्तर, पर प्रायः लोग उस अन्तर का ध्यान न रखकर जिनमें से एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं।

गोल	वर्तुल	अलभ्य	अप्राप्य
बलवान्	प्रबल	अलौकिक	लोकोत्तर
निरर्थक	व्यर्थ	तात्कालिक	तत्कालीन
अनभिज्ञ	अपरिचित	अधिकारी	आधिकारिक
तत्पर	प्रस्तुत	अनुरूप	अनुकूल

कभी-कभी लोग ऐसी जगह संज्ञाओं का प्रयोग कर जाते हैं, जहाँ वास्तव में विशेषण या क्रिया-विशेषण की आवश्यकता होती है। जैसे—'इस काम में न जाने कितने जीवन उत्सर्ग हुए होंगे।' और—'अभी निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।' इनमें से पहले वाक्य में 'उत्सर्ग' की जगह 'उत्सृष्ट' और दूसरे वाक्य में 'निश्चय' को जगह 'निश्चित' होना चाहिए। 'वे अपना हृदय परिवर्तन करना नहीं चाहते।' में 'परिवर्तन' की जगह 'परिवर्त्तित' होना चाहिए। और 'गोआ निश्चय आजाद होगा।' में 'निश्चय' की जगह 'निश्चित रूप से' या 'अवश्य' होना चाहिए। इसके विपरीत कभी-कभी कुछ लोग ऐसे अवसरों पर विशेषण का प्रयोग कर जाते हैं, जहाँ संज्ञा का प्रयोग होना चाहिए। जैसे—वे इधर महीनों से रुग्ण-शय्या पर पड़े थे। इस वाक्य में 'रुग्ण' की जगह 'रोग' होना चाहिए। अथवा 'पद्य के चौथे भाग को चरण कहते हैं।' यहाँ 'चौथे' की जगह 'चौथाई' होना चाहिए। 'चौथा' तो क्रम-वाचक विशेषण है; और इस दृष्टि से उक्त उदाहरण का यह अर्थ हो जायगा कि पद्य के

पहले, दूसरे और तीसरे भागों की तो कुछ और संज्ञाएँ या नाम हैं; और उसका चौथा भाग 'चरण' कहलाता है।

संज्ञा के स्थान पर विशेषण और विशेषण के स्थान पर संज्ञा के प्रयोग की बहुत कुछ गड़बड़ी प्रायः 'अधिकांश' और 'अधिकतर' के सम्बन्ध में भी देखी जाती है। बहुत कम लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि 'अधिकांश' मुख्यतः संज्ञा है; क्योंकि इसका शब्दार्थ है—अधिक अंश; और 'अधिकतर' विशेषण है; क्योंकि इसका अर्थ है—अधिक की अपेक्षा कुछ और आगे बढ़ा हुआ। परन्तु इन दोनों शब्दों के अर्थों का ठीक ठीक अन्तर न समझने के कारण, जल्दी में अथवा दूसरों की देखा-देखी प्रायः कुछ लोग एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—आपकी अधिकांश बातें ठीक हैं। यहाँ या तो 'अधिकांश' की जगह 'अधिकतर' होना चाहिए; या वाक्य का रूप होना चाहिए—'आपकी बातों का अधिकांश ठीक है'। यह कहना ठीक नहीं है—अधिकांश लोगों का यही विचार है। होना चाहिए—अधिकतर लोगों का यही विचार है। हाँ, यह कहना अवश्य ठीक है—इसका अधिकांश हमारे लिए व्यर्थ है। इन दोनों शब्दों और उक्त उदाहरणों के अर्थों पर विचार करने से इनका अन्तर सहज में जाना जा सकता है। यही बात 'अधिकांश लोग चले गये' के सम्बन्ध में भी है। ऐसे प्रयोग अशुद्ध होते हैं। यह ठीक है कि कुछ अवसरों पर 'अधिकांश' का प्रयोग क्रिया-विशेषण के समान भी होता है, जैसे—अधिकांश ऐसा होता है। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ भी 'अधिकांश' बहुत कुछ संज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि इसके बाद 'में' विवक्षित और अन्तर्निहित होता है। वाक्य का वास्तविक रूप होता है—अधिकांश में ऐसा होता है। इसलिए ऐसे अवसरों पर भी 'अधिकांश' की जगह 'अधिकतर' का प्रयोग अधिक उचित और ठीक होगा।

विशेषणों का ठीक स्थान

कभी कभी विशेषण अपने ठीक स्थान पर न आने के कारण ही कई तरह के भ्रम उत्पन्न करता है। एक पुस्तक में पढ़ा था—'हवा ठंढी चल रही थी।' इस वाक्य में 'ठंढी' शब्द है तो 'हवा' का विशेषण, पर अपने ठीक स्थान पर न होने के कारण 'चल रही थी' का क्रिया-विशेषण-सा जान पड़ता है। एक

और पुस्तक में पढ़ा था—'इतने में हलकी-सी हवा का झोंका आया।' होना चाहिए था—'इतने में हवा का हलका-सा झोंका आया।' नहीं तो 'हलकी-सी' देखने और अन्वय करने में 'हवा' का विशेषण माना जायगा।

संस्कृत विशेषणों के शुद्ध और अशुद्ध रूप

विशेषणों के सम्बन्ध में हिन्दी में प्रायः एक और प्रकार की भूल देखने में आती है। संस्कृत के कुछ विशेषणों को प्रायः लोग अपनी ओर से विशेषणत्व का एक नया जामा पहनाकर उन्हें डबल विशेषण बना देते हैं। या तो 'शंकित' होना चाहिए, या 'सशंक', पर प्रायः लोग 'सशंकित' लिखते हैं। इसी प्रकार के कुछ और शब्द हैं—

वैद्युत वैद्युतिक निराकांक्ष निराकांक्षी समकोण समकोणिक
अनभिलाष अनभिलाषी निरपराध निरपराधी निर्दय निर्दयी
अमानुष अमानुषी ('अमानुषी' वस्तुतः 'अमानुष' का स्त्री० रूप है।)
आवश्यक आवश्यकीय निर्धन निर्धनी।

कुछ लोग संस्कृत की संज्ञाओं से बने हुए ठीक विशेषणों का व्यवहार न करके मनमाने नियमों के अनुसार नई तरह से विशेषण बना लेते हैं। जैसे—'अनुमित' की जगह 'अनुमानित', 'संपृक्त' की जगह 'संपर्कित', 'उद्दिष्ट' की जगह 'उद्देशित', 'ग्रस्त' की जगह 'ग्रसित', 'त्रस्त' की जगह 'त्रसित', 'क्रुद्ध' की जगह 'क्रोधित', 'गार्हस्थ्य' की जगह 'गार्हस्थिक' आदि। व्यापित (व्याप्त), परिप्लावित (परिप्लुत), व्यवहरित (व्यवहृत), गौरवित (गौरवान्वित) आदि इसी प्रकार के और भी बहुत से शब्द हैं जो हिन्दी में प्रायः देखने में आते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत है कि अनुमानित, संपर्कित और व्यवहरित सरीखे रूप तो हिन्दी के मान लिये जायँ और अनुमित, संपृक्त तथा व्यवहृत सरीखे रूप संस्कृत के माने जायँ। संस्कृत के रूप हम छोड़ दें और उनके स्थान पर हिन्दी के नये और सुगम रूप प्रचलित करें। इस तर्क में कुछ तथ्य तो अवश्य है, पर इस झुकाव के अनुसार चलने में बहुत बड़ी गड़बड़ी होने का भी डर है। पहली बात तो यह है कि कुछ प्रयोग संस्कृतवाले वर्ग में हो जाने के कारण छूट जायँगे; और केवल हिन्दी के माने जाने-

वाले रूप रह जायँगे, जिससे हम घाटे में रह जायँगे। फिर आमंत्रित और अभिलषित सरीखे शब्दों का क्या होगा! दूसरे, हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'आकृष्ट' और 'आकर्षित' सरीखे कुछ शब्दों के अलग अलग अर्थ होते या हो सकते हैं। अपनी भाषा की वर्त्तमान आवश्यकताएँ देखते हुए हमें मानना पड़ेगा कि 'आकृष्ट' का अर्थ है या होना चाहिए—खिंचा हुआ; और 'आकर्षित' का अर्थ है या होना चाहिए—खींचा हुआ। संस्कृत में, भाव-वाचक संज्ञाओं की भाँति, विशेषण भी कई प्रकार से बनते हैं। और सब प्रकार या नियम न जानने के कारण प्रायः लोग मनमाने ढंग से विशेषण बनाने लगेंगे; और हो सकता है कि एक ही विशेषण के कई-कई रूप प्रचलित हो जायँ और उनमें से कुछ रूप अशुद्ध या भ्रामक निकलें।

'नियोजन' से 'नियोजक' तथा 'नियोक्ता' और 'विभाग' से 'विभागीय' तथा 'वैभागिक' दोनों रूप होते हैं। यह ठीक है कि हमें साधारणतः नियोजक और विभागीय सरीखे ऐसे ही रूप रखने चाहिएँ जो लिखने में भी सहज हों और जिनका उच्चारण भी सुगम हो। पर कुछ अवसरों पर हमें 'वैभागिक' सरीखे रूपों की भी आवश्यकता हो सकती है; इसलिए हम नियम-पूर्वक किसी एक रूप का त्याग और किसी दूसरे रूप का स्वीकार नहीं कर सकते। फिर भी, जहाँ तक हो सके, हमें सुगमता और बोध-गम्यता का ध्यान रखना चाहिए।

संस्कृत में 'प्रलय' से 'प्रलयंकर' विशेषण बनता है। पर कुछ लोग लिखते हैं—'एक प्रलयी हुंकार के साथ......।' एक समाचार-पत्र में देखा था—'प्रतिनिधात्मक शासना'। ऊपर हमने 'प्रलयी' का उदाहरण दिया है। शब्दों में 'ी' लगाकर विशेषण बनाने की हमारी यह प्रवृत्ति संस्कृत शब्दों तक ही परिमित नहीं है। जिस प्रकार हम अरबी-फारसी की कुछ संज्ञाओं में व्यर्थ ही 'ी' लगाकर उनका एक नया और अशुद्ध रूप बना लेते हैं[1], उसी प्रकार हम विशेषणों में भी प्रायः व्यर्थ 'ी' लगाने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। बनारस में

---

१. संज्ञाओं में व्यर्थ 'ी' लगाने की प्रवृत्ति भी हमारे यहाँ कम नहीं है। संस्कृत में अज्ञान संज्ञा भी है, विशेषण भी। अर्थात् इसके दो अर्थ हैं—(१) ज्ञान का अभाव, और (२) जिसे कुछ भी ज्ञान न हो। अन्तिम अर्थ में इसका व्यवहार प्रायः संज्ञा के समान होता है; अर्थात् वह जिसे कुछ भी ज्ञान न हो। पर इस अर्थ में लोग

'तैयारी' आम और कलकत्ते में 'तैयारी' कोट तो बहुत दिनों से बिकते ही हैं। प्रायः लोग 'लाचारी की हालत में' की जगह 'लाचारी हालत में' भी बोल जाते हैं। एक विज्ञापन में देखा था—'बवासीर का शिकारी' जो वस्तुतः 'बवासीर का शिकार' होना चाहिए था। पर इन्हें हम अशिक्षितों के अथवा बोल-चाल के प्रयोग मानकर छोड़ भी सकते हैं। पर अब कुछ शिक्षित लोग साहित्य में भी ऐसे शब्दों के प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'रेल में एक लावारसी बच्चा मिला।' 'श्रीमती नायडू द्वारा नीलामी।' और 'उनके साथ कई मातहती भी थे।' इन उदाहरणों में 'ला-वारिसी' की जगह 'ला-वारिस', 'नीलामी' की जगह 'नीलाम' और 'मातहती' की जगह 'मातहत' ही होना चाहिए। 'ला-वारिसी' भाव-व-वाचक संज्ञा व्यर्थ है; 'नीलामी' वस्तुतः विशेषण है, संज्ञा नहीं; जैसे 'नीलामी माल' और 'मातहती' भी वस्तुतः भाववाचक संज्ञा है। जैसे—आज कल उनकी मातहती में पचासों आदमी काम कर रहे हैं।'

एक ओर तो हम लोग दूसरी भाषाओं के शब्दों में अपने यहाँ के प्रत्यय लगाकर और दूसरी ओर ठेठ हिन्दी के शब्दों में संस्कृत आदि के

प्रायः 'अज्ञान' की जगह भूल से 'अज्ञानी' का प्रयोग कर जाते हैं। 'बिना श्री राम को देखे नहीं दिल को करारी है।' तो प्रायः अशिक्षित लोग गलियों में गाते फिरते हैं जिसमें 'करारी' वस्तुतः 'करार' (स्थिरता या चैन) की जगह आता है। पर हमारे शिक्षित भाई भी लिखते हैं—'वे चाहते हैं कि मै अपनी इन्कारी पर फिर से विचार करूँ।' और 'वह दिन भी आ गया जिसकी इन्तजारी थी'। वस्तुतः इनकार और इन्तजार ही यथेष्ट और ठीक हैं। पर इन्तजारी का प्रयोग कुछ उर्दू कवि भी कदाचित् भूल से ही, कर गये हैं। जैसे—

(क) इन्तजारी ने तेरी खूब दिखाया लहरा।
शाम से सुबह हुई, सुबह से पिछला पहरा॥

(ख) फिर किसी की इन्तजारी ने बनाया बुत मुझे।
फिर बरंगे चश्मे रौजन चश्म का हलका हुआ॥

इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का यह परिणाम है कि समाचारपत्रों में विज्ञापन निकलते हैं—'हमारे यहाँ सब तरह का सामान ढुलाई होता है।'

प्रत्यय लगाकर नये-नये विशेषण बनाने लगे हैं। इस प्रकार का एक शब्द है 'तोड़क' जो शायद पहले-पहल लाहौर के जात-पाँत-तोड़क मंडल की कृपा से चला था। यह तो हमें नहीं मालूम कि यह मंडल जाति-पाँति के बन्धन तोड़ने में कहाँ तक सफल हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी व्याकरण के कुछ नियमों की मर्यादा तोड़ने में वह अवश्य सफल हुआ है। कदाचित् उसी समय के लग-भग अथवा उससे भी कुछ पहले हिन्दी में 'सुधारक' शब्द भी चला था; पर इसमें उतनी खटक नहीं थी, जितनी 'तोड़क' में है। अब 'बीमा-पड़तालक' आदि कुछ और शब्द भी उसके अनुकरण पर बनने लगे हैं; और दक्षिण भारत में 'संगठक' का खूब प्रचार हो चला है। अब यदि कोई 'पड़तालक' के ढंग पर 'हड़तालक' भी लिखने लगे तो उसे कौन रोकेगा ? और इसी प्रकार आगे चलकर छोड़क, मोड़क, फोड़क और खोदक आदि शब्द भी बनने लगें तो कहाँ ठिकाना लगेगा ! जिस समय 'तोड़क' शब्द बना था; उससे बहुत पहले स्व० बा० जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' ने आज-कल के 'जाँचकर्ता' की तरह का 'जाँचक' शब्द बनाया था। यथा—

प्रत्ययों के दूषित प्रयोग

सुकवि प्रसंसनीय बिधि भलहि नियम बहु तोरहिं।
करहिं दोष जिहि सोधन सद् जाँचक साहस नहिं॥

और उनसे भी बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदास जी ने "बेचनेवाला" के अर्थ में 'बेचक' शब्द का प्रयोग किया था। यथा—

द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मान नियम अनुसासन॥

और सूरदास जी ने 'चाहक' बनाया था। यथा—

कहा सुदामा कै धन हौ ! तौ सत्य प्रीति के चाहक।

परन्तु यह स्पष्ट है कि 'जाँचक', 'बेचक' और 'चाहक' शब्द, अथवा प्रकार के और अनेक शब्द जो अन्य कवियों ने बनाये थे, हिन्दी में नहीं चले। इसका मुख्य कारण यही है कि ये शब्द हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं थे और इनमें कुछ खटक थी। इसके सिवा इनका व्यवहार कविता में हुआ था; और ये कवियों के विशेषाधिकार की छाया में रहने के कारण उतने आपत्ति-जनक भी नहीं थे। पर यह प्रवृत्ति है अवश्य चिन्तनीय।

एक समाचार-पत्र में किसी के ठगे जाने का जो समाचार छपा था, उसके अन्त में था—'वह निरीह व्यक्ति ठगित होकर लौट गया।' एक और जगह पढ़ा था— उन्होंने हमें लुभावित कर लिया' (लुभा लिया के अर्थ में)। कोई किसी की धृष्टता देखकर 'अचम्भित' होता है; कोई 'रत्न-जटित' की जगह 'रत्न-जड़ित' लिखता है; और कोई अपनी पुस्तक के नये संस्करण को उसका 'सुधारित रूप' बतलाता है। यदि यही प्रवृत्ति बढ़ती रही तो आगे चलकर हमें पुस्तकों के 'छापित' और 'दोहरायित' रूप भी दिखाई देने लगेंगे! और उन्हें देखकर हम 'उमंगित' भी होने लगेंगे। यह ठीक है कि संस्कृत और हिन्दी का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और हमने अधिकतर बातें संस्कृत से ही ली हैं; पर इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि हम हिन्दी के तद्भव शब्दों के विशेषण भी संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाने लगें।

यह दूषित प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही है। पुस्तकों के 'अजिल्द' और 'सजिल्द' संस्करण तो बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। पर अब ऐसा जान पड़ता है कि किसी को किसी प्रकार की मर्यादा का ध्यान रखना ही पसन्द नहीं है। अब प्रायः लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर अनेक प्रकार के संकर विशेषण और क्रिया-विशेषण बनाने लगे हैं। उदाहरणार्थ—लबे-खिड़की, असरकारक, उथल-पुथलमय, सह-मालिकाना, लापरवाही-पूर्ण, अ-डाक्टर, अ-फारसी, टैक्सदाता, काम-काज-हीन, गैर-बौद्ध, भीड़-युक्त, सजा-प्राप्त, नमूनार्थ, थोक-विक्रेता खोज-पूर्ण, खोजानुसार, अमेरिकास्थ, लन्दनस्थ, पटना-जिलान्तर्गत और श्रीमन्मास्टर साहबेषु आदि। इस प्रकार के प्रयोगों से बचना चाहिए।

विशेषणों के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य और भी कई बातें हैं। पहली बात यह है कि विशेषणों के साथ दूसरे फालतू विशेषण या क्रिया-विशेषण नहीं लगाने चाहिएँ। जैसे—'गरम आग' या 'ठंढी बरफ' कहना ठीक नहीं है। जो चीज सदा गरम या ठंढी ही रहती हो, उसके साथ गरमी या ठंढक सूचित करनेवाला विशेषण क्यों लगाया जाय? 'गुप्त रहस्य' लिखना भी ठीक नहीं है। रहस्य वस्तुतः वही होता है, जिस पर किसी

व्यर्थ के विशेषण और क्रिया-विशेषण

प्रकार का आवरण हो और जिसका ठीक या वास्तविक स्वरूप सब लोगों के सामने न हो। ऐसी अवस्था में उसके साथ 'गुप्त' विशेषण बिल्कुल व्यर्थ और अनावश्यक है। 'महात्मा गान्धी की मृत आत्मा' में 'मृत' का प्रयोग भी बहुत ही भद्दा और अशुद्ध है। आत्मा 'स्वर्गीय' तो हो सकती है, पर 'मृत' नहीं हो सकती। 'ऐसी सम्भावना गलत है।' में 'गलत' व्यर्थ है। 'सम्भावना' या तो 'होती है' या 'नहीं होती'। वह 'गलत' या 'सही' नहीं हो सकती। 'घमासान' में तो घोरता का भाव पहले से है ही; अतः 'घोर घमासान' लिखना ठीक नहीं है। 'दयनीय दशा' तो ठीक है; पर 'दयनीय दुर्दशा' ठीक नहीं है; क्योंकि 'दुर्दशा' सदा 'दयनीय' ही होती है। यही बात 'बहुत काफी' के सम्बन्ध में भी है, जो प्रायः 'बहुत अधिक' के अनुकरण पर लिखा जाता है। 'अधिक' के पहले तो 'बहुत' का प्रयोग इसलिए ठीक है कि वह 'अधिकता' की बढ़ी हुई मात्रा का सूचक है। पर 'काफी' का अर्थ ही है—यथेष्ट। और जो स्वयं यथेष्ट है, उसके साथ 'बहुत' लगाने की आवश्यकता नहीं। यही बात 'यह हवा बहुत तत्काल असर दिखलाती है।' में आये हुए 'बहुत' के सम्बन्ध में भी है। 'पुरानी परम्परा' में 'पुरानी' व्यर्थ है। 'उन्होंने इस बात पर आपत्ति प्रकट की।' और 'इस विषय की सम्भावना प्रकट हो रही है।' में 'प्रकट' बिलकुल निरर्थक और फालतू है। और 'नकली मृत्यु' में तो 'नकली' का कुछ अर्थ ही नहीं है। 'धान' को 'छिलकेदार चावल' कहना मानों अपना अज्ञान प्रकट करना है। एक अवसर पर हमारे देखने में 'अग्राह्यकर' आया था जिससे सूचित होता था के लेखक केवल 'अग्राह्य' को यथेष्ट नहीं समझता था। इससे भी बढ़कर विलक्षण प्रयोग एक सज्जन ने किया था—निरानन्दपूर्ण कमरा। इसमें पहले तो नकारात्मक 'नि' उपसर्ग लगा है और बाद में 'पूर्ण' है; और अर्थ के विचार से ये दोनों एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं। कुछ लोग 'परम उत्तम' और 'उत्तमतर' सरीखे प्रयोग भी कर जाते हैं। कदाचित् वे 'उत्तम' शब्द के रूप और वास्तविक अर्थ पर ध्यान नहीं देते। 'उत्तम' का अर्थ ही है—सब से बढ़कर। न तो 'उत्तम' के पहले 'परम' या और कोई विशेषण लगाना ठीक है और न उसके बाद 'तर' प्रत्यय; क्योंकि उसमें 'तम' प्रत्यय

पहले से लगा हुआ है। यही बात 'श्रेष्ठ' के सम्बन्ध में भी है। 'श्रेष्ठतर' और 'श्रेष्ठतम' रूप अशुद्ध हैं। केवल 'श्रेष्ठ' लिखना यथेष्ट है।

कुछ लोग कुछ विशिष्ट संस्कृत विशेषणों के स्त्रीलिंग रूपों का भी व्यवहार करते हैं। जैसे विगता, विपुला, ललामा, नवला, पूरिता आदि।

विशेषणों के स्त्री-लिंग रूप

कविता में भले ही चरण की मात्राएँ पूरी करने या समास-सौन्दर्य लाने के लिए इन रूपों का कुछ उपयोग हो सकता हो, पर गद्य में प्रायः विगत, विपुल, ललाम, नवल, पूरित आदि रूप ही ठीक होते हैं। हाँ जहाँ किसी विशेषण का संज्ञा के समान प्रयोग हो, वहाँ उसका स्त्रीलिंग रूप रखना आवश्यक है। जैसे—सुन्दरी, तपस्विनी, अभागिनी आदि। कुछ अवस्थाओं में विशेषणों के स्त्री-लिंग रूप बिलकुल व्यर्थ भी होते हैं। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'वे सपतिका यहाँ आई हैं।' इसमें का 'सपतिका' वस्तुतः 'सपतिक' ही होना चाहिए। 'सपतिक' कहने से कभी किसी के पुंलिंग होने का सन्देह नहीं हो सकता—पुरुष कभी 'सपतिक' नहीं हो सकता; जब होगी, तब स्त्री ही होगी। पुरुष तो 'सपत्नीक' होगा। अतः स्त्री के लिए 'सपतिका' की जगह 'सपतिक' ही होना चाहिए। जो बात स्वतः-सिद्ध हो उसे व्यर्थ के प्रत्यय या मात्राएँ बढ़ाकर स्पष्ट करने का प्रयत्न निरर्थक कहलावेगा। कुछ अवस्थाओं में तो विशेषणों के स्त्रीलिंग रूप बनाने की प्रवृत्ति अनर्थकारी भी हो सकती है। यदि किसी भद्र महिला को पत्र लिखते समय आरम्भ में सम्बोधन के स्थान पर 'प्रिय महोदया' की जगह 'प्रिया महोदया' लिखा जाय तो वह लेखक की परम अयोग्यता और अशिष्टता का ही सूचक होगा। 'जुदा', 'उम्दा', 'पेचीदा', 'चुनिंदा' आदि विशेषण दोनों लिंगों में ज्यों-के-त्यों रहते हैं, उनके स्त्रीलिंग रूप 'जुदी', 'उम्दी', 'पेचीदी', 'चुनिंदी' आदि नहीं होते। पर प्रायः लोग भूल से 'जुदी', 'उम्दी' आदि बोल और लिख जाते हैं। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'भारत की राजनीति बहुत पेचीदी है।' यहाँ 'पेचीदा' या 'पेचीली' से अच्छी तरह काम चल सकता था।

जिस प्रकार संज्ञा के साथ उपयुक्त विशेषण रखना आवश्यक है, उसी

प्रकार वाक्य में विशेषण अपने ठीक स्थान पर रखना भी आवश्यक है। 'एटम बम से भी भयंकर साइन्स का आविष्कार' में 'भयंकर' यद्यपि आविष्कार का विशेषण है, पर वह 'साइन्स' का विशेषण जान पड़ता है। उसका यह अर्थ हो सकता है कि 'एटम बम' भी कोई साइन्स है; और अब उससे भी भयंकर साइन्स का आविष्कार हुआ है। 'सर्वोत्कृष्ट ज्वर की चिकित्सा' भी ऐसा ही भ्रामक और भद्दा वाक्य है। इसमें का 'सर्वोत्कृष्ट' विशेषण 'चिकित्सा' के लिए है, अतः उसी के पहले आना चाहिए।

विशेषणों की तरह लोग विशेषण वाक्यांशों का भी भद्दा और बे-ठिकाने प्रयोग करते हैं। एक पत्र में सम्राट् छठे जार्ज और उनकी सम्राज्ञी के अलग-अलग चित्र छपे थे। सम्राट् के चित्र के नीचे 'पार्लमेंट का उद्घाटन करने-वाले सम्राट्' और सम्राज्ञी के चित्र के नीचे 'राजनीतिक कार्यों में सहायता देनेवाली सम्राज्ञी' छपा था। इस प्रकार के पद कभी-कभी बहुत भ्रामक हो सकते हैं। पहले पद का यह आशय भी हो सकता है कि सम्राट् अनेक हैं। यही बात दूसरे पद के सम्बन्ध में भी है। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ये पद इन रूपों में होने चाहिए थे—'सम्राट्, जिन्होंने पार्ल-मेंट का उद्घाटन किया।' और 'सम्राज्ञी, जो राजनीतिक कार्यों में सम्राट् को सहायता देती हैं।' 'तरह-तरह के जादू के खेल' का वह अर्थ नहीं है जो 'जादू के तरह-तरह के खेल' का है। पहले वाक्य में 'तरह-तरह के' से वस्तुतः जादू के अनेक प्रकार सूचित होते हैं; और दूसरे वाक्य में यह वाक्यांश केवल खेलों के प्रकार सूचित करता है।

संख्या-सूचक अंक भी एक अवस्था में विशेषण होते हैं, अतः उनके सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। कभी तो

संख्यावाचक विशेषण

लोग संख्याएँ अंकों में लिखते हैं और कभी एक ही वाक्य में अंक और अक्षर दोनों में लिखते हैं। जैसे—'७ से सोलह तक।' ऐसा नहीं होना चाहिए। नियम का ठीक तरह से पालन न होने पर कभी कभी लोगों को आशय समझने में भ्रम भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम लिखें—'२ से ५ सौ तक।' तो इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो 'दो से पाँच सौ तक', और दूसरा 'दो सौ

से पाँच सौ तक।' अँगरेजी में ऐसे अवसरों पर अधिक स्पष्टता के विचार से 'दो से ५०० तक' लिखने की प्रथा है; क्योंकि 'दो से पाँच सौ तक' लिखने पर भी वही भ्रम हो सकता है, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। '२८ अगस्त से ३० तक' की जगह '२८ से ३० अगस्त तक' लिखना चाहिए। एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक था—१ हजार ६०५ बम बरामद। पर '१ हजार ६०५' से '१६०५' कहीं अधिक सुन्दर, सहज और सुबोध है। अँगरेजी के प्रभाव के कारण कुछ लोग १३० हजार, २१२ लाख आदि भी लिख जाते हैं। यह भी ठीक नहीं है। हमें क्रमात् १ लाख ३० हजार और २ करोड़ १२ लाख ही लिखना चाहिए। इसके सिवा पाठकों के सुभीते के लिए तथा उनपर प्रभाव डालने के लिए भी १३०००० और २१२००००० की जगह क्रम से १ लाख ३० हजार और २ करोड़ १२ लाख लिखना अधिक अच्छा है। और भी अधिक प्रभाव डालने तथा मान की बहुलता सूचित करने के लिए १०० मन की जगह लोग प्रायः ४००० सेर या ८००० पाउंड (वजन) लिखते हैं।

हिन्दी में बहुत दिनों से एक और प्रवृत्ति चली आ रही है, जो अब धीरे-धीरे कम हो रही है। हमारे यहाँ किसी समय श्री ३, श्री ५, श्री १०८ आदि लिखने की प्रथा थी। इसके फेर में पड़कर कुछ लोग 'बड़े २' और 'अच्छे २' भी लिखने लग गये; और अब भी कुछ लोग इसी तरह लिखते हैं। यह ठीक नहीं है। सदा 'बड़े-बड़े' और 'अच्छे-अच्छे' ही लिखना चाहिए।

अंत में लेखकों को हम एक और विषय में सचेत कर देना चाहते हैं। स्वयं अपने नाम के साथ श्री, जी, बाबू पंडित डाक्टर, प्रोफेसर या बी० ए०, एम० ए० आदि विशेषणों या उपाधियों का प्रयोग करना ठीक नहीं है। प्रायः लोग अपनी लिखी हुई पुस्तक या अपने ही द्वारा सम्पादित होनेवाले सामयिक पत्रों आदि पर अपने नाम के साथ 'श्री', 'जी' आदि का प्रयोग करते हैं। यह प्रश्न भाषा का तो नहीं है, शिष्टाचार और सभ्यता का ही है। फिर भी ऐसे प्रयोग पाठकों को बहुत खटकते और लेखक की असंस्कृति तथा अहम्मन्यता के सूचक होते हैं।

विशेषणों की भाँति क्रिया विशेषणों के प्रयोग में भी प्रायः लोग बहुत असावधानी करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत-से लोग कुछ

विशिष्ट शब्दों के सम्बन्ध में क्रिया-विशेषणों के अशुद्ध प्रयोग

विशेषण और क्रिया-विशेषण का अन्तर ही नहीं समझते। जैसे—'पुस्तक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लिखी गई है।' वास्तव में होना चाहिए——

'पुस्तक बहुत ही विद्वत्तापूर्वक लिखी गई है।'

एक पुस्तक में एक ऐसा प्रसंग था, जिससे बात-चीत में एक पात्र को कुछ लज्जित होना पड़ा था। उसकी यह अवस्था सूचित करने के लिए लेखक ने लिखा था—'उसकी गरदन नीचे थी।' यहाँ 'नीचे' (क्रि० वि०) की जगह 'नीची' (विशेषण) होना चाहिए था। 'उसकी गरदन नीचे थी' का तो यही अर्थ होगा कि ऊपर कोई और चीज भी थी या वह किसी की तुलना में नीचे थी। एक बहुत साधारण शब्द 'बड़ा' है, जिसका बहुत अधिक भ्रमपूर्ण प्रयोग देखने में आता है। यह शब्द विशेषण है; पर जिसे देखो, वह इसका व्यवहार क्रिया-विशेषण के रूप में ही करता है। 'वह बड़ा चालाक है।' 'इस काम में बड़ा लाभ है।' 'आपने बड़ा अच्छा काम किया।' 'उससे हमें बड़ा सहारा मिला।' 'वहाँ बड़ा भूकंप आया।' 'वे बड़े भारी कवि थे।' 'यह पुस्तक बड़ी सुन्दर है।' 'उनका बड़ा सम्मान हुआ।' आदि अनेक प्रयोग नित्य सामने आते हैं। इन सभी अवस्थाओं में 'बड़ा' की जगह 'बहुत' होना चाहिए। कुछ लोग 'अनुसार' (क्रिया-विशेषण) की जगह 'अनुरूप' या 'अनुकूल' (दोनों विशेषण) का प्रयोग कर जाते हैं। विशेषतः 'अनुरूप' का प्रयोग अनेक ऐसे अवसरों पर देखा जाता है, जहाँ वस्तुतः 'अनुसार' होना चाहिए। अतः इन शब्दों के प्रयोग में भी बहुत सावधान रहना चाहिए; और सदा अर्थ का ध्यान रखते हुए प्रसंग के अनुसार उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

कुछ लोग 'परस्पर' के प्रयोग में कई प्रकार की भूलें करते हैं। बहुत दिन हुए, एक बहुत प्रसिद्ध कवि की, बच्चों के लिए लिखी हुई एक कविता में पढ़ा था—'हम तुम परस्पर बाल हैं।' इसमें 'परस्पर' का बे-ठिकाने और अशुद्ध प्रयोग हुआ है। प्रायः लोग लिखा करते हैं—'हम लोग परस्पर मित्र हैं।' यह भी 'परस्पर' का वैसा ही गलत प्रयोग है। 'परस्पर' का अर्थ है—'आपस में' और यह अर्थ उक्त वाक्यों में ठीक नहीं बैठता। होना चाहिए—'हम लोग

पारस्परिक मित्र हैं।' या 'हम लोगों में परस्पर मित्रता है।' 'हम लोगों के पारस्परिक मित्र श्री केदारनाथ शर्मा.....।' कहना भी ठीक नहीं है। ऐसे प्रसंगों में 'पारस्परिक' का प्रयोग नहीं होना चाहिए; क्योंकि उसका कोई अर्थ नहीं होता। 'वे दोनों परस्पर जोड़ दिये जाते हैं।' कहना भी ठीक नहीं है, जब 'परस्पर' है, तब 'जुड़ जाते हैं' कहना ही ठीक होगा। यदि 'जोड़ दिये जाते हैं' ही कहना हो तो 'परस्पर' नहीं रखना चाहिए; क्योंकि 'परस्पर' के बाद जो क्रिया रहे या सम्बन्ध दिखलाया जाय, उसका कर्त्ता कोई तीसरा या बाहरी व्यक्ति नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि 'परस्पर' के साथ 'में' विभक्ति नहीं लगानी चाहिए। 'हम लोग परस्पर में समझ लेंगे।' सरीखे वाक्य अशुद्ध होते हैं।

जब कई दिनों के भीषण उपद्रवों के उपरान्त दिल्ली में कुछ शान्ति हुई थी (सितम्बर १९४७), तब एक समाचार-पत्र में शीर्षक छपा था—दिल्ली में लगभग शान्ति। पर यह 'लगभग' का अशुद्ध प्रयोग था। वस्तुतः 'लगभग' का प्रयोग अंक और मान सरीखे भावों के सूचक शब्दों के ही साथ होता है। 'लगभग एक सप्ताह' और 'लगभग चालिस तोले' सरीखे प्रयोग तो ठीक होते हैं, पर 'वह लगभग सो गया' या 'मैं लगभग चल रहा हूँ' सरीखे प्रयोग शिष्ट-सम्मत नहीं हैं। हाँ, आगे चलकर हो जायँ, तो बात दूसरी है।

कुछ लोग भ्रम से कुछ क्रिया-विशेषणों का प्रयोग प्रायः संज्ञा के समान कर जाते हैं। इनमें से एक विशेष प्रचलित शब्द 'तत्काल' है जिसका अर्थ संज्ञा की जगह है 'उसी समय' या 'तुरन्त' न कि 'उस समय' या 'इस क्रिया-विशेषण समय'। इसके दुरुपयोग के कुछ उदाहरण हैं—

१. प्रशांत में अमेरिका की दस लाख सेना तत्काल मौजूद है।

२. तत्काल दक्षिण भारत की दशा बहुत नाजुक हो चली है।

३. सरकारी आदेश जारी होते ही तत्काल से लागू हो गया। आदि।

इनमें से पहले और दूसरे वाक्यों में 'तत्काल' की जगह 'इस समय' और तीसरे वाक्य में या तो 'उसी समय' होना चाहिए, या 'तत्काल' के बाद 'से' विभक्ति नहीं होनी चाहिए।

कभी कभी कुछ लोग क्रिया-विशेषण की जगह विशेषण अथवा विशेषण की जगह क्रिया-विशेषण का प्रयोग कर जाते हैं और इस बात का विचार नहीं करते कि इस गड़बड़ी के कारण अर्थ में कितना अन्तर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ— (क) जैसा आप का लड़का, वैसा हमारा लड़का' और (ख) 'जैसे आपका लड़का वैसे हमारा लड़का।' इनमें से पहले वाक्य का आशय यह है कि आप का लड़का और हमारा लड़का दोनों बहुत-सी बातों में समान हैं। पर दूसरे वाक्य का आशय यह है कि लड़का जिस प्रकार आपका है, वैसे ही हमारा भी है। अर्थात् आपके लड़के को भी हम अपने ही लड़के के समान समझते हैं— उसपर हमारा भी वैसा ही स्नेह है जैसा आपका है। प्रायः समाचारपत्रों और पुस्तकों में भी इस प्रकार के प्रयोगों की गड़बड़ी देखने में आती है। जैसे— 'प्रशान्त का युद्ध लंबा चलेगा।' 'उसका भारी अनुरोध है।' 'छात्र दृढ़ संघटित हों।' और 'वह पुस्तकें ही विशेष पढ़ता था।' होना चाहिए—'प्रशान्त का युद्ध लंबा होगा' या 'बहुत दिनों तक चलेगा।' 'उसका बहुत अनुरोध है।' 'छात्र दृढ़ता से संघटित हों।' और 'वह विशेषतः पुस्तकें ही पढ़ता था।'

नित्य-सम्बन्धी क्रिया-विशेषण

अन्यान्य भाषाओं की तरह हिंदी में भी कुछ ऐसे क्रिया-विशेषण आदि हैं, जिनमें परस्पर नित्य-संबंध रहता है। यदि उनमें से एक शब्द पहले किसी वाक्यांश में आवे, तो उसके बादवाले वाक्यांश में उसके साथ का दूसरा शब्द आना भी आवश्यक होता है। जैसे, 'यदि—तो', 'यद्यपि—तथापि,' 'जितना—उतना,' 'जैसे—वैसे', 'चाहे—पर' या 'परंतु' आदि। इनके व्यवहार में भी लोग बहुत असावधानी करते हैं। उदाहरणार्थ—'जैसे इनमें कुछ निकटता जरूरी है, उसी प्रकार कुछ दूरी भी।' 'चाहे आप नाराज हो जायँ, मैं यह बात नहीं मान सकता।' 'जितना अंश देख गया हूँ, वह मुझे बहुत उपयोगी जँचा है।' इनमें से पहले उद्धरण में 'जैसे' की जगह 'जिस प्रकार' दूसरे उद्धरण में दूसरे वाक्यांश के पहले 'पर' और तीसरे उद्धरण में 'जितना' की जगह 'जो' होना चाहिए। यही बात 'हिन्दी का ऐसा दमन ८०० वर्ष के मुगल राज्य में भी नहीं हुआ, जितना अब हो रहा है।' के संबंध में भी है। इसमें या तो 'ऐसा' की जगह 'उतना' या 'जितना' की जगह 'जैसा' होना चाहिए। 'जैसी पंडिताऊ

भाषा की बे-कदरी है, उसी तरह अँगरेजी से लदी भाषा की भी बात समझिए।' तो बिलकुल नये सिरे से ढालने योग्य वाक्य है। 'इसका ठीक और सहज रूप होगा—'जैसी पंडिताऊ भाषा की बे-कदरी है वैसी ही अँगरेजी से लदी भाषा की भी।' इस प्रकार के वाक्यों में यदि नित्य-सम्बन्धी शब्दों का ठीक ध्यान न रक्खा जाय तो वे भद्दे और दूषित हो जाते हैं। अतः उनका प्रयोग करते समय बहुत सावधान रहना चाहिए।

[८]

क्रियाएँ और मुहावरे

क्रियाओं के अशुद्ध प्रयोग—खटकनेवाली क्रियाएँ—अकर्मक की जगह सकर्मक; और सकर्मक की जगह अकर्मक—समान जान पड़नेवाली क्रियाओं में अन्तर—संज्ञाओं से सम्बद्ध क्रिया-प्रयोग—अशुद्ध क्रिया-प्रयोग—संयुक्त क्रियाओं का दुरुपयोग-क्रियाओं की संगति-मुहावरों का विवेचन—मुहावरे और बोल-चाल में अन्तर—मुहावरों के अशुद्ध प्रयोग—अशुद्ध बोल-चाल—मुहावरों के बँधे हुए रूप—अनुवाद करना ठीक नहीं—मुहावरों और कहावतों में अन्तर।

क्रियाओं के अशुद्ध प्रयोग

भाषा की गति ठीक रखनेवाले अनेक तत्वों का अब तक विस्तृत विवेचन हो चुका है। दो मुख्य बातें और हैं। एक तो क्रियाओं और दूसरे मुहावरों का ठीक प्रयोग। यही दोनों बातें ऐसी हैं जो भाषा की गति ठीक रखने, उसमें उपयुक्त प्रवाह लाने और सरसता तथा ओज उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं; और तात्त्विक दृष्टि से ये प्रायः एक ही वर्ग में आती भी हैं। अतः इस प्रकरण में हम मुख्य रूप से इन्हीं दोनों बातों पर विचार करना चाहते हैं।

पहले क्रियाएँ लीजिए। हिन्दी में सबसे अधिक प्रचलित क्रिया 'करना' है, जो प्रायः सभी जगह लगती या लग सकती है। फिर भी कितने आदमी ऐसे हैं जो इस क्रिया का बिलकुल ठीक और उपयुक्त अवसर पर ही व्यवहार करना जानते हैं? सभी लोग कहते हैं—"मैं अपनी बात का स्पष्टीकरण करने के लिए तैयार हूँ।' पर कोई यह नहीं सोचता कि 'करना' का वाचक एक 'करण' तो पहले से मौजूद है ही; फिर उसके साथ अनावश्यक रूप से 'करना' क्यों लगाया जाय! क्यों न कहा जाय—'मैं अपनी बात के स्पष्टी-

करण के लिए तैयार हूँ' ? इसी प्रकार—'इन विषयों का ठीक तरह से वर्गीकरण किया गया है।' कहने की अपेक्षा यह कहना कहीं अच्छा होगा—'इन विषयों का ठीक तरह से वर्गीकरण हुआ है।' हमारा यह कहना नहीं है कि-जिन शब्दों के अन्त में 'करण' हो, उनके साथ कभी 'करना' क्रिया या उसके किसी रूप का प्रयोग होना ही नहीं चाहिए। होना चाहिए, पर मौके से। जैसे—'आप अपने मत का स्पष्टीकरण कीजिए।' या 'आप इन विषयों का वर्गीकरण कीजिए।' आप कहेंगे कि इससे भी अच्छा रूप होगा—'आप अपना मत स्पष्ट कीजिए।' या 'आप इन विषयों को वर्गों में बाँटिए।' बिलकुल ठीक। अवश्य यह अच्छा और बहुत अच्छा रूप है। फिर भी जो लोग बिना 'करण' शब्द का व्यवहार किये न रह सकते हों, उनके लिए इतनी गुंजाइश है; पर इससे अधिक नहीं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। 'निर्भर' शब्द के साथ सभी लोग 'करना' क्रिया का प्रयोग करते हैं। 'यह विषय आपपर निर्भर करता है।' 'लड़कों की पढ़ाई पुस्तकों पर निर्भर करती है।' 'सरकार शान्ति-रक्षा के लिए पुलिस पर निर्भर करती है।' आदि सैकड़ों प्रयोग नित्य देखने में आते हैं। कभी कोई इस बात का विचार नहीं करता कि 'निर्भर' के साथ 'करना' क्रिया का प्रयोग ठीक है या नहीं। सब लोगों ने एक सीधा-सादा नियम-सा बना रक्खा है कि बात और हल्दी की तरह 'करना' भी जहाँ चाहो, वहाँ लगा दो। पर इस नियम के जो अपवाद हैं, उनकी ओर जल्दी किसी का ध्यान नहीं जाता। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो 'निर्भर'[1] शब्द के साथ दो ही क्रियाओं का प्रयोग ठीक है—'रहना' और 'होना'। होना चाहिए—'यह विषय आप पर निर्भर है।' 'लड़कों की पढ़ाई पुस्तकों पर निर्भर है।' और 'सरकार शांति-रक्षा के लिए पुलिस पर निर्भर है।'

---

१. आज-कल हिन्दी में 'निर्भर' शब्द जिस अर्थ (अवलंबित) में सबसे अधिक प्रचलित है, वह अर्थ बँगला से हमारे यहाँ आया है, और अब उससे 'निर्भरता' संज्ञा भी बनने लग गई है। वास्तव में 'निर्भर' का अर्थ है—पूरा या भरपूर। गो० तुलसीदास जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। यथा—निरभर प्रेम मगन हनुमाना।

सम्भावना' केवल 'होती' है; फिर भी कुछ लोग लिखते हैं—'सम्मेलन स्थगित होने की सम्भावना की जा रही है।' इसमें 'की जा रही है' की जगह केवल 'है' होना चाहिए। श्रद्धा, भक्ति आदि और भी अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके साथ 'करना' क्रिया नहीं खपती; फिर भी वह उनके साथ लगा दी जाती है। 'मैं आप पर श्रद्धा (या भक्ति) रखता हूँ।' तो ठीक है। पर 'मैं आपकी श्रद्धा (या भक्ति) करता हूँ।' का क्या अर्थ है? होना चाहिए—'मैं आप पर श्रद्धा रखता हूँ।' पर सभी लोग इस प्रकार के भद्दे प्रयोग बिलकुल बे-धड़क होकर करते हैं, जिससे ये प्रयोग कुछ मँजते जा रहे हैं—इनकी खटक बहुत कुछ निकलती जा रही है; पर इसी लिए कि हम लोगों ने खटक की ओर ध्यान देना बिलकुल ही छोड़ दिया है।

'करना' के बाद दूसरी परम प्रचलित क्रिया शायद 'आना' है। आज-कल की हिन्दी में 'करना' का जितना अनादर है, शायद उतना ही बल्कि उससे भी कुछ बढ़कर इस 'आना' का आदर है। जहाँ देखिए, वहाँ जबरदस्ती यह क्रिया लगाई जाती है। 'वह घबरा आया।' 'वह हँस आया।' 'वह रो आई।' आदि प्रयोग खूब चलने लगे हैं। एक पुस्तक में पढ़ा था—'बेचारा बुड्ढा बिसाती डबडबा आया।' एक दूसरी पुस्तक में पढ़ा था—'अमुक समय मनुष्य जी आता है।' एक और जगह पढ़ा था—'तबीयत ऊब आती है।' और इससे बढ़कर एक जगह पढ़ा था—मूर्छा आने ही वाली थी।' मानो मूर्छा का भी, रेल या डाक की तरह, आने का कोई निश्चित समय हो। बहुत कुछ यही बात 'हाथा-बाँही की नौबत आते-आते रह गई।' के सम्बन्ध में भी है। यह वाक्य मानों सूचित करता है कि लेखक चाहता था कि हाथा-बाँही हो।

यह तो ऐसी चलती हुई क्रियाओं के उदाहरण हैं, जिनकी खटक हम 'खटक' ही नहीं समझते। पर बहुत सी ऐसी क्रियाएँ भी हैं, जिनमें बहुत कुछ खटक है; पर हम दिन-पर-दिन उस खटक से भी उदासीन होने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। 'प्रश्न' के साथ 'करना' क्रिया ही अच्छी जान पड़ती है। फिर भी जिसे देखिए, वह 'प्रश्न पूछता' है। 'प्रश्न करनेवाले' बहुत

खटकनेवाली क्रियाएँ

कम दिखाई देते हैं, 'पूछनेवाले' सब हैं। यह 'प्रश्न पूछना' अँगरेजी के asking question की कृपा से हमारे यहाँ आया है। इसी प्रकार दान 'करनेवाले' बहुत कम हैं 'देनेवाले' सब। अब यदि कोई 'दुग्ध-पान करना' छोड़कर 'दुग्ध-पान पीना' आरंभ करे तो आज-कल की प्रवृत्ति देखते हुए हम कह सकते हैं कि इसका भी अनुकरण करनेवाले कुछ लोग निकल ही आवेंगे। ऐसे ही अवसरों पर भाषा की मर्यादा की रक्षा के लिए सुयोग्य लेखकों के नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

जहाँ 'करना' क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ तो वह जबरदस्ती लगाई जाती है; पर जहाँ उसकी आवश्यकता होती है, वहाँ से वह निकाल बाहर की जाती है; और उसकी जगह नई-नई ऐसी क्रियाएँ लगाई जाती हैं, जिनसे भाषा भद्दी और बे-मुहावरे हो जाती है। कुछ लोग 'अनुभव करना' की जगह 'अनुभव लेना' तक लिखते हैं, जिसका कुछ अर्थ ही नहीं होता। 'भाषण करना' की जगह 'भाषण देना' (अँगरेजी की कृपा से) इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि उससे पीछा छूटना कठिन है। 'युद्ध' केवल 'होता' है या 'किया जाता' है; पर लोग लिख जाते हैं—'आसाम की सीमा पर युद्ध लड़ा जा रहा है।' 'लड़ाई लड़ना' तक तो ठीक है, पर 'युद्ध लड़ना' ठीक नहीं है, 'युद्ध करना' ही ठीक है। कुछ लोग 'युद्ध छिड़ना' और 'युद्ध चलना' का अन्तर न समझने के कारण लिख जाते हैं—'शीघ्र ही गैस-युद्ध चलने की सम्भावना है।' साधारणतः 'संकल्प करना' ही होता है; पर कुछ लोग 'संकल्प लेना' भी लिखते हैं। वस्तुतः 'संकल्प लेना' का प्रयोग उसी समय होना चाहिए, जिस समय धार्मिक रूप में दान आदि कृत्य करते हुए हाथ में विधिपूर्वक जल लेकर मंत्र पढ़ा जाय। और जब वह जल हाथ से गिराया जाता है, तब उसे 'संकल्प छोड़ना' कहते हैं। पर यह कहना ठीक नहीं है—हमने सच बोलने का संकल्प लिया है। ऐसे अवसरों पर 'लिया' की जगह 'किया' ही होना चाहिए। 'उनकी भूलों पर ध्यान न देकर उनका अभिनंदन होना चाहिए।' इसलिए अशुद्ध है कि इसमें पहले 'ध्यान न देकर' आया है; और इसी लिए अंतिम 'होना की जगह 'करना' होना चाहिए। यही बात 'वह नागरी लिपि में ही होना चाहिए और हिंदी में

सकती थीं[१] । उन्हीं की देखा-देखी अनेक आधुनिक कवियों ने भी ऐसा ही किया है । यथा—

वही तेज-हत हो है अब डूबता दिखाता । अथवा

फूलों सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाता । आदि ।

पर अब यह प्रवृत्ति गद्य में भी अपना अधिकार जमाना चाहती है । हम यह भूल जाते हैं कि 'पिसना' के अर्थ में 'पिसाना', 'छीजना' के अर्थ में 'छिजाना' और 'घिसना' के अर्थ में 'घिसाना' आदि बिलकुल पूर्वी प्रयोग हैं और शिष्ट या मानक हिन्दी में उनका प्रचलन नहीं है । 'दिखाई देना' के अर्थ में 'दिखाना' भी, इसी प्रकार का पूर्वी प्रयोग होने के कारण, त्याज्य है । फिर भी हम लिख चलते हैं—'पर इस बात की बहुत कम संभावना दिखलाती है ।' और 'वह सदा इसी में दिखाता है ।' (मतलब यह कि वह सदा इसी धुन में लगा हुआ दिखाई देता था ।) इसी की देखा-देखी कुछ लोग कुछ दूसरी सकर्मक प्रेरणार्थक क्रियाओं का भी अकर्मक अर्थ में प्रयोग करने लगे हैं । 'शान्ति काल में सैनिकों को भुलाया नहीं जायगा ।' कहना ठीक नहीं है । किसी को भुलाने का सीधा-सादा अर्थ है—उसे भ्रम में डालना । होना चाहिए—'शान्ति काल में सैनिकों को भूला नहीं जायगा ।' 'पाकिस्तान की परिभाषा भूली' का तो यही अर्थ होगा कि 'पाकिस्तान की परिभाषा' ने कोई भूल की है; या वह रास्ता भूल गई है; या वह कोई बात याद नहीं रख सकी । इसकी जगह होना चाहिए—'पाकिस्तान की परिभाषा (उसके परिभाषक) भूल गये ।' अकर्मक और सकर्मक का ध्यान न रखने के कारण ही इससे भी और आगे बढ़कर कुछ लोग 'सौ रुपये मुझे अभी चाहेंगे ।' 'अब तुम जाने हो !' और 'मैं जानी हूँ ।' सरीखे प्रयोग करने लगे हैं । और इससे भी कुछ आगे बढ़कर लोग साधारण क्रिया 'ढाना' की जगह उसके प्रेरणार्थक

---

१ हमारे यहाँ के अनेक प्राचीन कवियों ने अकर्मक क्रियाओं का प्रयोग सकर्मक रूप में और सकर्मक क्रियाओं का प्रयोग अकर्मक रूप में किया है । इसके अनेक उदाहरण सूर, तुलसी आदि के पदों में मिलते हैं । पर ऐसे प्रयोग या तो छन्द के विचार से मात्राएँ घटाने-बढ़ाने के लिए या तुक मिलाने के लिए ही हुए हैं ।

रूप 'ढहाना' का प्रयोग करते हैं--जैसे 'मैं उनके सब मन्सूबे ढहा दूँगा।' होना चाहिए--'ढा दूँगा'; क्योंकि वक्ता का आशय यह नहीं है कि मन्सूबे ढाने का काम मैं किसी और से कराऊँगा; बल्कि आशय है कि मैं स्वयं उनके मन्सूबे ढाऊँगा। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। अकर्मक और सकर्मक में भेद न रक्खा जायगा तो बहुत गड़बड़ी होगी।

'सीढ़ी भी पार हो गई।' भी इसी प्रकार का भद्दा वाक्य है। होना चाहिए--'हम सीढ़ी भी पार कर गये।' 'ऐसे अवसरों पर धान का व्यवहार बहुत समझ-बूझकर होना चाहिए।' में 'होना चाहिए' की जगह 'करना चाहिए' या 'किया जाना चाहिए' और 'मेरे जन्म होते ही उस आश्रम में प्रसन्नता की सरिता बहने लगी।' में 'मेरे जन्म होते ही' की जगह 'मेरे जन्म लेते ही' होना चाहिए। अकर्मक की जगह सकर्मक और सकर्मक की जगह अकर्मक क्रियाएँ रखने से वाक्य सदा भद्दा हो जाता है। इसी प्रवृत्ति का यह फल है कि एक लेखक ने एक अवसर पर 'बोलना' का 'बुलना' रूप बना डाला था और लिखा था--'उनके मुँह से सदा शुद्ध किताब ही बुलती है।'

हम पहले ('वाक्य-विन्यास' शीर्षक प्रकरण में) कुछ ऐसे वाक्यों के उदाहरण दे चुके हैं, जो संज्ञाओं की दृष्टि से अपूर्ण या अधूरे और अनिर्वहित होते हैं। कभी-कभी लोग क्रियाओं की दृष्टि से भी इसी प्रकार के अपूर्ण या अधूरे और अनिर्वहित वाक्य लिख जाते हैं। जैसे--'उसका मनोहर रूप, सज्जनोचित व्यवहार और विनयपूर्ण बातें सुनकर सब लोग मुग्ध हो गये।' अधूरा और अनिर्वहित वाक्य है। इसका शुद्ध रूप होगा--उसका मनोहर रूप और सज्जनोचित व्यवहार देखकर तथा विनयपूर्ण बातें सुनकर सब लोग मुग्ध हो गये।

आपस में मिलती-जुलती कुछ क्रियाएँ प्रायः भ्रम से एक दूसरी की एकार्थवाची समझ ली जाती हैं। जैसे 'भागना' और 'दौड़ना।' पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों में बहुत अन्तर है। 'भागना' किसी प्रकार की आशंका या भय के कारण अथवा किसी बात से अपना बचाव करने के लिए होता है, पर 'दौड़ना' में इनमें से कोई बात नहीं होती। इसके सिवा 'भागना' का एक और अर्थ

समान जान पड़नेवाली क्रियाओं में अंतर

है—'जी चुराना' या 'जान बचाना', जो 'दौड़ना' का नहीं है। हम यह तो कह सकते हैं—'वह काम करने से भागता है।' पर यह नहीं कह सकते—'वह काम करने से दौड़ता है।' 'लड़का मिठाई लेकर भागा हुआ घर आया।' कहना तभी ठीक होगा, जब वहाँ उसकी मिठाई छिनने या उसके पिटने या इसी प्रकार की और कोई बात होने की सम्भावना हो। साधारणतः 'भागा हुआ' के कारण इसका अभिप्राय यही होगा कि कोई उसका पीछा कर रहा था या उसे दौड़ा रहा था। हाँ, यह कहना ठीक है—'शत्रु मैदान से भाग खड़ा हुआ।' यहाँ 'दौड़ खड़ा हुआ' नहीं कहा जायगा। पर कुछ लोग यह अन्तर न समझकर प्रायः 'दौड़ना' की जगह 'भागना' का प्रयोग करते हैं; जैसे—'वह उनके पीछे भागा हुआ स्टेशन पहुँचा।' और 'घर में फल नहीं थे; सो मुझे भगाया गया।' बहुत से लोग 'गूँथना' और 'गूँधना' के अर्थों का भेद न समझकर प्रायः एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। वस्तुतः माला 'गूँथी' जाती है और आटा 'गूँधा' जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है—मालिन माला गूँधकर ले आई। 'हड़पना' और 'निगलना' में अर्थ की दृष्टि से बहुत अन्तर है। पर एक जगह पढ़ा था—'मानों पृथ्वी ऊँटों सहित उन्हें हड़प कर गई।' इसमें 'हड़प कर गई' की जगह 'निगल गई' होना चाहिए था। द्वितीय महायुद्ध के समय बरमा और मलाया के निवासियों की जो दुर्दशा हुई थी, उसके सम्बन्ध में एक पत्र में छपा था—'परिवार के परिवार फकीर बन गये।' पर 'फकीर बनना' तो स्वेच्छापूर्वक और अपने प्रयत्न से होता है। होना चाहिए था—'फकीर (बल्कि कंगाल) हो गये।' 'इस पर लीग की तरफ से आये हुए वोटर भी डट गये और कहने लगे कि हमें भी रुपये मिलने चाहिएँ।' में 'डट गये' ठीक नहीं है; होना चाहिए था—'अड़ गये'। इसके सिवा और भी अनेक युग्म क्रियाएँ हैं जिनके अर्थों में बहुत कुछ अन्तर है; पर लोग बिना अन्तर का विचार किये उनमें से एक की जगह दूसरी क्रिया का व्यवहार कर जाते और अर्थ में गड़बड़ कर देते हैं। जैसे—

लोटना	लेटना	खेलाना	खिलाना
उछलना	कूदना	काटना	कतरना

बनाना	गढ़ना	चीरना		
मलना	मसलना	गलना	सड़ना	
घिसना	रगड़ना	टहलना	चलना	
मारना	पीटना	पीना	निगलना	
घूमना	मुड़ना	लौटना	उलटना	
खींचना	तानना	हटाना	निकालना	आदि।

इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग बहुत ही सावधानतापूर्वक और सोच-समझकर ठीक अर्थ में करना चाहिए।

संज्ञाओं से सम्बद्ध क्रिया-प्रयोग

साधारणतः अलग-अलग संज्ञाओं के साथ लगनेवाली क्रियाएँ भी अलग-अलग होती हैं। मनुष्य 'सूली' पर 'चढ़ाया', 'सलीब' पर 'टाँगा' और 'फाँसी' पर 'लटकाया' जाता है। जहाँ हम 'फाँसी चढ़ाना' का प्रयोग करते हैं, वहाँ हमारा अभिप्राय होता है फाँसी के तख्ते पर (स्वयं फाँसी पर नहीं) चढ़ाना। भाँग छानी जाती है, और शराब या बोतल ढाली जाती है। पर प्रायः लोग लिखते और बोलते हैं--'वह शराब छानता था।' 'वहाँ बोतल छन रही थी।' आदि। हम 'तकलीफ उठाते' हैं, और 'कष्ट 'भोगते' हैं; पर 'सहते' प्रायः दोनों हैं। 'हमें बहुत-सी असुविधाएँ उठानी पड़ रही हैं।' में 'उठानी' का प्रयोग उर्दू की छाया का सूचक है। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार तो 'हो रही हैं' ही होना चाहिए। पर अधिक-तर लोग इस तथ्य का ध्यान न रखकर क्रियाओं के मनमाने प्रयोग करते हैं। एक जगह पढ़ा था—'वह सितार उठाकर एक गीत बजाने लगी।' पर गीत गाया जाता है; बजाया तो 'राग' जाता है या 'गत'। 'तूफान' उठता या आता है। पर एक पत्र में पढ़ा था--'कल से अचानक तूफान बह रहा है।' एक बहुत बड़े विद्वान् के मुँह से एक भाषण में सुना था—'इसका मूल्य नापा या तौला नहीं जा सकता।' पर मूल्य आँका या लगाया जाता है; नापी या तौली तो वह चीज जाती है, जो हम मूल्य चुकाकर लेते हैं।

कभी-कभी क्रियाओं का ठीक प्रयोग न होने के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। जब एक सम्मानित नेता एक घातक रोग से मुक्त हुए थे, तब एक समाचार-पत्र में उनके सम्बन्ध में निकला था—'वे अभी मरने से बच गये हैं!' यदि इस वाक्य का ठीक अर्थ लिया जाय, तो इसका आशय यही होगा कि इस समय तो वे बच गये हैं, पर कुछ समय बाद वे अवश्य मरेंगे। कैसी अशुभ भावना की ओर संकेत है! होना चाहिए था—'वे अभी अभी मरने से बचे हैं।'

अशुद्ध क्रिया-प्रयोग

क्रिया-प्रयोगों की दुर्दशा के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. वे अभी दक्षिणी युरोप से योजना बाँधकर लौटे हैं।

२. यह सुनते ही उसका चेहरा गिर गया। (मानों मिट्टी या कागज के चेहरे की तरह ऊपर से लगा हुआ था।)

३. उन्हें देखते ही माधव की मुद्रा उदास हो गई। (मानों माधव का उस उदासी से कोई सम्बन्ध नहीं था।)

४. वह संकल्प कमाने में लगा।

५. लिखने की कला का बहुत कुछ मसाला उन्होंने कमा लिया था। (मसाला इकट्ठा किया जाता है, 'कमाया' तो धन या चमड़ा जाता है।)

६. उसने गंभीरता की आकृति बनाते हुए कहा। (मानों वह कलम लेकर 'गम्भीरता' का चित्र अंकित करने लगा था।)

७. आखिर रोटी-दाल कैसे निभेगी! (दाल-रोटी चलती भले ही हो, पर निभती नहीं)

८. पास ही पुराना किला था जो बिलकुल फूटा हुआ पड़ा था।

९. उन्हें जीते जी कब्र दिये जाने का एक मात्र कारण यह था...

१०. साहब ने उनके सामने अपना रोना गाया। (तब तो वे गाना भी रोते होंगे।)

११. इसके सेवन से महिलाएँ इच्छानुसार गर्भ बन्द कर सकती हैं।

१२. वह अचरज मना रहा था। (मानों अचरज भी कोई त्यौहार या खुशी की बात हो।)

बनाना	गढ़ना	चीरना	फाड़ना
मलना	मसलना	गलना	सड़ना
घिसना	रगड़ना	टहलना	चलना
मारना	पीटना	पीना	निगलना
घूमना	मुड़ना	लौटना	उलटना
खींचना	तानना	हटाना	निकालना आदि।

इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग बहुत ही सावधानतापूर्वक और सोच-समझकर ठीक अर्थ में करना चाहिए।

संज्ञाओं से सम्बद्ध क्रिया-प्रयोग

साधारणतः अलग-अलग संज्ञाओं के साथ लगनेवाली क्रियाएँ भी अलग-अलग होती हैं। मनुष्य 'सूली' पर 'चढ़ाया', 'सलीब' पर 'टाँगा' और 'फाँसी' पर 'लटकाया' जाता है। जहाँ हम 'फाँसी चढ़ाना' का प्रयोग करते हैं, वहाँ हमारा अभिप्राय होता है फाँसी के तख्ते पर (स्वयं फाँसी पर नहीं) चढ़ाना। भाँग छानी जाती है, और शराब या बोतल ढाली जाती है। पर प्रायः लोग लिखते और बोलते हैं—'वह शराब छानता था।' 'वहाँ बोतल छन रही थी।' आदि। हम 'तकलीफ उठाते' हैं, और 'कष्ट 'भोगते' हैं; पर 'सहते' प्रायः दोनों हैं। 'हमें बहुत-सी असुविधाएँ उठानी पड़ रही हैं।' में 'उठानी' का प्रयोग उर्दू की छाया का सूचक है। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार तो 'हो रही हैं' ही होना चाहिए। पर अधिकतर लोग इस तथ्य का ध्यान न रखकर क्रियाओं के मनमाने प्रयोग करते हैं। एक जगह पढ़ा था—'वह सितार उठाकर एक गीत बजाने लगी।' पर गीत गाया जाता है; बजाया तो 'राग' जाता है या 'गत'। 'तूफान' उठता या आता है। पर एक पत्र में पढ़ा था—'कल से अचानक तूफान बह रहा है।' एक बहुत बड़े विद्वान् के मुँह से एक भाषण में सुना था—'इसका मूल्य नापा या तौला नहीं जा सकता।' पर मूल्य आँका या लगाया जाता है; नापी या तौली तो वह चीज जाती है, जो हम मूल्य चुकाकर लेते हैं।

कभी-कभी क्रियाओं का ठीक प्रयोग न होने के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। जब एक सम्मानित नेता एक घातक रोग से मुक्त हुए थे, तब एक समाचार-पत्र में उनके सम्बन्ध में निकला था— 'वे अभी मरने से बच गये हैं!' यदि इस वाक्य का ठीक अर्थ लिया जाय, तो इसका आशय यही होगा कि इस समय तो वे बच गये हैं, पर कुछ समय बाद वे अवश्य मरेंगे। कैसी शुभ भावना की ओर संकेत है! होना चाहिए था—'वे अभी अभी मरने से बचे हैं।'

अशुद्ध क्रिया-प्रयोग

क्रिया-प्रयोगों की दुर्दशा के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. वे अभी दक्षिणी युरोप से योजना बाँधकर लौटे हैं।

२. यह सुनते ही उसका चेहरा गिर गया। (मानों मिट्टी या कागज के चेहरे की तरह ऊपर से लगा हुआ था।)

३. उन्हें देखते ही माधव की मुद्रा उदास हो गई। (मानों माधव का उस उदासी से कोई सम्बन्ध नहीं था।)

४. वह संकल्प कमाने में लगा।

५. लिखने की कला का बहुत कुछ मसाला उन्होंने कमा लिया था। (मसाला ईकट्टा किया जाता है, 'कमाया' तो धन या चमड़ा जाता है।)

६. उसने गंभीरता की आकृति बनाते हुए कहा। (मानों वह कलम लेकर 'गम्भीरता' का चित्र अंकित करने लगा था।)

७. आखिर रोटी-दाल कैसे निभेगी! (दाल-रोटी चलती भले ही हो, पर निभती नहीं)

८. पास ही पुराना किला था जो बिलकुल फूटा हुआ पड़ा था।

९. उन्हें जीते जी कब्र दिये जाने का एक मात्र कारण यह था...

१०. साहब ने उनके सामने अपना रोना गाया। (तब तो वे गाना भी रोते होंगे।)

११. इसके सेवन से महिलाएँ इच्छानुसार गर्भ बन्द कर सकती हैं।

१२. वह अचरज मना रहा था। (मानों अचरज भी कोई त्यौहार या खुशी की बात हो।)

१३. बटेविया में पुनः युद्ध-गति भड़की।

१४. पानी बरसने से सड़कों की धूल मिट गई थी।

१५. वह कुरसी में धर ही गया। ('बैठ गया' के अर्थ में)

१६. उसका गुस्सा उबल रहा था और बल खा रहा था।

संयुक्त क्रियाओं का दुरुपयोग

'अट्टहास हो उठा।' 'वह झींक उठा।' 'उन्होंने खूब आनन्द उठाया।' 'साम्राज्यवाद अब लड़खड़ा उठा है।' 'वह पड़ा हुआ निद्रा ले रहा था।' 'मैंने बहुत परिश्रम उठाकर यह काम किया है।' 'उसकी आँखें विश्वास माँगती थीं।' 'वह दिखना चाहने लगा।' 'सरकार ३५ करोड़ का कर्ज जारी करेगी।' 'बात की बात में ढेर खड़ा हो जाता था।' 'तुम दूसरों के पैर में अड़ंगा डालते हो।' 'एक को दूसरे की आवश्यकता की कीमत लगती थी।' 'वह आराम को किनारा देता रहा है।' 'दूसरों को हँसी दिलाने के लिए उसमें बेढंगापन बहुत था।' 'उसके मन में वासनाएँ लीला मचा रही थीं।' 'थरथराहट चुप हो गई।' 'उनका ताप-मान अभी जारी है।' (अर्थात् ज्वर नहीं उतरा) 'नहाकर झटपट चुको।' 'संगीत चुक गया।' उसका चित्त भींग आया।' और 'मैं इसका और क्या कारण दे सकता हूँ?' सरीखे प्रयोग बिलकुल भद्दे होने के सिवा हमारी भाषा की प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध और अशुद्ध हैं। दिलचस्पी लेना, स्वार्थ लेना, भाग लेना, शपथ लेना, स्नेह माँगना, साहस देना, भरोसा पाना, फिक्र बाँधना, माँग करना आदि सैकड़ों विलक्षण क्रिया-प्रयोग नित्य देखने में आते हैं और उनकी संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी होती जाती है। 'अभियोग लगाना' तक तो ठीक है पर अब कुछ लोगों ने 'अभियोग चलाना' भी आरम्भ कर दिया है। 'आरोप' और 'आक्षेप' के साथ 'करना' का प्रयोग ही प्रशस्त है; पर बहुत-से लोग 'आरोप लगाना' और 'आक्षेप रखना' (या लगाना) आदि भी लिखते हैं। इस प्रकार के प्रयोग हमारी मानसिक दास-वृत्ति और उच्छृङ्खलता के सूचक तथा भाषा के कलंक हैं।

क्रियाओं की ही तरह संयुक्त-क्रियाओं के भी बिलकुल मनमाने, नये और भद्दे प्रयोग देखने में आते हैं। 'कह फेंककर', 'लपक लेकर', 'गुस्सा चुक चुकने

पर', 'कह दे सका' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। 'उसे कुछ पकड़ नहीं मिल रहा था।' का अर्थ सहज में सबको समझ में नहीं आ सकता। 'कुछ पकड़ पाना' तक तो ठीक है, पर 'पकड़ मिलना' ठीक नहीं है। भद्दी और अनावश्यक संयुक्त क्रियाओं के कुछ और उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—वह अभी आ रहे हो सकते हैं।

२—और कुछ धीमी हो गई हुई गाड़ी...।

३—वह किसी का नाम लेकर पुकार पड़ा।

४—वह ऊँचे पर ही कहीं रहे रही।

५—यह अवस्था लोगों को अस्वाभाविक लग आनी चाहिए।

संयुक्त क्रियाओं का ठीक प्रयोग न करने के कारण कभी-कभी अर्थ में बहुत अन्तर पड़ सकता है। 'वह चली जाती थी।' और 'वह चली जा रही थी।' सरीखे वाक्यों में अर्थ और भाव का बहुत अन्तर होता है। अर्थ और प्रयोग सम्बन्धी इस प्रकार के अन्तर साधारण व्याकरणों तक में मिलते हैं; इसलिए यहाँ उनका विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ तो हम यही बतलाना चाहते हैं कि क्रियाओं और संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत समझ-बूझकर करना चाहिए।

कुछ लोग वाक्यों में क्रियाओं की संगति का ध्यान नहीं रखते। एक ही वाक्य में कहीं एक काल की और कहीं दूसरे काल की क्रियाएँ रख देते हैं।

क्रियाओं की संगति

जैसे—'जो भाषा पर अधिकार रखता है, वह सीधे ढंग से ऐसी बात कह जायगा।' इसमें या तो 'रखता है' की जगह 'रखता होगा' या 'कह जायगा' की जगह 'कह जाता है' होना चाहिए। 'जो लेखक बनना चाहते हैं, वह भाषा पर ध्यान रक्खें।' ('हैं' की जगह 'हों' होगा)। 'जब हम काव्य की आलोचना कर रहे हैं, तब भाषा चलती हुई होनी चाहिए।' ('हैं' की जगह 'हों' होगा) इसी प्रकार के और वाक्य हैं—

१. देखिए, तकल्लुफ न करें (कीजिए)।

२ यदि आपका पत्र अन्तिम वाक्य था, (हो) तब तो थोड़ी ही आशा है।

३. जब सन-लाइट साबुन माँगिए, तब अच्छी तरह देख लें (देख लीजिए)।

४. यदि आप कृपाकर आ सकें तो बहुत अच्छा होता (हो)।

५. ज्यों-ज्यों आलोचना होने लगी, त्यों त्यों रहस्य प्रकट होते गये (होने लगे)।

६. दिल्ली में जो बातें हुई थीं (हैं), उनसे मालुम होता है कि गान्धी जी फिर बड़े लाट से मिलेंगे।

७. जैसी घटनाएँ इस वर्ष हुई हैं, वैसी पहले कभी देखने में नहीं आई हैं। (अन्त में केवल 'आई' या 'हुई' होना चाहिए; 'हैं' नहीं होना चाहिए।

८. अपना धन बेकार पड़े (पड़ा) रहने न दीजिए।

भाषा में प्रत्येक शब्द और प्रत्येक क्रिया का कुछ निश्चित अर्थ, कुछ निश्चित भाव और कुछ निश्चित प्रयोग होता है; और शब्दों का दुरुपयोग भाषा के लिए सदा घातक ही होता है, श्री-वर्द्धक नहीं। इसलिए प्रत्येक शब्द और प्रत्येक क्रिया का प्रयोग करते समय बहुत ही ध्यानपूर्वक देख लेना चाहिए कि वह अपने ठीक स्थान पर और अपने ठीक अर्थ में है या नहीं। यदि समझ में न आवे तो दूसरों से पूछ लेना उतना लज्जाजनक नहीं है, जितना बिना समझे-बूझे अशुद्ध और भद्दी भाषा लिख चलना है।

अब मुहावरे लीजिए। मुहावरों का प्रयोग भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए होता है। पर यदि वे मुहावरे ही बे-मुहावरे हों तो उनसे भाषा में क्या सौन्दर्य आ सकता है! मुहावरों के बे-ढंगे प्रयोग करके हम भाषा को श्री-हत करने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। यह भी हिन्दी का दुर्भाग्य ही है कि इसके लेखकों में मुहावरों की दुर्दशा करनेवालों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है।

मुहावरों का विवेचन

आगे बढ़ने से पहले हम मुहावरे के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला देना चाहते हैं। शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से कुछ विशिष्ट पद बन जाते हैं जो मुहावरे कहलाते हैं। अर्थात् 'मुहावरा' उस गठे हुए

पद को कहते हैं जिससे कुछ विशिष्ट लक्षणात्मक अर्थ निकलता है और जिसकी गठन में किसी प्रकार का अन्तर होने पर वह लक्षणात्मक अर्थ नहीं निकल सकता। यह तो नहीं कहा जा सकता कि मुहावरे से सूचित होनेवाला भाव उसके शब्दों से निकलनेवाले अर्थ से बिलकुल भिन्न होता है; क्योंकि लक्षणा में भी भावार्थ का वाच्यार्थ से कुछ सम्बन्ध तो होता ही है; फिर भी मुहावरे का लक्षणा से निकलनेवाले भावार्थ में साधारण अर्थ की अपेक्षा कुछ विशेषता अवश्य होती है। जैसे—'इस दूकान में लाखों रुपये लगे हैं।' में 'रुपये लगना' मुहावरा है। दूकान में लाखों रुपये या लाखों रुपये के नोट जड़े या चिपके हुए नहीं होते। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से यह वाक्य निरर्थक है। पर उसका लक्षणात्मक अर्थ यह है कि इस दूकान में जो कार-बार होता है, उसमें लाखों रुपये लगे हैं। अतः इस प्रसंग में 'रुपये लगना' मुहावरा हुआ। पर यदि हम कहें—'इस काम में हमारे पाँच रुपये लग गये।' तो यहाँ 'रुपये लगना' कोई मुहावरा नहीं हुआ, क्योंकि 'लगना' का एक अर्थ 'खर्च होना' भी है; इस प्रसंग में 'रुपये लगना' अपने सामान्य अर्थ में आया है। एक दूसरा मुहावरा लीजिए—किसी को उँगलियों पर नचाना। उँगलियों पर कभी कोई आदमी नचाया नहीं जा सकता। इस पद का प्रयोग एक विशेष अर्थ सूचित करने के लिए होता है। यही बात 'किसी को मुँह लगाना' (या सिर चढ़ाना), 'छठी का दूध याद आना', 'बाँसों कलेजा उछलना' आदि के सम्बन्ध में भी है। कभी-कभी कहावतों की तरह मुहावरे भी कुछ कहानियों आदि के आधार पर बन जाते हैं। जैसे—'आँखों की सूइयाँ निकालना', 'टेढ़ी खीर' आदि। हिन्दी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है—(किसी के) कान काटना। जैसे—आप चालाकी में बड़े-बड़ों के कान काटते हैं। यह मुहावरा 'दबी बिल्ली चूहों से कान कटाती है' वाली कहावत से बना है; और स्वयं यह कहावत एक विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले तथ्य से बनी है। पर अधिकतर मुहावरे क्रियाओं के योग से ही बनते हैं; और इसी लिए हमने भी इनका विवेचन क्रियाओं के साथ ही करना उचित समझा है।

प्रायः लोग यह आपत्ति करते हैं कि हमारे यहाँ 'मुहावरे' के

लिए कोई शब्द नहीं है, और मुहावरे हमने दूसरों से सीखे या लिये हैं। यह बात पूरी तरह से ठीक न होने पर भी कुछ अंशों में अवश्य ठीक है। हम देखते हैं कि 'पृथ्वी', 'वायु' आदि संस्कृत शब्दों के साथ तो मुहावरे नहीं के समान हैं; पर 'जमीन' 'हवा' आदि विदेशी शब्दों के साथ बहुत से मुहावरे हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो भाषा के क्षेत्र में मुहावरों का प्रचलन और विकास भी बहुत बाद में हुआ है। फिर भी हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्यकारों को मुहावरों के तत्त्व का अवश्य ज्ञान था। उन्होंने शब्द की तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं--अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द की जिस शक्ति के द्वारा उसका साधारण या प्रत्यक्ष अर्थ सूचित होता है, वह अभिधा कहलाती है। जैसे--रोटी या मकान का साधारण और प्रचलित अर्थ उसकी अभिधा शक्ति से सूचित होता है। पर यदि हम किसी लड़के को 'गधा' या 'उल्लू' कहें तो इसका कभी यह अर्थ नहीं होगा कि वह लड़का मानव वर्ग का नहीं है, बल्कि उस पशु-वर्ग का है जिसे 'गधा' कहते हैं, अथवा उस पक्षी-वर्ग का है जिसे 'उल्लू' कहते हैं। हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह गधे या उल्लू के समान मूर्ख और अबोध है। यह अभिप्राय इन शब्दों की लक्षणा शक्ति से सूचित होता है। तीसरी व्यंजना शक्ति वह है जिससे किसी शब्द का साधारण अर्थ तो छूट जाता है और उससे कोई विशेष अर्थ प्रकट होता है। मुहावरों का अन्तर्भाव भी शब्द की इन्हीं दूसरी और तीसरी व्यापक शक्तियों के अन्तर्गत होता है।

एक साधारण शब्द लीजिए—मुँह। इसका पहला और अभिधा शक्ति द्वारा प्रकट होनेवाला अर्थ प्राणियों का वह अंग है, जिससे वे खाते-पीते या बोलते हैं। पर बरतनों का भी मुँह होता है और फोड़े-फुनसियों का भी। ऐसे प्रसंगों में शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा उसका अर्थ या आशय प्रकट करती है। पर जब हम कहते हैं कि आपने इस लड़के को बहुत मुँह लगा रक्खा है, तब यहाँ शब्द की वह तीसरी शक्ति काम करती है, जिसे व्यंजना कहते हैं। संज्ञाओं के साथ क्रियाओं के लक्षणात्मक प्रयोग ही मुहावरे होते हैं; और व्यंजनात्मक प्रयोग से जो अर्थ सूचित होता है, उसे ध्वनि कहते हैं। और इसमें भी कुछ मुहावरों का अन्तर्भाव होता है।

इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ मुहावरों का विचार उस संकुचित दृष्टि से नहीं हुआ था, जिससे अन्यान्य देशों के साहित्यकारों ने किया था; बल्कि उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से विचार हुआ था। फिर भी हमें निस्संकोच होकर यह मानना ही पड़ता है कि आज-कल जिसे 'मुहावरा' या Idicm कहते हैं, वह तत्त्व हमारे लिए बहुत कुछ नया और हाल का है। हम यह तो मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि यह तत्त्व हमने उर्दू से ग्रहण किया है, क्योंकि उर्दू के प्रचार से बहुत पहले हमारे यहाँ मुहावरे बनने और चलने लग गये थे; पर हाँ 'मुहावरा' शब्द हमने अवश्य बाहर से लिया है। संस्कृत में संभवतः इस प्रकार के लक्षणात्मक विशिष्ट अर्थ प्रकट करनेवाले गठे हुए पद नहीं होते थे; और इसी लिए उस भाषा में 'मुहावरे' के लिए शायद कोई शब्द भी नहीं है। शब्दों और पदों के विशेष अर्थ लक्षणा से भी निकलते हैं और व्यंजना से भी। हम कहते हैं—'नेहरू जी भारतीय राष्ट्र की पतवार हैं।' इसका अर्थ यह हुआ कि वे भारतीय राष्ट्र-रूपी नौका के कर्णधार हैं। वाक्य का यह अर्थ लक्षणा शक्ति से निकलता है। इसी प्रकार यदि हम कहें—'आपसे किसी काम के लिए कहना तो अरण्य-रोदन करना है।' तो इसका आशय ('व्यर्थ है') व्यंजना शक्ति से निकलता है। 'मुहावरा' इसी प्रकार के प्रयोगों का विकसित रूप है। लक्षणा के हमारे यहाँ दो भेद किये गये हैं—रूढ़ि-लक्षणा और प्रयोजन लक्षणा। इनमें से रूढ़ि-लक्षणा में वे शब्द-प्रयोग आते हैं, जो रूढ़ या प्रचलित हो जाते हैं, और प्रयोजन-लक्षणा में किसी प्रयोजन-वश शब्दों के अर्थ में विशेषता आती है। तत्त्वतः मुहावरा हमारे यहाँ की 'रूढ़ि-लक्षणा' के अन्तर्गत आता है। अतः हम मुहावरे को 'रूढ़ि' और मुहावरेदार को 'रूढ़' कह सकते हैं। हमें इसके लिए एक दूसरा शब्द 'वाक् सम्प्रदाय' भी सुझाया गया है। पर यह शब्द कुछ बड़ा है; अतः यदि मुहावरे के लिए 'रूढ़ि' शब्द ही रूढ़ हो जाय तो कोई हर्ज नहीं।

कुछ लोग बोल-चाल के प्रचलित और शिष्ट-सम्मत प्रयोगों को ही 'मुहावरा' समझते हैं; पर वास्तव में यह 'मुहावरे' का दूसरा और गौण अर्थ है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो मुहावरे और बोल-चाल में बहुत

कम अन्तर है। कुछ तत्त्व दोनों में प्रायः समान रूप से पाये जाते हैं; और इसी लिए कभी-कभी एक में दूसरे का अन्तर्भाव दिखाई देता है। फिर भी दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

मुहावरे और बोल-चाल में अंतर

'बोल-चाल' वही चीज है, जिसे उर्दूवाले 'रोजमर्रा' कहते हैं। यह 'रोजमर्रा' भी होता तो है प्रायः कुछ गठे हुए या निश्चित शब्दों में ही, पर उन शब्दों से सामान्य अर्थ ही निकलता है—उस प्रकार का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, जिस प्रकार का मुहावरे से निकलता है। जैसे, हम यह तो कहेंगे कि यह पाँच-सात दिन पहले की बात है; पर यह नहीं कहेंगे कि यह चार-सात दिन या छः नौ दिन पहले की बात है। बोल-चाल का बँधा हुआ रूप 'दिन दूना और रात चौगुना' ही है। इसे हम 'रात दूना और दिन चौगुना' नहीं कर सकते। कुछ संज्ञाओं के साथ जो कुछ विशिष्ट या निश्चित क्रियाएँ आती हैं, वे भी इसी बोल-चाल के तत्त्व की सूचक और इसी के अन्तर्गत हैं। आगे के पृष्ठों में जो विवेचन है, वह मुहावरों के सम्बन्ध में भी है और बोल-चाल के सम्बन्ध में भी।

हर एक भाषा में क्रिया-प्रयोग भी और मुहावरे भी अलग-अलग हुआ करते हैं; और उनके ठीक प्रयोग उस भाषा के अच्छे ज्ञाता ही कर सकते हैं। जो लोग क्रियाओं और मुहावरों का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें भाषा के अच्छे-अच्छे ज्ञाताओं की बातें अच्छी तरह सुननी और रचनाएँ ध्यान से पढ़नी चाहिएँ। क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण भाषा में अनेक प्रकार की भूलें हो जाती हैं और अनेक अवसरों पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण आगे चलकर विस्तार से दिये गये हैं।

मनुष्य की प्रकृति सब जगह प्रायः समान रूप से काम करती है; और इसी लिए अनेक भाषाओं में परस्पर मिलते-जुलते भावोंवाले मुहावरे भी पाये जाते हैं। कुछ अवसरों पर दूसरी भाषाओं के मुहावरे कुछ काट-छाँट कर ग्रहण भी कर लिये जाते हैं। परन्तु जब तक वे शिष्ट-सम्मत नहीं हो जाते, तब तक उनका प्रचलन नहीं होता। हाँ, तत्काल किसी दूसरी भाषा

के मुहावरे का किया हुआ अनुवाद प्रायः हास्यास्पद ही होता है। यदि हमारी भाषा में उससे मिलता-जुलता कोई मुहावरा हो तो उससे हम अवश्य अपना काम चला सकते हैं। परन्तु इसके लिए अपनी भाषा के मुहावरों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

'रास्ते का काँटा' एक ऐसा मुहावरा है, जिससे मिलते-जुलते मुहावरे और भाषाओं में भी मिलते हैं। परन्तु 'काँटों में घसीटना' ऐसा मुहावरा है जिससे मिलते-जुलते मुहावरे और भाषाओं में कम देखे गये हैं। अँगरेजी का एक मुहावरा है—हार्ड नट टु क्रैक (Hard nut to crack)। हमारे यहाँ इससे मिलता-जुलता मुहावरा है 'टेढ़ी खीर' जो वास्तव में एक कहानी के आधार पर बनी हुई एक कहावत है। हमारे यहाँ का 'किनारा खींचना' मुहावरा फारसी के 'किनारा-कशी' मुहावरे से आया है जो उर्दू के द्वारा शिष्ट-सम्मत होकर प्रचलित हो चला है। परन्तु कान पकड़ना, पल्ले पड़ना, मुँह आना आदि हजारों ऐसे मुहावरे हैं जो हमारे अपने हैं और जिनमें से कुछ के सम-कक्ष मुहावरे दूसरी भाषाओं में हैं और कुछ के नहीं।

अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि हमारे यहाँ के लेखक और पत्रकार मुहावरे और बोल-चाल के क्षेत्र में कितने प्रकार की भूलें करते हैं।

कोई पैंतीस वर्ष पहले महाराज रणजीतसिंह की एक जीवनी देखने में आई थी। सब कुछ लिख चुकने के बाद अन्त में लेखक ने लिखा था—'बस तभी से पंजाब के गले में पराधीनता की बेड़ियाँ पड़ गईं।'

मुहावरों के अशुद्ध प्रयोग

लेखक ने यह नहीं सोचा कि बेड़ियाँ गले में नहीं, पैरों में पड़ती हैं। उन दिनों हिन्दी लिखी कम जाती थी; इसलिए मुहावरों की इस प्रकार की दुर्दशा भी कम होती थी। तब से अब तक हिन्दी ने बहुत उन्नति की है—उसमें बहुत अधिक साहित्य प्रस्तुत होने लगा है। पर खेद की बात है कि मुहावरों की दुर्दशा भी उसी अनुपात में बल्कि कदाचित् उससे भी अधिक हो रही है। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'सम्पादकों का गला घोंटने के लिए सदा उनके सिर पर दमन की तलवार लटकती रहती है।' मानों तलवार ने गला काटने का काम छोड़कर गला घोंटने का पेशा अख्तियार कर लिया हो। एक

पुस्तक में पढ़ा था--'उससे भिड़ना तलवार की नोक पर चलना है।' लेखक ने यह न सोचा कि तलवार की नोक पर कोई चल ही कैसे सकता है! मुहावरा है—तलवार की धार पर चलना। एक पत्र में देखा था—'अँगरेज झूठी शान के पीछे न पड़ें।' पर 'किसी के पीछे पड़ना' एक खास मुहावरा है जिसका अर्थ है किसी को सदा तंग करते रहने का प्रयत्न करना। इसलिए होना चाहिए था--'अँगरेज़ झूठी शान के फेर में न पड़ें।' एक समाचार-पत्र में छपा था--'हमने उनकी योजनाओं को दुम दबाकर स्वीकार कर लिया।' पर दुम दबाकर तो केवल 'भागना' होता है, कुछ कहना, सुनना, मानना या माँगना आदि नहीं। एक समाचार-पत्र में छपा था--'यह देखकर मेरा तो सिर शर्म से उड़ गया'। पर सिर तलवार से उड़ा करता है, शर्म से नहीं। शर्म से तो वह झुकता ही है। एक और पत्र में एक दुर्घटना का उल्लेख करते हुए लिखा था--इतने में पुलिस वहाँ आ धमकी। पर 'आ धमकना' का प्रयोग ऐसे ही अवसरों पर होना चाहिए, जहाँ कोई अवांछित रूप में आ पहुँचे। दुर्घटना होने पर पुलिस का आना कभी अवांछित नहीं कहा जा सकता। इसलिए यहाँ 'आ धमकी' की जगह 'आ पहुँची' ही होना चाहिए। एक मासिक-पत्र में एक कहानी के अन्तर्गत पढ़ा था—'उसकी हुलिया तंग थी।' इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि हुलिया स्त्री-लिंग नहीं, पुल्लिंग है। दूसरी बात यह है कि हुलिया केवल बनता या बिगड़ता है, तंग तो 'काफिया' हुआ करता है। 'वे फुटकर काम करके अपना पेशा कमाते हैं।' में 'पेशा कमाना' मुहावरे का बहुत ही भद्दा और बे-मौके प्रयोग हुआ है। वस्तुतः इस मुहावरे का प्रयोग तो धन लेकर व्यभिचार करनेवाली दुश्चरित्रा स्त्रियों के सम्बन्ध में ही उपयुक्त है। 'आपकी आँखों पर पड़ा हुआ सारा परदा फाश हो जायगा।' में 'फाश होना' का अशुद्ध प्रयोग हुआ है। 'परदा फाश होना' का अर्थ है—रहस्य या भेद खुल जाना। इसलिए यहाँ 'फाश हो जायगा' की जगह 'हट जायगा' या 'दूर हो जायगा' होना चाहिए। हाँ, यदि किसी का कोई रहस्य प्रकट हो जाय, तो हम कह सकते हैं--उसका पर्दा फाश हो गया। 'लड़की फूट-फूटकर चिल्ला रही थी।' में 'चिल्ला रही थी' की जगह 'रो

रही थीं' होना चाहिए।

एक पुस्तक में पढ़ा था--'वह प्रसन्नता के पारावार में बह चली' जिसका कुछ अर्थ ही नहीं होता। एक और जगह पढ़ा था--'वहाँ जान पर कुरबान होनेवालों की कमी नहीं थी।' 'जान कुरबान करनेवालों' तो ठीक है, पर 'जान पर कुरबान' होने का कुछ अर्थ नहीं है। 'उन्होंने भी जले-भुने शब्दों में स्वीकार किया है...।' में 'जले-भुने शब्द' कोई बोल-चाल नहीं है। होना चाहिए--'उन्होंने भी जल-भुनकर स्वीकार किया है......।' 'वह सिट्टी भूल गई।' की जगह होना चाहिए--'उसको सिट्टी भूल गई।' 'वे स्वयं अपने कर्त्तव्याभाव से जी भर फिट्टा पड़ चुके हैं।' में 'फिट्टा पड़ चुके हैं' के साथ 'जी भर' कोई बोल-चाल नहीं है और बिलकुल व्यर्थ है। होना चाहिए था-'फिट्टे पड़ चुके हैं।' 'उसका बोल-बाला कम हो गया।' भी कोई बोल-चाल नहीं है। 'बोल-बाला' केवल 'होता' या 'रहता' है, वह कम या ज्यादा नहीं होता। 'वहाँ ऐसे लोगों को पर मारने नहीं दिया जाता।' की जगह होना चाहिए—'वहाँ ऐसे लोग पर नहीं मार सकते।' 'उस पर घड़ों पानी गिर गया' का ठीक रूप होगा—'उस पर घड़ों पानी पड़ गया।' एक पुस्तक में पढ़ा था—'लाज और लिहाज के मोरचे टूट पड़े।' पर हिन्दी में 'टूट पड़ना' एक खास मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है—किसी को मारने, गिराने आदि के लिए उसपर झपटना या आक्रमण करना। अतः 'टूट पड़े' की जगह 'टूट गये' होना चाहिए था।

एक विद्वान् लेखक के भाषण में पढ़ा था—'युग की माँग का यह बीड़ा कौन चबाता है?' पर 'बीड़ा चबाना' कोई मुहावरा नहीं है; मुहावरा है—बीड़ा उठाना। मध्य युग में हमारे यहाँ राज दरबारों में यह प्रथा थी कि जब कोई विकट कार्य आ पड़ता था, तब वीर सामन्तों आदि को बुलाकर उन्हें उस कार्य के संबंध की सारी बातें बतला दी जाती थीं। वहीं थाली में पान का बीड़ा भी रक्खा रहता था। जो व्यक्ति वह कार्य करने का भार लेता था, वह थाली में का बीड़ा उठा लेता था। इसी से यह मुहावरा बना है। इसका तात्पर्य है-कोई बड़ा काम करने के लिए सन्नद्ध होना। पर एक पुस्तक में पढ़ा था-'मैंने उनकी बात न मानने का बीड़ा नहीं

उठाया था।' यह इस मुहावरे का बिलकुल गलत प्रयोग है। इसमें पहली बात तो यह है कि सदा कुछ करने का ही बीड़ा उठाया जाता है; कुछ न करने का बीड़ा नहीं उठाया जाता। दूसरी बात यह है कि इस मुहावरे का प्रयोग कोई बड़ा काम करने के सम्बन्ध में होता है। किसी की कोई बात सुनने या मानने अथवा किसी के यहाँ यों ही आने-जाने सरीखे साधारण कार्यों के सम्बन्ध में इसका प्रयोग नहीं होता।

कुछ लोग 'बीड़ा उठाना' की जगह 'बीड़ा लेना' का भी प्रयोग करते हैं; पर यह भी ठीक नहीं। बीड़ा 'लेना' या 'देना' कोई मुहावरा नहीं है। एक विशेष प्रसंग में 'बीड़ा' एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है; और वह अर्थ है—गाने-बजानेवालों आदि का पारिश्रमिक ठीक करके उन्हें दी जानेवाली साई या पेशगी रकम। और इस अर्थ में इसके साथ देना, लेना, मिलना, पाना, लौटना, भेजना आदि क्रियाएँ साधारण क्रिया-प्रयोग के रूप में ही आती हैं। इनमें मुहावरे का कोई भाव या तत्त्व नहीं है; हाँ उक्त मुहावरे से निकला हुआ 'बीड़ा' का एक विशेष अर्थ अवश्य है।

ऐसे और भी बहुत-से मुहावरे हैं, जिनकी समय-समय पर बहुत दुर्दशा देखने में आती है। बहुत से लोग 'गप लड़ाना' और 'गप हाँकना' में कोई अन्तर नहीं समझते। खाली बैठे बैठे इधर-उधर की बातें करने को 'गप लड़ाना' कहते हैं; और अपने सम्बन्ध में अथवा इधर-उधर की कोई बात बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहने को 'गप हाँकना' कहते हैं। 'घुटना टेकना' सुस्ताने को कहते हैं; और 'घुटने टेकना' किसी के आगे झुककर अधीनता या पराभव स्वीकृत करने को। इसी प्रकार 'नाक काटना' किसी को कुरूप करने का सूचक है, और 'कान काटना' किसी काम में नीचा दिखाने या हराने का सूचक है। परन्तु कई जगह इनमें से एक का प्रयोग दूसरे के स्थान पर होता हुआ देखा गया है। असल मुहावरा 'मलिया-मेट' करना है, जो 'मलिया' नाम के खेल से लिया गया है। पर जिसे देखिए, वह 'मटिया-मेट' ही लिखता है, जिसका कुछ अर्थ नहीं होता। इसके सम्बन्ध में भी लोगों में वैसा ही भ्रम फैला हुआ है, जैसा 'सत्यानाश' (शुद्ध रूप—सतानाश) के सम्बन्ध में है। एक प्रसिद्ध मुहावरा है--'बाछें खिलना' जिसका पश्चिम में

बहुत प्रयोग होता है। उर्दू लिपि की कृपा से कुछ पुराने लेखक 'बाछें खिलना' की जगह 'बाछें खुलना' लिख गये हैं, जिसका वस्तुतः कुछ भी अर्थ नहीं होता। 'बाछ' होंठ के सिरे को कहते हैं; और 'बाछें खिलना' का अर्थ है--मुस्कराहट आना। पर यह बात न समझकर कुछ लोग लिखते हैं—'उनकी बाछें खुल गई।' असल मुहावरा है—'किसी को आड़े हाथ लेना'। पर एक जगह पढ़ा था—'उन्होंने आड़े हाथों से खबर ली।' हिन्दी का एक मुहावरा है—'कसर न करना;' और इसी से मिलता-जुलता दूसरा मुहावरा है—'कुछ उठा न रखना'। पर प्रायः लोग इन दोनों मुहावरों को एक में मिलाकर इनकी ऐसी चटनी बनाते हैं कि दोनों बुरी तरह से पिस जाते हैं। 'कसर न रखना' और 'कसर न उठा रखना' इसी बे-सवाद चटनी के नमूने हैं। 'किसी से पाला पड़ना' और 'किसी के पाले पड़ना' दो अलग मुहावरे हैं; पर इनका भी विलक्षण मिश्रण देखने में आता है। प्रायः लोग लिख जाते हैं—'वह ऐसे आदमी के पाले पड़ा था।' होना चाहिए—'ऐसे आदमी से (उसका) पाला पड़ा था।' या 'वह ऐसे आदमी के पल्ले पड़ा था'। इस मुहावरे का बहुत ही भद्दा प्रयोग एक समाचार-पत्र में इस प्रकार हुआ था—'उन्होंने अपनी किस्मत हमारे पल्ले अटका रक्खी है'। मुहावरे के फेर में सारा वाक्य बे-सिर-पैर का हो गया है। कुछ कुछ यही बात 'मिलना-जुलना' और 'घुलना-मिलना' के संबंध में भी है। 'मिलना-जुलना' साधारण भेंट और व्यवहार का सूचक है, पर 'घुलना-मिलना' बहुत घनिष्ठ व्यवहार का। 'नाक में दम होना' की भी प्रायः दो तरह से दुर्दशा होती है। कोई लिखता है—'हमारे नाक में दम आ गया' और कोई लिखता है—'हमारी नाक में दम हो गया।' पर ये दोनों रूप अशुद्ध हैं। शुद्ध रूप है—'नाक में दम होना।' और उसमें मुख्य शब्द है 'दम', न कि 'नाक'। 'हमारे (या हमारी ?) नाक में दम हो गया' का तात्त्विक दृष्टि से कुछ भी अर्थ नहीं होता। ठीक अर्थ तभी निकलेगा, जब कहा जायगा--'हमारा नाक में दम हो गया।' असल मुहावरा है--'हथेली पर सिर रखकर' (कोई काम करना)। पर कुछ लोग लिखते हैं--'हथेली पर जान रखकर'; और कुछ लोग इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं--

'वह हथेली पर जान लेकर आगे बढ़ा।' इस प्रकार के मनमाने परिवर्त्तनों से मुहावरे भद्दे और प्रायः निरर्थक हो जाते हैं। किसी चीज में 'चार चाँद लगना' का अर्थ होता है--(उसका) सौन्दर्य बहुत बढ़ जाना। पर इस मुहावरे का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ किसी सुन्दर वस्तु की, किसी और कारण से, सौन्दर्य-वृद्धि का उल्लेख होता है। पर एक जगह पढ़ा था--- 'यों तो यह सारा चित्र ही अत्यन्त अश्लील और घृणित है, तिसपर गानों ने इसमें और भी चार चाँद लगा दिये हैं।' स्पष्ट है कि 'अश्लील और घृणित' वस्तु में 'चार चाँद लगना' बिलकुल उलटा और बहुत ही हास्यास्पद प्रयोग है। और फिर प्रसंग को देखते हुए इसकी गिनती व्यंग्य में भी नहीं हो सकती।

एक प्रसिद्ध मुहावरा है---'कटे पर नोन (या नमक) छिड़कना'। यदि शरीर में किसी कटी हुई जगह पर नमक लग जाता है तो बहुत छरछराहट होती है। इसी से यह मुहावरा बना है। उर्दू में इस मुहावरे का बहुत प्रयोग हुआ है। एक शेर है--

नमक छिड़को, नमक छिड़को, मजा कुछ इसमें आता है।
कसम ले लो, नहीं आदत मेरे जख्मों को मरहम की॥

इससे सूचित होता है कि घाव पर मरहम लगने का जो असर होता है, उसका ठीक उलटा असर नमक लगने का होता है। पर कुछ लोग इसकी जगह 'जले पर नमक छिड़कना' का प्रयोग करते हैं जो ठीक नहीं है। जले पर नमक तो एक तरह से दवा का काम देता है। हमारे यहाँ का बहुत पुराना प्रयोग भी 'क्षत पर क्षार' ही है, 'दग्ध पर क्षार' नहीं। महाकवि राजशेखर ने कर्पूर मंजरी (२-११) में 'क्षते क्षारं' का प्रयोग किया है। यथा---

परं जोण्हा उण्हा गरल सरिसो चंदन रसो।
खअक्खारो हारो रजनि पवणा देह तवणा॥

इसमें का 'खअक्खारो' वस्तुतः 'क्षत-क्षारो' ही है। भवभूति ने भी उत्तर-रामचरित (४-७) में कहा है---

य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्त्तो महोत्सवः।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम्॥

पर इधर कुछ दिनों से इसकी जगह भूल से 'जले पर नमक' ही चल पड़ा है। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास जैसे परम सुविज्ञ भी कह गये हैं—

अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥

'जले पर नमक' के समर्थन में हमारे एक सुयोग्य मित्र का कहना है कि 'कटे पर नमक' और 'जले पर नमक' दो अलग मुहावरे हैं जो अलग-अलग प्रदेशों में प्रचलित हैं। पर 'कटे पर नमक' की उक्त परम्परा देखते हुए यह तर्क कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। 'जले पर नमक' भ्रम से ही चल पड़ा है।

कभी-कभी लोग मुहावरों के ठीक रूप और अर्थ न जानने के कारण और भी कई तरह की भूलें कर जाते हैं। एक प्रसिद्ध गीत है—

अवधि बदि सैंयाँ अजहूँ न आये।

इसमें 'अवधि बदना' पुराना मुहावरा है, जिसका अर्थ है—कोई काम करने की अवधि निश्चित करना या ठीक समय बतलाना। पर अधिकतर संगीत-प्रेमियों के मुँह से इसका यही रूप सुना जाता है—

अवधपति सैंयाँ अजहूँ न आये।

इसमें 'अवधपति' का इसलिए कुछ भी अर्थ नहीं है कि इसके बादवाला पद (जिसे संगीत में अंतरा कहते हैं) है—

ठाड़ी अटा पर कृष्ण पुकारे, भरि आई नदिया बारी रे।

इसी प्रकार एक मुहावरा है—'बातें बनाना' जिसका अर्थ है—गढ़-गढ़कर या झूठी बातें कहना। एक दादरे में यह मुहावरा इस प्रकार आया है—

हटो जाओ न मोसों बनाओ बतियाँ।

पर प्रायः लोग मुहावरे का ठीक रूप न समझने के कारण कहते हैं—

हटो जाओ न झूठी बनाओ बतियाँ।

वास्तव में 'बातें बनाना' में ही झूठेपन का भाव आ जाता है, अतः 'बनाओ बतियाँ' से पहले 'झूठी' विशेषण निरर्थक है। हमने गद्य-साहित्य में भी कई जगह 'झूठी बातें बनाना' का प्रयोग देखा है, जो किसी तरह ठीक नहीं हो सकता। 'बातें बनाना' ही यथेष्ट है।

प्रायः लोग बात-चीत में कहा करते हैं—उन्हें वहाँ से टका-सा जवाब मिला। पर वास्तव में 'टका-सा' का कोई अर्थ नहीं है। असल मुहावरा है

'टुक्का-सा' जिसका अर्थ है—टुकड़ा सा। अर्थात् जिस प्रकार किसी के आगे टुकड़ा तोड़कर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार उपेक्षा-पूर्वक दिया हुआ जवाब 'टुक्का-सा जवाब' कहलाता है। इसी लिए हिन्दी शब्द-सागर में 'टुकड़ा-सा जवाब' भी एक मुहावरा दिया है। यह तो उर्दू लिपि की कृपा से और उर्दूवालों की फसाहत की बदौलत 'टुक्का-सा' का 'टका-सा' हो गया है। वास्तव में होना चाहिए टुक्का-सा जवाब।

बहुत-से लोग भाषा में जबरदस्ती मुहावरेदारी लाने के फेर में पड़कर अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। बंगाल के भीषण अकाल के समय इस प्रांत के

अशुद्ध बोल-चाल

एक समाचार-पत्र ने लिखा था—'प्रांतीय सरकार दम भरती है कि इस प्रांत में भी ऐसे अकाल की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना है।' यहाँ दम भरना' मुहावरे का बिलकुल गलत और उलटा प्रयोग हुआ है। 'किसी बात का दम भरना' का अर्थ होता है—किसी बात का पूरा भरोसा रखकर अभिमानपूर्वक उसका वर्णन करना। जैसे—'आप तो उनकी दोस्ती का दम भरते हैं'। इस दृष्टि से उक्त उद्धरणों के शब्दों से सूचित होता है कि प्रांतीय सरकार को इस बात का पूरा विश्वास है कि इस प्रांत में भी वही स्थिति उत्पन्न हो जायगी, जो बंगाल में उत्पन्न हुई थी; और अपना यह विश्वास वह प्रसन्न होकर और अभिमानपूर्वक प्रकट कर रही है। साथ ही यह भाव भी प्रकट होता है कि सरकार इसके लिए प्रयत्नशील है; और उसका वह प्रयत्न शीघ्र ही सफल भी हो जायगा। कैसा अनर्थ है!

एक पुस्तक में पढ़ा था—'उसके कदम आगे बढ़ने में सहम जाते थे।' वास्तव में 'कदम' नहीं सहमते, सहमता तो आदमी है। होना चाहिए था—'वह आगे कदम बढ़ाने में सहमता था'। एक और जगह पढ़ा था—'उसका सिर चक्कर काटता था'; मानों सिर उसके धड़-से अलग होकर आकाश में चक्कर लगा रहा था। सीधी तरह से होना चाहिए था—'उसका सिर चकरा रहा था।' एक और पुस्तक में पढ़ा था—'तिसपर तुक्का यह कि उलटे बंगाल सरकार पर तोहमत लगाई जाती थी।' इसमें 'तुक्का' की जगह 'तुर्रा' होना चाहिए था। 'महासमर का एक और अभिशाप ब्रि-न

के जिम्मे यह पड़ा है कि......।' इसलिए ठीक नहीं है कि अभिशाप किसी 'पर' या किसी के 'सिर' पड़ता है, 'जिम्मे' नहीं पड़ता। 'वे लीग के प्रचार का मुँह उन्हें प्रान्तीय शासन में उचित स्थान देकर बन्द करना चाहते हैं।' में 'प्रचार का मुँह' बहुत भद्दा है। केवल 'लीग का मुँह' से काम चल सकता था। 'किसी से उलझने की धुन उसमें, चढ़े' भी कोई शिष्ट-सम्मत प्रयोग या बोल-चाल नहीं है। 'धुन' किसी 'में' नहीं चढ़ती, बल्कि किसी 'को' चढ़ती है।

कभी-कभी लोग क्रियाओं, क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों या बोल-चाल का ठीक-ठीक अन्तर न समझने के कारण ही भद्दी भूलें कर जाते हैं। प्रायः बोल चाल में आता है–'वह ढेर पर ढेर लगा रहा था।' 'उसकी हार पर हार हो रही थी।' आदि। अर्थात् इस प्रकार की द्विरुक्तियाँ केवल संज्ञाओं के सम्बन्ध में होती हैं। पर कुछ लोग यह बात न जानने के कारण क्रियाओं की भी इसी प्रकार की द्विरुक्तियाँ कर जाते हैं। जैसे—'वह हार पर हार रहा था।' ऐसे प्रयोगों में पहली क्रिया के सम्बन्ध में यह भ्रम हो सकता है कि कहीं वह संज्ञा तो नहीं है। और चाहे यह भ्रम न भी हो, फिर भी यह कोई बोल-चाल नहीं है। इसलिए ऐसे प्रयोग संज्ञाओं तक ही परिमित रखना प्रशस्त है। क्रियाओं की ऐसी द्विरुक्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि हिन्दी शब्दसागर में 'सेंध' के क्रिया-प्रयोगों में 'देना' और 'लगाना' के साथ 'मारना' भी दे दिया गया है, पर वास्तव में 'सेंध' के साथ 'मारना' क्रिया-प्रयोग नहीं है, बल्कि 'सेंध मारना' मुहावरा है। इसी लिए 'सेंध लगाने का सामान' तो ठीक है, पर 'सेंध मारने का सामान' ठीक नहीं है। पर एक अखबार में छपा था—'वह सेंध मारने के सामान के साथ पकड़ा गया।' एक समाचार पत्र में पढ़ा था—'कांग्रेस बोर्ड की गलती ठीक करनेवाले सरदार पटेल अब नहीं रहे।' वास्तविक आशय तो यह था कि कांग्रेस बोर्ड की गलती सुधारने का सरदार पटेल को अब कोई अधिकार नहीं रह गया। पर वाक्य का अन्तिम पद 'अब नहीं रहे' बोल-चाल की दृष्टि से कैसी अनिष्ट भावना का सूचक है, इसकी ओर लेखक का ध्यान नहीं गया!

'कहा-सुनी' का कुछ विशेष अर्थ है। जब दो आदमियों में कुछ क्रोधपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर या जबानी साधारण झगड़ा होता है, तब उसे 'कहा-सुनी' कहते हैं। पर हमने कई लेखकों को साधारण बात-चीत के अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हुए देखा है। 'क्या तो हिन्दीवाले, क्या तो उर्दूवाले' 'न ही यह, न ही वह' आदि विलक्षण प्रयोग भी बढ़ते जा रहे हैं जो बोल-चाल के विरुद्ध हैं। 'न जाने' की जगह खाली 'जाने' का प्रयोग भी होने लगा है। न जाने इस खाली 'जाने' का लोग क्या अर्थ समझते हैं।

कुछ लोग शब्दों के साथ लगी हुई साधारण क्रियाओं को भी भूल से मुहावरों के अन्तर्गत मान लेते हैं। 'सन्नाटा छाना' कोई मुहावरा नहीं है, क्योंकि इसके शब्दों से निकलनेवाले अर्थ से भिन्न इसका भाव नहीं है। इसी प्रकार 'नथने फड़कना' भी कोई मुहावरा नहीं है; वह एक प्रकार की मानसिक अवस्था की शारीरिक प्रतिक्रिया मात्र है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ क्रियाएँ एक अवस्था में तो अपना साधारण अर्थ रखती हैं; और दूसरी अवस्था में (किसी शब्द के साथ होने पर और विशेष-अर्थ रखने के कारण) मुहावरे के अन्तर्गत हो जाती हैं। जब हम कहते हैं—'गरम तवा छूने से हाथ जल जायगा' तब 'जल जाना' साधारण संयुक्त क्रिया के रूप में रहता है। पर जब हम कहते हैं—'वह हमें देखते ही जल जाता है' तब 'जल जाना' मुहावरा हो जाता है। 'हाथ-पैर फूलना' जब शारीरिक रोग का सूचक हो, तब मुहावरा नहीं होता; पर जब वह किसी के भयभीत होकर बिलकुल शिथिल हो जाने का सूचक हो, तब वह अवश्य मुहावरा होता है। साधारणतः यदि हम कहें—'उसके गले में दर्द है' तो इसमें 'दर्द' का साधारण अर्थ 'पीड़ा' ही होगा; और इसमें मुहावरे का कोई तत्व न होगा। पर यदि कोई गवैया बहुत ही मधुर और मर्मस्पर्शी रूप में गाता हो, और हम कहें—वाह! इसके गले में दर्द है।' तो 'गले में दर्द होना' मुहावरा हो जायगा। बछिया के ताऊ' 'बिना पेंदी का लोटा', 'खिचड़ी दाढ़ी' और 'नीबू-निचोड़' सरीखे पद मुहावरे नहीं हैं; ये तो यौगिक पद हैं जो कुछ विशिष्ट तथ्यों के सूचक मात्र हैं।

जैसा कि पहले बतला चुके हैं, मुहावरों के संबंध में ध्यान रखने योग्य एक बड़ा तत्त्व यह है कि वे खास शब्दों में ही बँधे हुए होते हैं; उनके

मुहावरों के बँधे हुए रूप: अनुवाद करना ठीक नहीं

शब्दों में कभी कुछ उलट-पलट करने की गुंजाइश नहीं रहती। यदि हम कहें—'आपके दोनों हाथ लड्डू है।' तो इसका विशेष अर्थ होगा—आपका हर तरह से लाभ है। पर यदि हम कहें—'आपके दोनों हाथों में लड्डू है।' तो इसका केवल सामान्य अर्थ होगा, कोई विशेष अर्थ न होगा। कुछ अवस्थाओं में लिंग या वचन आदि के कारण भी उनके बँधे हुए रूप में कोई परिवर्त्तन या विकार नहीं होता। 'फूलकर कुप्पा होना' एक प्रसिद्ध मुहावरा है। हम यह तो कह सकते हैं 'वह (पुरुष) फूलकर कुप्पा हो गया।' पर यह नहीं कह सकते—'वह (स्त्री) फूलकर कुप्पी हो गई।' या 'वे लोग फूलकर कुप्पे हो गये।' इसी प्रकार हम यह भी नहीं कह सकते—'मारे प्रसन्नता के फूलकर पीपा (या गुब्बारा) हो गये।' उक्त सभी अवस्थाओं में मुहावरे का रूप 'फूलकर कुप्पा' ज्यों का त्यों रहेगा। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि एक भाषा के मुहावरे का दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। अँगरेजी का एक मुहावरा है—To have feet of clay। यदि इसका अविकल अनुवाद 'उनके पैर मिट्टी के हैं।' करके रख दिया जाय तो हिन्दी पाठकों की समझ में कुछ भी न आवेगा। ऐसे अवसर पर हमें कहना पड़ेगा—'वे बिलकुल निकम्मे हैं।' या यदि हम मुहावरा ही रखना चाहें तो हमें कहना पड़ेगा—'वे पूरे मिट्टी के माधव हैं।' उर्दू का मुहावरा है—'नजर लगना' (जैसे-बच्चे को नजर लग गई) और हिन्दी का एक मुहावरा है—'आँख लगना' (जैसे-बच्चे की आँख लग गई है)। 'नजर' और 'आँख' एक सीमा तक समानार्थी हैं। पर दोनों के मुहावरों के अलग-अलग अर्थ हैं। इसी लिए हम 'नजर लगना' की जगह 'आँख लगना' या 'आँख लगना' की जगह 'नजर लगना' का प्रयोग नहीं कर सकते। जहाँ हम 'बल लगाना' कहते हैं, वहाँ 'जोर लगाना' तो कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ क्रिया अपने साधारण रूप में आती है। पर जहाँ 'जोर देना' कहते हैं वहाँ 'बल देना' नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ मुहावरेवाला तत्त्व आ जाता है। उर्दू का एक मुहावरा है —'किसी का काम तमाम करना' जिसका अर्थ है—किसी को मार डालना। पर हमने कुछ स्थानों में

जगह 'काम पूरा करना' का भी प्रयोग देखा है जिसका वह अर्थ नहीं होता जो 'काम तमाम करना' का है। जून, सन् १९४४ में गाँधी जी और सरकार का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ था, उसका सारांश देते हुए एक समाचार-पत्र ने लिखा था—'आपने आग से खेला।' इस वाक्य में व्याकरण सम्बन्धी जो दोष (आपने खेला) है, वह तो है ही; दूसरा दोष यह है कि इसमें का 'आग से खेला' अँगरेज़ी मुहावरे To play with fire का अविकल अनुवाद है। इसी लिए हिन्दीवाले इस प्रयोग का जल्दी अर्थ ही नहीं समझ सकते। यदि इस वाक्य में 'आग से खेलवाड़ किया' भी होता, तो भी कुछ अर्थ निकल सकता था। यदि अनुवाद करते समय कोई मुहावरा सामने आ जाय तो होना यह चाहिए कि अपनी भाषा में उससे मिलता-जुलता कोई मुहावरा ढूँढ़ा जाय; और यदि वह न मिले तो उसका भाव ऐसे ढंग से प्रकट किया जाय जो अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल और अपने समाज के समझने के योग्य हो। ऐसे अवसरों पर हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कभी कभी दो भाषाओं के दो अलग अलग मुहावरों की शाब्दिक समानता बहुत ही भ्रामक होती है; और उनके दो अलग अलग बल्कि परस्पर-विरोधी अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे अँगरेजी के to show teeth मुहावरे का अर्थ है—अपना उग्र रूप दिखलाना। पर इससे शाब्दिक सामानता रखनेवाले हिन्दी मुहावरे—'दाँत दिखाना' का अर्थ है—कायरता या दुर्बलता प्रकट करना। जैसे—एक ही घुड़की में दाँत दिखा दिये। 'वह अपनी सब नाव जलाकर हम लोगों के साथ हो लिया।' इसी लिए भद्दा और दुरूह है कि वह अँगरेजी मुहावरे To burn boats का अनुवाद है। 'निस्सन्देह यह लीग के पाकिस्तानी कफन की दूसरी कील है।' में nail in the conffin का अनुवाद यों ही भद्दा है; तिसपर 'कफन की कील' तो और भी भद्दा है; क्योंकि कीलें कफन में नहीं जड़ी जातीं, ताबूत में जड़ी जाती हैं। कफन तो सीया, लपेटा या बाँधा जाता है। अँगरेजी में जिसे 'काफिन' कहते हैं, उसका हिन्दी पर्याय कफन नहीं, ताबूत है। एक स्थान पर देखा था—'सरकार उस विषय पर महीनों तक सोती रही।' 'सोते रहना' हमारे यहाँ का मुहावरा अवश्य है; पर 'किसी विषय पर सोते रहना' अँगरेजी मुहावरे का अविकल अनुवाद ही है। यही बात

कांग्रेस अपना झूठ दूसरों के मुँह में रखती है।" हिन्दुओं की कीमत पर मुसलमानों ने बहुत कुछ पा लिया।' 'देश में शान्ति की रक्षा हर मूल्य पर की जायगी।' 'भारत में अकाल के मूल्य पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद खेल खेल रहा है।' 'यदि इसका निर्णय पाकिस्तान के पक्ष में न हुआ तो यह सदा झगड़े की हड्डी बना रहेगा।' 'उनके इस पागलपन के पीछे एक पद्धति है।' सरीखे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार के प्रयोग इसी लिए भद्दे और त्याज्य हैं कि ये हमारे मुहावरे और बोल-चाल या समझ के क्षेत्र के बाहर के हैं।

एक पुस्तक में एक ऐसे सज्जन का लेख पढ़ने को मिला था, जिन्होंने अँगरेजी ढंग के भद्दे मुहावरों का कारखाना-सा खोल रक्खा है। उन्होंने लिखा था—'कभी भूले और ढीले क्षण में भी उनके मुँह से कोई खोटी बात नहीं निकलती थी।' जब 'भूले और ढीले क्षण' हो सकते हैं, तब तो 'याद और चुस्त क्षण' भी हो सकेंगे! अँगरेजी मुहावरों के अनुकरण पर गढ़े हुए भद्दे वाक्यों के और नमूने हैं—'उन्होंने लड़के को इतनी तो रस्सी दी है।' 'वह कमरे के बाहर तैर गई।' और वह कमरे में अकेला रहकर अँधेरा पड़ गया।' इस प्रकार का एक बहुत ही विलक्षण और प्रायः निरर्थक-सा वाक्य एक समाचार-पत्र में इस रूप में मिला था—लीगवाले अब यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि जूता गलत पैर में पड़ गया है और वह जूता लीग के लिए ही अनर्थकारी सिद्ध होगा। इधर कुछ दिनों से समाचार-पत्रों में कृत्रिम दुःख-प्रकाशन के लिए 'घड़ियाल के आँसू' और 'नक्राश्रु' सरीखे प्रयोग देखने में आते हैं, जो अँगरेजी के crocodile tears के अनुकरण पर बने हैं। यही बात 'मधुराच्छादित वटिका' के सम्बन्ध में भी है। जो लोग अँगरेजी मुहावरे न जानते हों, वे इन वाक्यों का कुछ भी आशय नहीं समझ सकते। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक भाषा के मुहावरे का आशय, दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर बिलकुल उलट जाता है। जैसे—अँगरेजी के to show teeth का आशय है—उग्र रूप धारण करना; पर हिन्दी में 'दाँत दिखाना' का आशय होता है—दीनता या कायरता प्रकट करना।

सारी बात यह है कि हम लोगों को न तो अपने घर की पूँजी का ज्ञान होता है, न अपनी भाषा की प्रकृति का। दूसरों के पास कुछ देखते ही हमारी

मुहावरों और कहावतों में अन्तर

इस संबंध में प्रायः एक और विलक्षण बात देखने में आती है। वह यह कि बहुत से लोग मुहावरों और कहावतों में कोई अन्तर नहीं समझते। और जो लोग यह अन्तर समझते भी हैं, वे भी प्रायः दोनों को एक में मिला देते हैं। बहुत दिन हुए, पटने से हिन्दी मुहावरों की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें मुहावरों के साथ बहुत सी कहावतें भी मिली हुई थीं। यही बात पं० ब्रजमोहन दत्तात्रय 'कैफी' की उर्दू पुस्तक 'कैफियः' में भी देखने में आई। कई कोशों में भी हमने प्रायः ऐसा ही देखा है। मुहावरों का प्रयोग तो वाक्यों के अंतर्गत उनका सौन्दर्य बढ़ाने और उनमें उपयुक्त प्रवाह लाने के लिए होता है, और कहावतों का प्रयोग बिलकुल स्वतंत्र रूप से और किसी विषय को केवल स्पष्ट करने के लिए। मुहावरा यदि वाक्य में से निकाल दिया जाय तो उसकी बहुत कुछ शोभा जाती रहती है। पर कहावतें निकाल देने पर प्रायः ऐसा नहीं होता। यहाँ हम कुछ प्रसिद्ध कहावतें देते हैं, जिन्हें देखकर सहज में यह समझा जा सकता है कि मुहावरों से उनमें क्या अंतर है —

१. गधा पीटने से घोड़ा नहीं बनता।
२. खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।
३. आम के आम, गुठलियों के दाम।
४. आम खाने से काम है, पेड़ गिनने से नहीं।
५. दूध का दूध, पानी का पानी।
६. सौ सुनार की, एक लुहार की।
७. सिर मुँड़ाते ही ओले पड़े।
८. धोबी का कुत्ता, घर का न घाट का।
९. मन चंगा तो कठौती में गंगा।
१०. एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा।
११. सत्तर चूहे खाके बिल्ली हज्ज को चली।
१२. उड़ता सत्तू पितरों के नाम।
१३. आ बैल, सींग मार।

१४. अजगर के दाता राम ।

१५. तू नाच पड़ोसिन मेरे । मैं आँगन नाँचूँ तेरे ॥

१६ न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी । आदि ।

कभी-कभी कहावतों, कहानियों या तथ्यों से कुछ ऐसे पद भी बन जाते हैं जो संज्ञा या विशेषण के समान काम देते हैं । जैसे —'ऊट-पटाँग' है तो विशेषण, पर वास्तव में यह 'ऊँट पर टाँग' कहावत से बना है जो अब प्रचलित नहीं है । पर दोनों का आशय एक ही है । 'टेढ़ी खीर', 'बगला भगत', 'गड़बड़ चौथ', 'तेली का बैल', 'भेड़िया-धँसान', 'बरसाती मेंढ़क' आदि इसी प्रकार के पद हैं ।

कभी-कभी कुछ कहावतें अर्थ या भाव की दृष्टि से परस्पर विरुद्ध भी पड़ती हैं । जैसे—'ओस चाटने से प्यास नहीं जाती ।' और 'डूबते को तिनके का सहारा बहुत है ।' इन दोनों के आशय एक दूसरे के बहुत कुछ विपरीत हैं । बहुत कुछ यही बात 'ऊँट के मुँह में जीरा' और 'तिल की ओट पहाड़' अथवा 'साँप भी अपने बिल में सीधा होकर जाता है' और 'कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं होती' के सम्बन्ध में भी है । पर ऐसे अवसरों पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कहावतें सदा अलग-अलग प्रसंगों के लिए और अलग अलग तथ्यों के आधार पर बनती हैं; अतः उनके इस विरोध-तत्त्व पर ध्यान नहीं देना चाहिए ।

[९]

विभक्तियाँ और अव्यय

'ने'—'को'—'को' या 'का' ?—'को लेकर'—'का' और 'के' 'का' या 'के' ?—'का' या 'पर' ?—'के अन्दर' और 'के बीच'—'के ऊपर' और 'पर'—'सहित' और 'के साथ'—'द्वारा' या 'मारफत'—'से'—'में'—'केवल', 'मात्र', 'भर' और 'ही'—'भी'—'सा'—'कर'—'एकत्र'—'अपेक्षा'।

बहुत से लोग साधारण विभक्तियों और कुछ विशिष्ट अव्ययों के प्रयोग में भी बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। इस प्रकार की भूलें इतनी अधिक होती हैं कि इनके लिए स्वतंत्र प्रकरण ही रखना आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रकरण में इसी प्रकार की कुछ विशिष्ट भूलों का दिग्दर्शन कराया जाता है, जो देखने में बहुत छोटी होने पर भी लेखकों का बहुत बड़ा अज्ञान प्रकट करती हैं।

"ने"

नियम यह है कि 'ने' का प्रयोग केवल सकर्मक क्रियाओं के सामान्य सन्दिग्ध, पूर्ण और आसन्न भूत कालों में होता है, वर्त्तमान या भविष्यत् कालों अथवा उनके विधि-निषेध आदि रूपों में नहीं होता। सकर्मक क्रियाओं में भी भूलना, लाना और बोलना के साथ कर्त्ता में 'ने' नहीं लगता। इनके सिवा संयुक्त क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ नियम हैं उन्हें किसी व्याकरण में देखे जा सकते हैं। 'मैंने उसे पुस्तक दी' तो ठीक है, पर 'मैंने वहाँ आऊँगा', 'पर उसने बोला' अथवा 'उन्होंने बातें करते हैं' सरीखे वाक्य अशुद्ध होते हैं। फिर भी प्रायः लोग लिखते हैं-'मैंने हँस दिया।' 'उन्होंने मुस्करा दिया।' 'मैंने उन स्त्रियों के साथ नाचा।' आदि। और कुछ लोग इस प्रकार के वाक्य भी लिख जाते हैं—'मैं कुछ का कुछ लिख दिया हूँ।' 'मैं उन्हें नहीं पहचाना हूँ।' 'मैं इधर कागज लाया और उधर छुपाया।' आदि। यदि ऊपर बतलाये हुए नियम का ध्यान रक्खा जाय तो ऐसी भूलें न हों।

कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें 'ने' का प्रयोग होता भी है और नहीं भी होता। जैसे—'मैंने समझा' और 'मैं समझा'। दोनों में कुछ आर्थिक अन्तर तो है ही; पर दोनों का समान रूप से व्यवहार होता है। हो सकता है कि 'मैं समझा' का प्रयोग उर्दू से हिन्दी में आया हो। सुनते हैं कि किसी व्याकरण में 'समझना' क्रिया के अतिरिक्त तीन और ऐसी क्रियाएँ भी दी गई हैं जिनके साथ 'ने' का प्रयोग करना या न करना ऐच्छिक बतलाया गया है। पर बहुत ढूँढ़ने पर भी वह व्याकरण अभी तक लेखक के देखने में नहीं आया।

"को"

हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों और अव्ययों में जितना दुरुपयोग 'को' का होता है, उतना कदाचित् ही किसी और विभक्ति-चिह्न या अव्यय का होता हो। 'को' के प्रयोग में लोग बहुत ही मुक्त-हस्त और उदार देखे जाते हैं 'को' बिलकुल अनावश्यक तो नहीं है—बहुत-से स्थलों पर इसकी विशेष रूप से आवश्यकता होती है—पर अधिकतर लेखक बिना कुछ सोचे 'को' का अन्धाधुन्ध प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। यहाँ हम इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें बतलाने से पहले कुछ ऐसे उदाहरण दे देना चाहते हैं, जिनमें 'को' बिलकुल व्यर्थ आया है।

१. क्या एम० ए० तक उन्होंने इसी भाषा को पढ़ाया है ?
२. सैनिक जब अपने अफसर को देखता है, तब बन्दूक को समर्पण करता है।
३. यह कविता कई एक भावों को प्रकट करती है।
४. इसका आनन्द पाठक उसके विवरण को पढ़कर ले सकते हैं।
५. इँगलैण्ड की जनता क्राम्वेल के नाम को घृणा के साथ (!) लेती थी।
६. हैजे के रोगी को इसी वस्तु को जल में घोलकर पिलावें।
७. फल को खूब पका हुआ होना चाहिए।
८. इस ग्रन्थ को कई हकीमों ने बनाया था।
९. उन्होंने इस सटीक ग्रन्थ के अनुवाद को लिखा।
१०. वे कवियों पर लगे हुए कलंक को धो डालें।

११. उसने ऊपर को देखकर कहा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी उदाहरणों में 'को' फालतू ही नहीं है, बल्कि उससे वाक्यों में बहुत कुछ भद्दापन भी आ गया है। इन सभी वाक्यों में से यदि 'को' निकाल दिया जाय तो ये बहुत कुछ हल्के और सुन्दर हो जायँ। यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो इस तरह के कुछ ऐसे वाक्य भी मिलेंगे जिनसे नये पाठक और विशेषतः अन्य भाषा-भाषी बहुत-कुछ भ्रम में पड़ सकते हों। जैसे—'हम प्राचीन साहित्य को समझावें।' मानों प्राचीन साहित्य कोई जानदार चीज है और हमारी बात नहीं समझता; हम चाहते हैं कि उसे समझा-बुझाकर ठिकाने लावें।

यह तो हुआ 'को' के अनावश्यक प्रयोग का प्रकार। इसके सिवा कई प्रकार से उसका अशुद्ध प्रयोग भी होता है। कभी-कभी कुछ लोग 'पर,' 'का,' 'से,' 'के लिए' और 'के हाथ' के स्थान पर भी भूल से 'को' का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—

१. वह इस व्याकरण की असलियत हिन्दी जगत् को (पर) प्रकट कर दे।
२. वह प्रत्येक प्रश्न को (का) वैज्ञानिक ढंग पर विश्लेषण करने का पक्षपाती था।
३. इनको (से) इन्कारकर वह स्वराज्य लेगा!
४. उनको (की) समझौते की इच्छा नहीं थी।
५. कवि 'प्रसाद' का अध्ययन करनेवालों को (के लिए) यह उत्तम सहायक ग्रन्थ है।
६. सरकारी एजेण्टों को (के हाथ) तुम अपना माल मत बेचो।
७. स्त्री को 'स्त्री' संज्ञा देखकर पुरुष को (का) छुटकारा नहीं है।
८. मैं ऐसा पंडित नहीं हूँ जो आपको (से) अधिकारपूर्वक कुछ कह सकूँ।
९. पर जनता को (के लिए) उनका उपयोग कुछ भी नहीं।
१०. मैं अध्यक्ष को (से) अपने निर्णय पर फिर से विचार करने का निवेदन करता हूँ।
११. जावा के आन्दोलन का जोरदार समर्थन।
१२. श्री सप्रू ने उन लोगों को (के सामने) गत्यवरोध दूर करने के

सुझाव पेश किये।

१३. लीग को (के लिए) ४० और जमेयत को (के लिए) ६० प्रतिशत वोट पड़े।

कुछ अवसरों पर 'को' का निरर्थक प्रयोग लेखकों का एक और प्रकार का अज्ञान प्रकट करता है और उनसे लिंग-सम्बन्धी भूलें कराता है। जैसे—

१. उन्होंने भवन की कार्रवाई को देखी।

२. एक अटैची में विस्फोटक पदार्थ भरकर उसको फुहरर के नीचे रख दी।

३. पोथी को जहाँ से ली थी, वहीं रख दो।

४. इस पुस्तक को मैंने यों ही रहने दी।

५. मैंने इसको तैयार कर दी।

जरा सा ध्यान रखने से ही भाषा इस प्रकार के भद्देपन और अशुद्धि से बच सकती है।

एक और क्षेत्र है जिसमें 'को' का निरर्थक प्रयोग बचाया जा सकता है। उसको, हमको और तुमको की जगह उसे, हमें और तुम्हें लिखकर वाक्य पर से 'को' का बोझ कम किया जा सकता है।

फिर भी कुछ स्थानों पर 'को' का प्रयोग आवश्यक होता है। हम सदा यही कहेंगे—'वह अपने भाग्य को कोस रहा था।' यह नहीं कहेंगे—'वह अपना भाग्य कोस रहा था।' इसी प्रकार—'भगवान् रामचन्द्र को समुद्र पर पुल बाँधना पड़ा था।' 'महाराज के स्वर्गवास पर राज्य उनके छोटे भाई को मिला था।' 'सरकार को विवश होकर वह कानून बनाना पड़ा था।' 'पिता को अपने सब पुत्रों पर समान रूप से प्रेम रखना चाहिए।' आदि ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें बिना 'को' का प्रयोग किये काम नहीं चल सकता; और इसी लिए ये वाक्य भद्दे भी नहीं मालूम होते। यदि आप यह जानना चाहते हों कि कहाँ 'को' का प्रयोग होना चाहिए और कहाँ नहीं होना चाहिए, तो आप अपना वाक्य दोनों रूपों में बनाकर देखें। यदि आपका काम बिना 'को' के चल जाय, (पर वाक्य अशुद्ध न हो) तो आप समझ लीजिए कि इसमें 'को' निरर्थक है। और तब यदि आप ऐसे वाक्य में 'को' का प्रयोग करेंगे, तो वह अवश्य भद्दा होगा।

कुछ स्थलों में 'को' के प्रयोग के संबंध में ठीक सिद्धान्त स्थिर करने में कुछ बातें बाधक भी होती हैं। उदाहरणार्थ, हम यह तो कह सकते हैं—'वह अपनी स्त्री को (या अपने भाई को या अपने पिता को) अपने साथ लाये हैं।' ऐसे वाक्यों में कुछ भी भद्दापन न होगा। पर यदि हम कहें—'वह अपनी गाड़ी को साथ लाये हैं।' या 'अपनी पुस्तक को साथ लाये हैं।' तो अवश्य भद्दा जान पड़ेगा। हम यह तो कहते ही हैं—'वह पुस्तक जो आपने भेजी थी'। पर 'वह आदमी जो आपने भेजा था' कहने से 'वह आदमी जिसे आपने भेजा था' कहना अधिक अच्छा और शुद्ध जान पड़ता है। इस उदाहरण में 'जिसे' भी 'जिसको' का ही दूसरा रूप है। पहले उदाहरण के 'जो' में तो इसलिए कुछ भी खटक नहीं है कि वह ठीक स्थान पर आया है। पर दूसरे उदाहरण में 'जो' की अपेक्षा 'जिसे' क्यों आवश्यक और अच्छा जान पड़ता है? और 'वह पुस्तक जिसे आपने भेजा था।' में का 'जिसे' क्यों खटकता है? हो सकता है कि इसके मूल में वही बे-जान या जड़ चीजोंवाला तत्त्व हो, जिसके कारण कुछ भाषाओं के व्याकरणों में नपुंसक लिंग भी रहता है। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। 'केस' अँगरेजी में मुकदमे को भी कहते हैं और रोगी को भी। एक पुस्तक में एक वाक्य पढ़ा था—'मुझे एक केस को लेकर लाहौर जाना है।' यह उक्ति एक वकील की थी; और इसमें केस से मुकदमे का अभिप्राय था। इसलिए इस वाक्य में 'को' खटकता और फालतू जान पड़ता था। अधिक विचार करने पर ऐसा जान पड़ा कि यदि उक्ति किसी डाक्टर की होती और इसमें 'केस' से रोगी का अभिप्राय होता तो वाक्य में खटक न होती और 'को' फालतू न जान पड़ता। इससे सिद्ध होता है कि सजीव व्यक्ति या प्राणी के साथ तो 'को' नहीं खटकता, पर निर्जीव या जड़ पदार्थों के साथ प्रायः खटकता है[1]। फिर भी सन्देह के कुछ स्थल रह ही जाते हैं। जैसे—'मैं

---

१. उर्दू का एक शेर है—

तिरछी नजरों से न देखो आशिके दिलगीर को।
कैसे तीरन्दाज हो! सीधा तो कर लो तीर को॥

इसमें पहले मिसरे के अन्त का 'को' तो इसलिए आवश्यक और अनिवार्य है कि

अपने नौकर को आपके पास भेज दूँगा।' और 'मैं अपना नौकर आपके पास भेज दूँगा।' अधिक सूक्ष्म विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि उक्त दोनों वाक्यों में कुछ अन्तर है। पहले वाक्य में किसी निर्दिष्ट नौकर की ओर संकेत हो सकता है; और दूसरा वाक्य इस बात का सूचक हो सकता है कि मैं अपने कई नौकरों में से कोई एक नौकर आपके पास भेज दूँगा। एक और उदाहरण से यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। मालती-माधव नाटक में मालती की सखी लवंगिका जब देखती है कि माधव की चिन्ता में मालती सूखती जा रही है, तब उससे कहती है—"तुम उन (माधव) का चित्र बनाओ। मैं वह चित्र किसी प्रकार उनके पास पहुँचा दूँगी। तब वे चित्रकार को ढूँढ़ेंगे।' इसमें जो 'को' आया है, वह चित्र के विशिष्ट चित्रकार मालती) की ओर संकेत करता है। यदि वाक्य में से 'को' निकाल दिया जाय और उसका रूप रहे —'वे चित्रकार ढूँढ़ेंगे।' तो किसी विशिष्ट चित्रकार की ओर संकेत न होगा, बल्कि वाक्य का यह आशय हो जायगा कि वे (चित्रकारों के वर्ग या समाज में से) कोई चित्रकार ढूँढ़ेंगे। 'को' के इस प्रकार के बहुत-से ऐसे प्रयोग हैं, जिनपर हिन्दी व्याकरण के विद्वानों को पूरा-पूरा विचार करना चाहिए। ये सूक्ष्मताएँ ऐसी हैं जिनपर सब लोग और विशेषतः विद्यार्थी विचार नहीं कर सकते। उनके लिए तो वही कसौटी यथेष्ट है जिसका निर्देश ऊपर हुआ है; और उसी से उनका बहुत कुछ काम चल सकता है।

बोल-चाल में, कुछ अवसरों पर, 'को' का कुछ विलक्षण अर्थों में भी प्रयोग होता है। जैसे—आज को आप किताब उठा ले गये; कल को कुछ और उठा ले जायँगे। पर ऐसे प्रयोगों की गणना बोल-चाल या मुहावरे के अन्तर्गत होनी चाहिए। इसके सिवा यह भी कहा जाता है—अब तो यह बात साल भर को गई। यहाँ 'को' का अर्थ 'के लिए' है। पर ऐसे प्रयोगों का क्षेत्र बहुत परिमित है। सब जगह इस अर्थों में इसका प्रयोग करना ठीक नहीं है।

वह आशिक (सजीव) के साथ आया है; पर दूसरे मिसरे के अन्त का 'को' केवल तुक मिलाने के लिए है और तीर (निर्जीव) के साथ आने के कारण अनावश्यक और निवार्य है--उसके न रहने से कोई हर्ज नहीं हो सकता।

'को' या 'का'

कुछ स्थल ऐसे होते हैं जिनमें लोग भूल से 'को' की जगह 'का' रख देते हैं। उदाहरणार्थ—'उसने लड़के का, गला घोंटकर, मार डाला।' साधारणतः इसमें का 'मार डाला' पद कुछ स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। मार डाला—किसे ? होना चाहिए—'उसने उस लड़के को, गला घोंटकर, मार डाला।' अथवा 'उसने उस लड़के का गला घोंटकर उसे मार डाला।' इनमें से पहला वाक्य ही, हलका होने के कारण, अच्छा है। ऐसे अवसरों पर विभक्ति का प्रयोग बहुत समझ-बूझकर करना चाहिए।

'को लेकर'

पहले एक अवसर पर 'प्रश्न' शब्द के भद्दे प्रयोग के प्रसंग में हम बतला चुके हैं कि आज-कल लोग किस प्रकार बिना समझे-बूझे 'को लेकर' का प्रयोग करते हैं। 'को लेकर' का यह रोग दिन-पर दिन बढ़ता जाता है; और कुछ लोग बहुत ही भद्दी तरह से इसका व्यवहार करते हैं। जैसे—

१. वह सन्तान को लेकर (के कारण) दुखी थे।

२. वह खेल लेकर (में) व्यस्त था।

३. तुम मेरे जाने को लेकर (से) क्यों उदास हो ?

४. वह सितार को लेकर (पर) मानों उत्कृष्ट है।

५. इस विषय को लेकर (पर) दोनों राष्ट्रों में बहुत मत-भेद है।

ऊपर के सभी उदाहरणों में 'को लेकर' का बहुत ही भद्दा, निरर्थक और कुछ स्थलों में भ्रामक प्रयोग हुआ है। एक समाचार-पत्र में छपा था—एक पुलिस अफसर को लेकर सात आदमी घायल हुए।' आशय यह था कि सात आदमी घायल हुए जिनमें एक पुलिस अफसर भी था। पर आज-कल साधारणतः जिस अर्थ में 'को लेकर' का प्रयोग होने लगा है, उसके अनुसार इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि एक पुलिस अफसर के सम्बन्ध में कोई झगड़ा हुआ, जिसमें सात आदमी घायल हुए। हमारे यहाँ यह 'को लेकर' बहुत-कुछ बँगला की कृपा से और कुछ-कुछ मराठी की कृपा से आया है। पर है यह सर्वथा त्याज्य। लेखकों को इससे बचना चाहिए।

'का' और 'के'

जिस प्रकार लोग 'को' का व्यर्थ और अनावश्यक प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी 'का' (या 'के') का भी प्रयोग करते हैं। बोल-चाल में तो लोग कह ही जाते हैं—'यह लड़का महा का पाजी है।' पर समाचार-पत्रों में भी लोग लिख जाते हैं—'वहाँ घमासान की लड़ाई हो रही है।' कुछ लोग 'से' की जगह 'का' लिखते हैं। जैसे—'सभ्यता का दाढ़ी का क्या सम्बन्ध है?' और 'वह आँखों के ओझल हो गया।' इनमें से पहले वाक्य में किसी एक 'का' की जगह और दूसरे वाक्य में 'के' की जगह 'से' होना चाहिए। इसी प्रकार कुछ लोग अँगरेजी के प्रभाव के कारण लिखते हैं—'बनारस का शहर'। कुछ लोग 'के' का भी उसी प्रकार निरर्थक प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार 'को' का जैसे—

१. इस बात के कहने में किसी को संकोच न होगा।
२. वह चेकों के लेने में लगा रहा।
३. इस जयन्ती के मनाने में दस हजार रुपये लगे।
४. कवियों को काव्य के करते समय जो आनन्द मिलता है ...।
५. पाठकों को उपन्यास के पढ़ने में आसानी होती है।
६. भाव के प्रकट करने का ढंग बतलाया जायगा।
७. बड़ी-बड़ी विपत्तियों के आने पर हम दृढ़ रहें।
८. वह वहाँ से सब चीजें निकालकर के ले गया।
९. उनसे जाकर के सब हाल कह देना। आदि

कभी-कभी लोग 'को'की जगह भी भूल से 'के' का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—'उनकी चाची के लड़की हुई है।' 'उनके चाचा के (घर या यहाँ) लड़की हुई है।' तो ठीक है; पर "चाची के लड़की हुई है' उतना ठीक नहीं है। होना चाहिए—'चाची को लड़की हुई है' जिसका अर्थ होगा—चाची के गर्भ से लड़की का प्रसव हुआ है। कुछ लोग दूसरी विभक्तियों की जगह भी 'का' का अशुद्ध प्रयोग कर जाते है। जैसे—इससे हमारे काम को (में) हानि होती है।

कुछ अवसरों पर 'का' के परम अशुद्ध और भ्रामक प्रयोग भी

देखने में आते हैं। जैसे—'श्रीमती सत्यवती देवी के प्रतिबन्ध हटे।' वस्तुतः प्रतिबन्ध हटे तो सत्यवती देवी पर से, परन्तु वाक्य का अर्थ यह होता अथवा हो सकता है कि श्रीमती सत्यवती देवी ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे, वे हटे। अतः उक्त वाक्य में 'का' अशुद्ध और भ्रामक है।

कभी-कभी लोग भूल से 'का' या 'के' छोड़ भी देते हैं, जिससे वाक्य या तो भद्दा हो जाता है या भ्रामक। उदाहरणार्थ, 'कांग्रेस शस्त्र-बल नहीं, परिस्थिति के आगे झुकी।' में 'शस्त्र-बल' के बाद 'के' न होने से वाक्य में भद्दापन और भ्रामकता आ गई है। इस प्रकार के उदाहरणों से इस सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है कि विभक्तियाँ मूलतः शब्दों के अंग के रूप में थीं; और इसी लिए अब भी उन्हें शब्दों के साथ रखना चाहिए, उनसे अलग या दूर नहीं।

ऊपर जो बातें 'को' के सम्बन्ध में कही गई हैं, प्रायः वही बातें इस तरह के 'का' और 'के' के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिएँ। फालतू 'का' या 'के' का प्रयोग भी उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार 'को' का। और आवश्यक स्थानों पर 'का' भी उसी प्रकार अवश्य आना चाहिए, जिस प्रकार 'को'।

'का' या 'के'?

कुछ स्थल ऐसे होते हैं, जिनमें यह निर्णय करना कठिन होता है कि 'का' रक्खा जाय या 'के'। उदाहहरणार्थ, लोग प्रायः उपद्रवी बच्चों से कहते हैं—'गिर पड़ोगे तो सिर एक के दो हो जायँगे।' आज-कल व्यापारियों के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है—'उनके यहाँ एक का चार हो रहा है।' वस्तुतः भाषा की दृष्टि से उक्त दोनों वाक्य अशुद्ध हैं। क्रमात् होना चाहिए—'सिर एक का दो हो जायगा।' और 'एक के चार हो रहे हैं।' कारण यह है कि सिर तो एक ही है और एक ही रहेगा; हाँ टूटकर दो टुकड़े हो सकता है। पर रुपया या धन चौगुना होता है। जहाँ एक रुपया होता है, वहाँ चार रुपये हो जाते हैं। यह विषय अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक और उदाहरण देते हैं। टेबुल पर रक्खा हुआ गिलास अगर गिरकर टूट जाय और उसके चार टुकड़े हो जायँ तो हम कहेंगे—'गिलास गिरते ही

एक का चार हो गया।' पर यदि कोई जादूगर एक गिलास सन्दूक में बन्द करके उसकी जगह चार गिलास निकालकर दिखला दे तो हम कहेंगे —'गिलास एक के चार हो गये।'

एक और प्रसंग लीजिए। 'तुम हमारे गले का हार बन जाओ' ठीक है या 'तुम हमारे गले के हार बन जाओ'? हमारी सम्मति में पहला वाक्य ठीक है; क्योंकि केवल आदरार्थक प्रयोगों में ही 'का' की जगह 'के' होता है, और उक्त वाक्य में हार के लिए किसी प्रकार का आदर दिखलाना अभीष्ट नहीं है। पर यदि हम 'हार' का विचार छोड़कर 'तुम' का विचार करें, तो? उस दशा में कदाचित् 'के' ही ठीक जान पड़ेगा। पर है यह विषय विचारणीय। इस प्रकार के और भी प्रसंग हो सकते हैं जिनमें यह निर्णय करना कठिन है कि 'का' रक्खा जाय या 'के'। फिर भी आशा है, उक्त उदाहरणों से ऐसे अवसरों पर ठीक निर्णय करने में विशेष सहायता मिलेगी।

'का' या 'पर'

कभी-कभी लोग असावधानता के कारण 'का' और 'पर' का भेद न समझने के कारण एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—'आपने अनेक ग्रंथ लिखकर हिन्दी पर उपकार किया है।' साधारणतः यहाँ 'पर' की जगह 'का' होना चाहिए। 'किसी का उपकार करना' और 'किसी पर उपकार करना' में बहुत अन्तर है। पहले पद का अर्थ साधारण रूप से किसी की भलाई करना है; और दूसरा पद एहसान या निहोरे के भाव का सूचक है। जैसे, यदि कोई जन्म भर लिखता तो रहे अँगरेजी या उर्दू में और कभी भूले-भटके एकाध लेख या पुस्तिका हिन्दी में भी लिख डाले तो कहेंगे—'चलिए, आपने हिन्दी पर बहुत उपकार किया।' पर यदि कोई सारा जीवन हिन्दी की सेवा में बितावे और उसमें बहुत-से ग्रन्थ लिखे तो कहेंगे—'आपने अपनी रचनाओं से हिन्दी का बहुत उपकार किया है।'

'के अन्दर' और 'के बीच'

'को' की तरह 'के अन्दर' का भी हिन्दी में प्रायः बिलकुल निरर्थक और भद्दा प्रयोग होता है। जैसे—'हम इस बेड़े के अन्दर खड़े होकर देखते हैं।', 'वे बन्धनों के अन्दर रहकर दबे हैं।', 'इस विनाशी नीति को जनता

के अन्दर लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न होता है।', 'धर्म-शास्त्रों के अन्दर बहुत-से तत्त्व भरे पड़े हैं।', 'औषधों के अन्दर बहुत-से गुण होते हैं।', 'हमारी आत्मा के अन्दर बहुत बड़ा बल है।', 'सीधी-सादी जनता के अन्दर यह भावना है।', 'अज्ञात रहस्य के अन्दर प्रवेश।', 'हमें बहुत-से संकटों के भीतर बड़े-बड़े काम करने पड़े हैं।', 'यह प्रदेश सीमा-कमीशन के निर्णय के अनुसार आसाम के अन्दर शामिल किया गया था।' आदि। हिन्दी में यह प्रयोग पंजाबियों के द्वारा आया है। परन्तु अब इसका प्रचार इतना बढ़ गया है कि संयुक्त-प्रान्त के पत्रों में भी शीर्षक निकलते हैं—'आगा खाँ के महल के अन्दर बात-चीत।' 'रावलपिंडी जिले के अन्दर बाढ़।' 'भारत-रक्षा नियमावली के अन्दर गिरफ्तारी।' इन सभी वाक्यों में 'के अन्दर' (या भीतर) की जगह सीधे-सादे 'में' से काम चल सकता है और उसी का प्रयोग होना चाहिए। कुछ अवसरों पर यह 'के अन्दर' भ्रामक भी हो सकता है। जैसे—'उन्होंने विजय का मार्ग तलवार के अन्दर से होकर बनाया था।' का तो यह अर्थ होता या हो सकता है कि उन्होंने तलवार के अन्दर कोई सुरंग खोदी थी! एक जगह पढ़ा था—'तालाब के अन्दर छोटा-सा शिवालय था।' लेखक का आशय तो केवल यह था कि तालाब में अर्थात् उसके मध्य भाग में एक शिवालय था, जिसे किनारे से सब लोग देख सकते थे। परन्तु इसका यह आशय भी हो सकता है कि तालाब सूख जाने पर, यों ही अथवा कुछ खुदाई आदि होने पर, पता चला कि उसके अन्दर एक पुराना शिवालय भी था। यदि हमारा संकेत इस अन्तिम स्थिति की ओर हो तो 'के अन्दर' का प्रयोग शुद्ध ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है। पर यह कहना बिलकुल भद्दा है—'हमारी किताब के अन्दर बहुत-सी जानने योग्य बातें हैं।'

'के अन्दर' की ही तरह कुछ लोग 'के बीच' का भी भद्दा और फालतू प्रयोग करते हैं। जैसे—'इन वर्षों के बीच यहाँ बहुत-से परिवर्तन हुए हैं।' 'उन दोनों के बीच बहुत मित्रता है।' 'हम लोगों के बीच झगड़ा हो गया।' आदि। कभी-कभी यह 'के बीच' भी बहुत भ्रामक होता है। जब गाजियाबाद और हापड़ में कुछ साम्प्रदायिक दंगे हुए थे, तो एक पत्र में निकला था—'गाज़ियाबाद और हापड़ के बीच जो दंगे हुए हैं......।' पर

इसका यह अर्थ हो जाता है कि स्वयं गाजियाबाद और हापड़ में नहीं, बल्कि दोनों के बीचवाले क्षेत्र में दंगे हुए थे। 'के बीच' के भद्दे प्रयोगों के कुछ और उदाहरण हैं—

१. यदि वे अपना वेष न बदलें तो हिन्दुओं के बीच कैसे मिलेंगे ?

२. कुछ लोग हिन्दी वाक्यों के बीच अँगरेजी शब्द ला रखते हैं।

३. हम लोगों के बीच कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ चल पड़ी हैं...।

४. विस्तृत वार्त्ता के बीच मैंने उन्हें सब बतला दिया।

५. वे चीनियों और अमेरिकनों के बीच लोक-प्रिय थे।

६. वह घर में माँ-बाप के लाड़ के बीच रहती है।

७. उन्होंने श्रीमती शिन्दे को जय हिन्द के नारों के बीच आने दिया।

८. चतुर कार्य-कर्त्ताओं के बीच उनकी एक भी न चलने पाई। आदि।

ऐसे प्रयोग भी दूषित और त्याज्य हैं। ऐसे अवसरों पर केवल 'में' से बहुत अच्छी तरह काम चल सकता है।

'के ऊपर' और 'पर'

बहुत-से लोग समझते हैं कि 'के ऊपर' और 'पर' में कोई अन्तर नहीं है; और इसी लिए जहाँ 'पर' की आवश्यकता होती है, वहाँ 'के ऊपर' का प्रयोग कर जाते हैं। पर दोनों में बहुत अन्तर है। 'उसकी पीठ पर कोड़े लगे।' तो ठीक है, पर 'उसकी पीठ के ऊपर कोड़े लगे।' ठीक नहीं है। 'उसकी पीठ पर फोड़ा हुआ है।' और 'उसकी पीठ के ऊपर फोड़ा हुआ है।' से यह अन्तर बहुत स्पष्ट हो जाता है। कुछ इसी प्रकार का अन्तर 'उसके पेट पर फोड़ा हुआ है।' और 'उसके पेट में फोड़ा हुआ है।' में भी है। 'के ऊपर' का अर्थ होता है—ऊपरी तल या भाग में। पहले वाक्य का अर्थ है—पेट के ऊपरी भाग पर, और दूसरे वाक्य का अर्थ है—पेट के भीतरी भाग में फोड़ा हुआ है। यहाँ हम कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें 'के ऊपर' का अशुद्ध और भद्दा प्रयोग हुआ है और जिनमें 'पर' रखना ही ठीक होगा।

१. यह प्रश्न हमारे ऊपर नहीं, बल्कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर निर्भर है।

२. वह अपने गुरु के ऊपर भक्ति रखते थे।

३. इस पुस्तक में शिव के ऊपर भक्ति करने का उपदेश है।

४. इसका उत्तरदायित्व हम सब लोगों के ऊपर है।
५. उनके ऊपर यह अभियोग लगाया गया है।
६. सब लोगों ने मिलकर अर्थ-बिल के ऊपर सरकार को हराया था।
७. तुम पैंतिस-चालिस रुपये के ऊपर अलग घर लेकर रहो।
८. उन्होंने उसके ऊपर दावा दायर कर दिया।
९. उनके सौ रुपये आपके ऊपर बाकी हैं। आदि।

इसी प्रकार 'पर' का भी प्रायः बे-मौके और भद्दा प्रयोग होता है। यथा—

१. मैं यह पत्र निश्चय से अधिक लंबा हो जाने पर (के लिए या के कारण) क्षमा-प्रार्थी हूँ।
२. गाँवों पर (में) सर्पों का प्रकोप।
३. उनपर (का) इसके अलावा और क्या दोष है ?
४ गली बहुत गन्दी थी और उसपर (में) कूड़े का ढेर लगा था।
५. मुझपर (मेरे लिए) कोई लाचारी नहीं है।
६. यद्यपि प्रधानता भावों पर (की) है.........।
७. उसकी अजेयता पर (से) वह सुखी है।
८. उसपर एक कुमारी पर (के साथ) बलात्कार करने का अभियोग था।
९. भारत के प्रश्न पर (में) रूस की दिलचस्पी।
१०. वह तुरन्त स्टेशन पर (को या की ओर) भागा।
११. तुर्की की जर्मनी और जापान पर (के प्रति) युद्ध-घोषणा।
१२. रेडियो-नीति पर (के सम्बन्ध में) कांग्रेस-दल की तटस्थता।
१३. उन लोगों पर (के साथ) कड़ी कार्रवाई की जायगी।
१४. ब्रिटेन में कोयले पर (के विषय में) अनुसन्धान।

'सहित' और 'के साथ'

'सहित' और 'के साथ' का भी हिन्दी में बिना समझे-बूझे और केवल अँगरेजी के प्रभाव के कारण भ्रामक प्रयोग होता है। जैसे—'आपका पत्र धन्यवाद सहित मिला', 'आपकी पुस्तक धन्यवाद सहित लौटाता हूँ' 'मनुष्य सुरक्षा सहित अपने घर में रह सकें' आदि। कोई चीज धन्यवाद सहित पाने या लौटाने का सीधा-सादा अर्थ तो यही होता है कि उसके साथ

'धन्यवाद' भी मिला या लौटाया जा रहा है। ऐसे अवसरों पर 'सहित' की जगह 'पूर्वक' का प्रयोग ठीक होगा। यही बात 'के साथ' के सम्बन्ध में भी है। 'एक कान्स्टेबल गहरे घावों के साथ अस्पताल भेजा गया।' का तो यही अर्थ होगा कि कान्स्टेबल अस्पताल भेजा गया और उसके साथ गहरे घाव भी भेज दिये गये। होना चाहिए—गहरे घाव लगने पर एक कान्स्टेबल अस्पताल भेजा गया। 'वे लगन के साथ देश की सेवा कर रहे हैं।' 'मैं नम्रता के साथ आप से क्षमा चाहता हूँ।' आदि वाक्यों में 'के साथ' का प्रयोग दूषित और त्याज्य है। इन सभी वाक्यों में या तो सीधा-सादा 'से' या 'पूर्वक' होना चाहिए। इसका सबसे भद्दा और भ्रामक उदाहरण एक कहानी में इस रूप में मिला था—'मैं एक दिन शान्ति के साथ सोया हुआ था।' लेखक का अभिप्राय तो यह था कि मैं शान्तिपूर्वक सोया था; पर संयोग से उस कहानी में 'शान्ति' नाम की एक पात्री भी पहले आ चुकी थी, जिससे पाठकों का ध्यान उसकी ओर भी जा सकता था; और वे कुछ दूसरा ही अर्थ लगा सकते थे।

'द्वारा' या 'मारफत'

'द्वारा' के प्रयोग में भी बहुत-से लोग कई प्रकार की भूलें करते हैं। जैसे—मैंने यह बात उनके द्वारा सुनी थी। होना चाहिए—मैंने यह बात उनसे सुनी। 'से' और 'द्वारा' के प्रयोग में बहुत अन्तर है। 'किसी के द्वारा कोई बात सुनना' का अर्थ भी उसी प्रकार का होगा, जिस प्रकार का 'किसी के द्वारा कोई बात कहलाना' का होता है। हम कहते हैं—(क) हमने यह बात उनसे कही थी। और (ख) हमने यह बात उनके द्वारा कहलाई थी। यहाँ 'से' और 'द्वारा' का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। प्रायः 'द्वारा' के प्रयोग में अंगरेजी की छाया के कारण भूलें होती हैं। नीचे के वाक्यों में 'द्वारा' या 'मारफत' का प्रयोग इस प्रकार की छाया से कलुषित होने के अतिरिक्त अशुद्ध और भ्रामक भी है; अतः ऐसे प्रयोग सर्वथैव त्याज्य हैं।

१. अपराधियों द्वारा जुर्म करने में विज्ञान का उपयोग किया जाता है।

२. अधिकारियों के द्वारा देश में बहुत आतंक फैल रहा था।

३. वह जुरमाने द्वारा दंडित हुआ।

४. जनरल बेक द्वारा आत्म-हत्या।

५. वैद्यों द्वारा शोक-सभा।

६. महिला सैनिक द्वारा विदेश-यात्रा।

७. हम पर यह विपत्ति आँखों के द्वारा आई है।

८. झरिया में ६०० छुरे रेल पारसल द्वारा बरामद हुए हैं।

९. यह कार्रवाई संघ के सदस्यों द्वारा की गई थी।

१०. लकीरों और अंकों की मारफत दुनियाँ को समझो।

११. संसार भर उन्हें और उनकी मारफत उनके देश की सरकार को लज्जित करता है।

'से'

प्रायः लोग असावधानता के कारण 'से' के प्रयोग में भी कई प्रकार की भूलें करते हैं। वे ऐसे अवसरों पर 'से' का प्रयोग कर जाते हैं, जहाँ किसी और विभक्ति की आवश्यकता होती है। जैसे—

१. वह और काम से लगेगा। ('में' चाहिए)

२. आपकी राय से यह काम जरूरी है। ('में' चाहिए)

३. वह इस कीमत से नहीं मिल सकता। ('पर' चाहिए)

४. फिर कुछ देर से उसने कहा। ('बाद' चाहिए)

इसके विपरीत कभी-कभी लोग उपयुक्त स्थान पर 'से' का प्रयोग न करके कोई और विभक्ति ला रखते हैं। जैसे— उनकी योग्यता हर काम में प्रकट होती है।' यहाँ 'में' की जगह से' होना चाहिए। इस प्रकार की भूलें सर्वनामों के प्रसंग में और भी अधिक देखी जाती हैं। जैसे—'वह मुझे आपके बारे में कहा करते थे।' और 'तुम मुझे प्रेम करना न छोड़ो।' इन उदाहरणों में 'मुझे' की जगह 'मुझसे' होना चाहिए। कुछ अवसरों पर 'से' का फालतू या अनावश्यक प्रयोग भी देखने में आता है। जैसे—'जबरदस्ती से सरकार हमसे जो चाहे, वह करा ले।' और 'इसी बहाने से हम भी वहाँ पहुँच गये।' और कभी-कभी व्यर्थ ही उसकी द्विरुक्ति भी होती है। जैसे—नारा लगाने से और बातें बनाने से देश-सेवा नहीं होती। इन दोनों उदाहरणों में पहलेवाले 'से' व्यर्थ हैं।

कुछ अवस्थाओं में 'से' का भ्रामक प्रयोग भी देखने में आता है। जैसे—'देखने से पहले जान पड़ता है कि यह कचनार ही है।' इसमें का 'देखने से पहले' बहुत ही भ्रामक है। होना चाहिए—'पहले देखने पर..।' यही बात 'उसने उसे बाँह से पकड़ लिया।' के सम्बन्ध में भी है। इसका अर्थ तो यही होगा कि उसने हाथ से नहीं बल्कि बाँह से पकड़ा। लेखक का वास्तविक आशय यह है कि उसने उसकी बाँह पकड़ ली। पर वाक्य से यह बात नहीं बल्कि कुछ और ही बात प्रकट होती है।

'में'

बहुत ही साधारण विभक्ति 'में' के भी प्रायः अशुद्ध और भद्दे प्रयोग देखने में आते हैं। जैसे—'उसकी दृष्टि चित्र में गड़ी थी।' और 'वह किताब में आँख गाड़े पढ़ रही है।' मानो चित्र या किताब कोई जमीन हो और उसमें दृष्टि या आँख निधि की तरह गड़ी हो। दृष्टि या आँख किसी वस्तु 'पर' गड़ती है, किसी वस्तु 'में' नहीं। यही बात 'कन्या की हत्या में आजन्म कैद', 'नाजायज शराब में गिरफ्तारी', 'जंगलों के क्षेत्र में विस्तार', 'हमारी भाषा में अँगरेजी का प्रभाव', 'इनकी माँग में सब लोगों की सहानुभूति है', 'पेरिस रेडियो में यह समाचार बताया गया है' और 'आस्ट्रेलिया में बाहुल्य में पाये जानेवाले शुतुरमुर्ग' के सम्बन्ध में भी है। 'सड़क में भारी भीड़ लगी थी।', 'उस स्थान में पहले से कई आदमी मौजूद थे।' 'इन्होंने गुरु के चरणों में सिर रख दिया।' सरीखे वाक्यों में 'में' की जगह 'पर' होना चाहिए। 'उनमें ऐसी आदत नहीं डालनी चाहिए' में 'उनमें' की जगह 'उन्हें' होगा। 'सारा काम उनके हाथ में सपुर्द कर दिया' की जगह होना चाहिए—'सारा काम उन्हें सपुर्द कर दिया।' 'निज में' और 'परस्पर में' सरीखे प्रयोग पहले तो कलकत्ते की तरफ के हिन्दी-भाषियों की बोल-चाल में ही सुनने में आते थे; पर अब कुछ लोग साहित्य में भी इस प्रकार के प्रयोग करने लगे हैं जो ठीक नहीं है। इसके विपरीत जहाँ 'में' की आवश्यकता होती है, वहाँ कुछ लोग उसे छोड़कर उसके स्थान पर और-और शब्द रख देते हैं। जैसे—'वह अपने साथ कुछ गड़बड़ी नहीं देखता था' में 'साथ' की जगह 'में' होना चाहिए। कुछ अवस्थाओं में यदि 'में' का

प्रयोग न भी किया जाय, तो कोई हर्ज नहीं होता; बल्कि वाक्य कुछ हलका हो जाता है; जैसे--'वह मन-ही-मन में सोच रहा था।' और 'उन दिनों में वह सनातनी थे' में 'में' व्यर्थ है।

'केवल', 'मात्र', 'भर' और 'ही'

'केवल', 'मात्र' और 'भर' बहुत-कुछ समानार्थक शब्द हैं; और 'ही' भी प्रायः वही भाव सूचित करता है, जो 'केवल' अथवा 'मात्र' से सूचित होता है। जैसे, हम कह सकते हैं—'हम आज केवल दूध पीकर रहेंगे।' या 'हम आज दूध मात्र पीकर रहेंगे।' या 'हम आज दूध ही पीकर रहेंगे।' परन्तु बहुत-से लोग यह बात न समझकर इन तीनों शब्दों में से कोई दो शब्द साथ-ही-साथ ला रखते हैं। जैसे--'शब्द केवल संकेत मात्र होते हैं।' 'केवल कहने मात्र से कुछ नहीं होता।' 'ये बातें केवल दिखावा भर थीं।' 'यह केवल उत्तरी ध्रुव में ही दिखाई देता है।' 'यह सब तो केवल आप पर ही निर्भर है।' आदि। 'केवल', 'मात्र' और 'ही' का प्रयोग किसी व्यक्ति या बात पर जोर देने के लिए होता है। इनके प्रयोग का आशय यह होता है कि हम इसी लिए उस व्यक्ति या बात पर जोर दे रहे हैं कि उस व्यक्ति या बात के अतिरिक्त और किसी से हमारा अभिप्राय नहीं है। अगर लोग समझते हों कि इस तरह के दोहरे प्रयोगों से वाक्य में दोहरा जोर आ जायगा, तो यह उनकी भूल है। कुछ अवसरों पर 'मात्र' भी वही भाव सूचित करता है जो 'समस्त' से सूचित होता है। इसलिए यह भी कहना ठीक नहीं है—'समस्त प्रजा मात्र से सहायता ली जायगी।' यहाँ या तो केवल 'समस्त' होना चाहिए या केवल 'मात्र'। 'ही' का प्रयोग भी जोर देने के लिए ही होता है। कुछ लोग 'अवश्य' और 'स्वयं' (या स्वतः) सरीखे शब्दों के साथ भी 'ही' जोड़कर मानों उनपर उसी तरह का दोहरा जोर पहुँचाना चाहते हैं, जिस तरह 'केवल' और 'मात्र' के साथ 'ही' लगाकर। जैसे—'हम स्वयं ही उनसे मिलेंगे।' और 'हम तो अवश्य ही वहाँ जायँगे।' परन्तु ये प्रयोग भी वैसे ही दूषित हैं। 'स्वयं' और 'अवश्य' से काफी जोर पहुँचता है, अतः इनके साथ 'ही' जोड़ना व्यर्थ है। जिस प्रकार 'अवश्य' के बाद 'ही' नहीं आना चाहिए, उसी प्रकार 'अवश्यमेव' और 'अवश्यम्भावी'

के बाद भी नहीं होना चाहिए। 'परम' और 'अत्यन्त' सरीखे शब्दों के बाद भी 'ही' का प्रयोग अशुद्ध और वर्जित है।

'केवल' और 'मात्र' 'भर' या 'ही' के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि 'केवल' तो सदा उस शब्द के पहले आता है, जिसपर जोर देना होता है; पर 'मात्र' 'भर' या 'ही' उस शब्द के बाद आता है। जैसे—यदि हम कहें—'आप केवल अपने गुणों के कारण इस पद पर पहुँचे हैं' तो 'अपने गुणों' पर जोर रहेगा। पर यदि हम कहें—'आप अपने गुणों के कारण ही इस पद पर पहुँचे हैं' तो जोर 'अपने गुणों' पर से हटकर 'कारण' पर आ जायगा। चाहे साधारणतः यह अन्तर बहुत बड़ा न जान पड़ता हो, तो भी कुछ अवसरों पर, ऐसे प्रयोगों में, अर्थ या भाव का बहुत कुछ अन्तर हो सकता है। अतः ऐसे अवसरों पर इन शब्दों का प्रयोग करते समय बहुत सचेत रहना चाहिए।

कुछ लोग ऐसे अवसरों पर भी 'ही' का प्रयोग करते हैं, जिनमें यह अनावश्यक ही नहीं होता, बल्कि भाषा में भद्दापन भी लाता है। जैसे—वे सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही उत्पन्न हुए थे। बिलकुल साधारण कथन की अवस्था में इस वाक्य में का 'ही' निरर्थक है। हाँ, यदि विवाद का कोई प्रसंग हो और यह सिद्ध करना हो कि 'वे सोलहवीं शताब्दी के मध्य या अन्त में नहीं हुए थे', तो बात दूसरी है। इसी प्रकार 'वे कोई आवश्यकता ही नहीं समझते।' में भी 'ही' इसलिए निरर्थक है कि वाक्य में 'कोई' से 'आवश्यकता' पर काफी जोर पहुँच जाता है। इस सम्बन्ध में एक मोटा सिद्धान्त यह याद रखना चाहिए कि जहाँ 'कोई' किसी संज्ञा के पहले अर्थात् विशेषण के रूप में आवे, वहाँ उसके बाद 'ही' नहीं रहना चाहिए। 'कोई बात ही नहीं हुई।' या 'वहाँ कोई आदमी ही नहीं था' में 'ही' निरर्थक है। पर यदि 'कोई' का व्यवहार सर्वनाम के रूप में हो तो उसके साथ आनेवाली संज्ञाओं या क्रियाओं पर जोर देने के लिए उनके बाद 'ही' का प्रयोग हो सकता है। जैसे—'कोई दो ही चार आदमी वहाँ रह गए होंगे।' इस वाक्य में जो 'ही' है, वह 'दो-चार' पर जोर देने के लिए आया है; और इसलिए ठीक है। 'कोई गया ही नहीं'

में भी 'कोई' के बाद 'ही' का प्रयोग इसलिए ठीक है कि उससे 'गया' पर जोर पड़ता है, 'कोई' पर नहीं। 'वह कुरवक तो नहीं ही है।' में 'ही' व्यर्थ है, क्योंकि 'नहीं' में 'ही' का अन्तर्भाव है ही। 'वह किसी प्रकार के परिवर्त्तन की अपेक्षा ही नहीं रखता।' में 'ही' इसलिए निरर्थक है कि वाक्य में पहले 'किसी' आ चुका है, जिसमें 'ही' पहले से लगा है। 'इन दोनों में केवल यही अन्तर है।' 'सिर्फ वही लोग वहाँ जा सकेंगे।' 'केवल इसी लिए मैं वहाँ नहीं गया।' सरीखे प्रयोग भी इसलिए अशुद्ध हैं कि इनमें 'यही', 'वही' और 'इसी' में 'ही' का अन्तर्भाव है; और इसी लिए इनके साथ 'केवल', 'मात्र', 'भर' या 'ही' आदि का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इनमें से पहले वाक्य में या तो 'केवल यह या 'यही' होगा; दूसरे में 'सिर्फ वे लोग या 'वही लोग' होगा, और तीसरे में या तो 'सिर्फ इसलिए' होगा या 'इसी लिए' इसी प्रकार 'केवल तभी यह काम होगा।' कहना भी ठीक नहीं है। या तो 'केवल तब' होगा, या खाली 'तभी'। 'दोनों', 'तीनों' आदि के साथ भी 'ही' निरर्थक होता है। 'दोनों (या तीनों) आदमी जायँगे।' कहना ही यथेष्ट है। 'दोनों (या तीनों) ही' कहना अशुद्ध भी है और भद्दा भी।

जोर देने के अतिरिक्त कहीं-कहीं 'ही' हीनता या उपेक्षा का भी सूचक होता है; और कहीं-कहीं वह जोर कम करने के लिए भी लाया जाता है। जैसे—'चार ही रुपये न!' 'अब वह मिल ही जाय तो क्या हो जायगा!' और 'हाँ, यह भी अच्छा ही है।' वास्तव में इन उदाहरणों में भी 'चार', 'मिलने' और 'अच्छा' पर जोर तो अवश्य दिया गया है, पर प्रसंग के अनुसार 'ही' इनमें हीनता और उपेक्षा का सूचक हो गया है।

कहीं-कहीं 'ही' के साथ 'पर' भी विवक्षित होता है। जैसे—'यह काम तो होता ही है, इसके साथ एक और काम हो जाता है।' इसमें दूसरे वाक्यांश के पहले 'पर' की भी आवश्यकता है। यद्यपि अधिकतर लेखक ऐसे अवसरों पर 'पर' का प्रयोग नहीं करते, परन्तु भाषा का प्रवाह ठीक रखने के लिए 'पर' लगाना ही ज्यादा अच्छा है।

कुछ अवस्थाओं में 'ही' के साथ, बादवाले वाक्यांश में 'बल्कि' या 'वरन्' रखना भी आवश्यक होता है। एक समाचार-पत्र में छपा था—

'विद्यार्थियों के सामने रोटी की समस्या ही नहीं है। उनके सामने यह समस्या भी है...।' यह वाक्य दो कारणों से भ्रामक है। एक तो बीच में भूल से पूर्ण विराम आ जाने के कारण एक के दो वाक्य बन गये हैं। दूसरे, दोनों वाक्यांशों के बीच में 'बल्कि' या 'वरन्' नहीं है। पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि विद्यार्थियों के सामने रोटी की समस्या है ही नहीं—रोटी उन्हें भर-पेट मिल रही है। पर वास्तव में यह बात नहीं है। लेखक का वास्तविक आशय यह है कि विद्यार्थियों के सामने रोटी की भी समस्या है और कुछ दूसरी समस्याएँ भी। पर वाक्य की रचना से यह आशय ठीक तरह से प्रकट नहीं होता।

'भी'

'का', 'को' और 'ही' की तरह 'भी' की भी बहुत दुर्दशा देखने में आती है। अनेक अवसरों पर इसका अनावश्यक रूप से और व्यर्थ प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—किसी भी, कोई भी, कहाँ भी, अभी भी, कभी भी, कहीं भी, किन्हीं भी, जो भी, जितना भी आदि। खाली 'किसी', 'कोई', 'कहीं' आदि से ही पूरा अर्थ निकलता है; और उनके साथ 'भी' लगने से वाक्य भद्दा हो जाता है। 'किसी भी आदमी को भेज दो' या 'वह कहीं भी नहीं गया था' आदि लिखने और बोलने की अपेक्षा 'किसी आदमी को भेज दो' या वह कहीं नहीं गया था' आदि लिखना ही शुद्ध और प्रशस्त है। इसी प्रकार 'जितना भी', 'कितना भी' आदि की जगह 'चाहे जितना', 'कितना ही' आदि का प्रयोग ठीक है। 'मैं कैसा भी तो नहीं हो रहा हूँ।' का तो कुछ अर्थ ही नहीं होता। वाक्य में 'भी' का बे-ठिकाने प्रयोग भी बहुत खटकता है। जैसे—'वे भी लोग हैं, जिन्होंने यह योजना तैयार की है।' 'प्रस्ताव की व्याख्या के सिवा भी बातों का उत्तर दिया गया।' और 'उसकी और-और भी चीजों को सँभाल कर ठिकाने रख दिया।' साधारणतः क्रमात् होना चाहिए—'वे लोग भी हैं...।' 'प्रस्ताव की व्याख्या के सिवा और बातों का भी...।' और 'उसकी और-और चीजें भी सँभालकर रख दीं।'

'भी' का निरर्थक प्रयोग भी आज-कल बहुत बढ़ रहा है। जैसे—

१. मैं यह इरागज भी नहीं समझ सकता ।

२. इस प्रकार की इच्छा जब भी मैंने उन पर प्रकट की...।

३. आज उसके कानों में उसकी आवाज बिलकुल भी न पड़ी ।

४. वह बिलकुल भी बात करना नहीं चाहती थी ।

५. इसमें तीव्र मध्यम बिलकुल भी न लगना चाहिए ।

६. चाहे जैसे भी हो, तुम वहाँ जाओ ।

इन सब वाक्यों में 'भी' बिलकुल अनावश्यक है। कुछ लोग 'जब कभी' की जगह 'जब भी' और 'जिस तरह' की जगह 'जैसे भी' या 'कैसे भी' का प्रयोग करते हैं, जिससे वाक्य बहुत भद्दा हो जाता है । जैसे—'वह बात जब भी मैंने उनसे कही ।' 'चाहे कैसे भी (या जैसे भी) यह काम हो जाना चाहिए ।' आदि । 'भी' के इस प्रकार के प्रयोग भी त्याज्य हैं। हर जगह 'भी' लगाने की यह प्रवृत्ति बहुत बुरी है । अन्यान्य अनावश्यक शब्दों की तरह 'भी' से भी, जहाँ तक हो सके, बचना चाहिए । और जिन अवसरों पर उसका प्रयोग आवश्यक हो, वहाँ बहुत समझ-बूझकर और ठीक स्थान पर होना चाहिए। 'आप', (निज-वाचक) 'स्वयं' या 'खुद' के साथ भी 'भी' प्रायः निरर्थक होता है। 'मैं आप (या स्वयं) वहाँ जाऊँगा ।' कहना ही यथेष्ट है। 'मैं आप भी (या स्वयं भी)...।' कहना मानो 'आप' (या स्वयं) पर दोहरा और वस्तुतः व्यर्थ का जोर देना है ।

बोल-चाल में 'भी' का एक विलक्षण प्रयोग किसी बात के प्रति कुछ उपेक्षा और किसी व्यक्ति या कार्य्य के प्रति आग्रह सूचित करने के लिए भी होता है । जैसे—'चलो, जाने भी दो ।' 'तुम कुछ देर बैठो भी तो ।' आदि ।

'सा'

'सा' (अव्यय) प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो 'सादृश्य' के अर्थ में और दूसरे 'मान' या 'परिमाण' के अर्थ में । इन दोनों अर्थों में यह या तो कुछ आपेक्षिक हीनता का या किसी प्रकार के निश्चायक भाव का सूचक होता है । जैसे—'एक छोटा सा मकान बनवा लो ।' और 'इनमें से तुम कौन-सा लोगे ?' कभी-कभी लोग इसका अनावश्यक या गलत प्रयोग कर जाते हैं । जैसे—'मुझे तुम अपना छोटा-सा भाई समझो ।' इसमें 'सा' का

१४

अशुद्ध प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'बहुत-से दिन बीत गये।' में भी 'से' का प्रयोग व्यर्थ है।

सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'बहुत' और 'बहुत-सा' में अथवा 'कौन' और 'कौन-सा' में बहुत अन्तर है; और 'सा' का प्रयोग यह अन्तर समझकर ही करना चाहिए। 'उन्होंने बहुत धन कमाया था।' और 'उन्होंने बहुत-सा धन कमाया था।' में से अन्तिम वाक्य एक प्रकार की आपेक्षिक हीनता, न्यूनता या उपेक्षा का सूचक है। पहला वाक्य धन की जितनी प्रचुरता का सूचक है, दूसरा वाक्य उतनी प्रचुरता का सूचक नहीं है; वह अपेक्षाकृत कम प्रचुरता सूचित करता है। 'मेरे पास बहुत पुस्तकें हैं।' और 'मैं तुम्हें बहुत-सी पुस्तकें दूँगा।' में भी यही बात है। वस्तुतः 'बहुत सा' उस मान से कुछ कम का सूचक होता हैं, जिस मान का सूचक 'बहुत' होता है। 'मुझे इस काम के लिए कौन महीना (वेतन) मिलता है !' और मुझे इस काम के लिए कौन-सा महीना (मास) मिलता है ?' (दोनों वाक्यों के अन्त में आये हुए अलग अलग विराम-चिह्नों पर भी ध्यान दीजिए) में से पहले वाक्य में 'कौन' वस्तुतः 'कौन कहे कि कुछ' का अर्थ रखता है; पर दूसरे वाक्य में 'कौन-सा' में 'सा' इसलिए आया है कि वह निश्चित रूप से उस महीने या मास की जिज्ञासा का सूचक है, जो वक्ता को 'इस काम के लिए' मिलने को है। यही बात 'यहाँ कौन कमी है !' और 'यहाँ कौन-सी कमी है ?' के सम्बन्ध में भी है। 'वह एक छोटा राज्य था।' से सूचित होता है कि 'वह' राज्य तो था, पर छोटा था। पर 'वह एक छोटा-सा राज्य था।' का अर्थ होगा—वह एक छोटे राज्य के समान था (वस्तुतः छोटा राज्य नहीं था)। इस विवेचन का ध्यान रखते हुए 'अब मैं वहाँ कौन मुँह लेकर जाऊँ ! कहना ही ठीक है। 'अब मैं वहाँ कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ !' कहना इसलिए ठीक नहीं है कि इसका आशय यह हो जायगा कि मेरे पास (या मेरे लिए) कई मुँह हैं या रक्खे हुए हैं; और मैं यह जानना चाहता हूँ कि उन मुँहों में से कौन सा मुँह लेकर मैं वहाँ जाऊँ। यहाँ 'सा' बहुतों में से किसी एक के निश्चायक भाव का सूचक है। 'सा' लगने के कारण कुछ अवस्थाओं में संज्ञाओं का प्रयोग एक-वचन में और कुछ अवस्थाओं में बहु-

वचन में होता है। जैसे--'वे अपने साथ बहुत-सा सोना लाये हैं।' और 'वे अपने साथ बहुत-सी पुस्तकें लाये हैं।' 'सोना' ऐसी चीज नहीं है, जिसकी गिनती हो सके; पर 'पुस्तकें' गिनी जा सकती हैं। यही बात—'मैं तुम्हें बहुत-सा मसाला दूँगा।' और 'मैं तुम्हें बहुत-सी बातें बतलाऊँगा।' के सम्बन्ध में भी है। पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्तिम दोनों उदाहरणों में के पहले वाक्य में 'मसाला' शब्द सामग्री के अर्थ में आया है। यदि वह मिर्च-जीरे और लौंग-इलायची के अर्थ में हो तो वह भी 'मसाले' ही होगा, 'मसाला' नहीं; क्योंकि पहले वाक्य में वह बहुत-सी वस्तुओं के समूह का सूचक है; पर दूसरे वाक्य में बहुत-सी वस्तुओं का।

'ऐसा', 'वैसा', 'जैसा' और 'कैसा' के साथ 'सा' नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि उक्त शब्दों में सादृश्य के अर्थ में 'सा' पहले लगा ही है। 'बात कुछ ऐसी-सी जान पड़ती है।' में 'सी' का प्रयोग निरर्थक तो है ही, भद्दा भी है। 'यह कुछ वैसा-सा जान पड़ता है।' की जगह 'यह कुछ वैसा ही जान पड़ता है।' कहना अधिक शुद्ध भी है और सुन्दर भी।

कुछ लोग 'सा' की जगह 'सारा' या 'सारे' का भी प्रयोग करते हैं, जो बिलकुल स्थानिक और कई कारणों से त्याज्य है। 'बहुत सारे ठोस अधिकार' की जगह 'बहुत से ठोस अधिकार' लिखना ही ठीक है।

'कर'

कुछ क्रियाओं के साथ 'कर' के भी विलक्षण और भद्दे प्रयोग देखने में आते हैं। इनमें मुख्य 'होकर', 'लेकर' और 'लगाकर' हैं। प्रायः इस प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं—'वे लेख वैज्ञानिक न होकर प्रबुद्ध अनुभूति के परिणाम हैं।' कुछ लोग इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं—'वह उसे हास्यकर होकर तनिक भी न लगा।' यह सब अँगरेजी की छाया है और त्याज्य है। 'के सम्बन्ध में' या 'के कारण' के अर्थ में प्रायः लोग 'लेकर' का जो भद्दा प्रयोग करते हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ बातें पहले बतलाई जा चुकी हैं; अतः यहाँ उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं। कुछ लोग 'लेकर' की जगह 'लगाकर' लिखते हैं। जैसे—'काश्मीर से लगाकर कन्याकुमारी तक।' ऐसे प्रयोग भी दूषित होते हैं। ऐसे अवसरों

पर 'लेकर' का ही प्रयोग ठीक है। पर कुछ अवस्थाओं में यह 'लेकर' भी फालतू होता है; और केवल 'से' से इनका काम चल जाता है। जैसे—'यहाँ से लेकर वहाँ तक' के बदले 'यहाँ से वहाँ तक' कहना ही अच्छा है।

'एकत्र'

संस्कृत का 'एकत्र' शब्द वस्तुतः अव्यय है, अर्थात् इसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। हिन्दी में इसका व्यवहार विशेषण के समान होता है, पर 'एकत्र' रूप में नहीं, बल्कि 'एकत्रित' रूप में। जिसे देखिए, वह 'एकत्रित' ही लिखता दिखाई देता है। जैसे—'उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें एकत्रित कर ली हैं।' 'इस काम के लिए दस हजार रुपये एकत्रित हुए हैं।' आदि। मानों शुद्ध रूप 'एकत्र' हिन्दी से उठ ही गया हो। कुछ लोगों का कहना है कि 'एकत्रित' भी शुद्ध है। हो सकता है, वह शुद्ध हो; पर संस्कृत के कई कोशों में हमें 'एकत्र' रूप ही मिला है, 'एकत्रित' नहीं मिला[1]। और फिर 'एकत्रित' से 'एकत्र' कहीं हलका और सुगम भी है। अतः 'एकत्र' रूप का प्रयोग ही अधिक प्रशस्त है।

'अपेक्षा'

कभी-कभी 'अपेक्षा' के भी कई प्रकार के अशुद्ध और भ्रमपूर्ण प्रयोग देखने में आते हैं। जैसे—वे अपने रजिस्टर की अपेक्षा दूसरे का लेकर चले गये। यहाँ 'अपेक्षा' की जगह 'के बदले' या 'की जगह' होना चाहिए। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नहीं है—वैज्ञानिक शब्द बनाने की अपेक्षा कुछ नियम होने चाहिएँ। इसमें 'की अपेक्षा' का प्रयोग तो अशुद्ध है ही; क्रियाओं का भी ठीक निर्वाह नहीं हुआ है। वाक्य का शुद्ध रूप होगा—वैज्ञानिक शब्द बनाने की अपेक्षा कुछ नियम बनाना अधिक अच्छा (या उपयोगी) होगा। यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि यद्यपि 'हिन्दी-शब्द-सागर' में इसका एक अर्थ निस्बत, तुलना या मुकाबला भी दिया है और यह कहा गया है कि इसके आगे 'में' लुप्त रहता है, तथापि प्रयोग के विचार से इसकी गणना अव्ययों में ही होनी चाहिए।

---

१. श्री राजशेखर बसु ने भी अपने सुप्रसिद्ध बँगला शब्द-कोश 'चलन्तिका' में एकत्र रूप ही शुद्ध माना है, और 'एकत्रित' को अशुद्ध कहा है।

[१०]

लिंग और वचन

लिंग-निर्णय की समस्या—लिंग सम्बन्धी अशुद्धियों के कारण—प्रान्तीय और स्थानिक विलक्षणताएँ—कुछ विशिष्ट शब्दों में लिंग-भ्रम—लिंग-सम्बन्धी साधारण भूलें—वचन-सम्बन्धी भूलें—बहुवचन-वाचक संस्कृत शब्द—कुछ शब्दों के बहुवचन रूप—विवादास्पद बातें।

लिंग-निर्णय की परीक्षा

एक प्रतिष्ठित और बड़े दैनिक पत्र के एक भूतपूर्व सम्पादक ने एक बार अपने किसी लेख में 'लालच' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया था, जो उसी प्रकार छप भी गया था। जब दूसरे दिन उनके किसी सहायक ने उनसे इस भूल का जिक्र किया, तब उन्होंने छूटते ही उत्तर दिया—'वाह! लालच पुंलिंग कैसे! सब लोग कहते हैं—लालच बुरी बलाय!' यह बात उन्होंने कुछ इस तरह डपटकर कही थी कि बेचारे सहायक को उन्हें यह समझाने का साहस ही न हुआ कि इस कहावत में 'बुरी' शब्द 'बलाय' का विशेषण है, 'लालच' का नहीं। फलतः कुछ दिनों तक उस पत्र में लालच बराबर स्त्रीलिंग में ही लिखा जाता रहा। और भी बहुत-से लोग भूल से 'लालच' स्त्री-लिंग ही लिखते हैं। एक और स्वर्गीय सम्पादक 'झूठ' शब्द स्त्रीलिंग ही मानते और लिखते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने कई बार उनका यह भ्रम दूर करने का प्रयत्न किया; पर वे इतने हठी थे कि किसी तरह मानते ही न थे। अपनी यह टेक उन्होंने अन्त तक निबाही।

वास्तव में हिन्दी में लिंग-निर्णय की समस्या है भी बहुत कठिन। बहुत से अन्य-भाषा-भाषी तो हिन्दी से इसी लिए घबराते हैं कि इसमें लिंगों का विलक्षण पचड़ा है। इसी लिए कई बार यह प्रस्ताव भी हो चुका है कि

क्रियाओं और विशेषणों पर से लिंग का बन्धन हटा दिया जाय। पर, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, इस प्रकार के प्रस्ताव करनेवाले लोग यह नहीं समझते कि भाषा का एक स्वाभाविक या प्रकृति-युक्त स्वरूप हुआ करता है; और उसी स्वरूप या प्रकृति के अनुसार उसका विकास होता है। भाषा को जबरदस्ती नया रूप देने या उसे नये ढंग से गढ़ने का प्रयत्न कभी सफल नहीं होता। भाषा में अनेक प्रकार के सुधार तो हो सकते हैं, परन्तु उसमें किसी प्रकार का तात्त्विक परिवर्तन नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि भाषा अपने स्वाभाविक प्रवाह में चलती-चलती भले ही कोई नया रूप धारण कर ले। पर वह प्रवाह जबरदस्ती और जादू की छड़ी घुमाकर बदला नहीं जा सकता।

हिन्दी की आकर भाषा संस्कृत है। हमारे यहाँ के अधिकतर शब्द और व्याकरण-सम्बन्धी अधिकतर नियम संस्कृत से ही आये हैं; और बहुत-सी बातों में हमें संस्कृत का ही मुखापेक्षी रहना पड़ता है। अनेक अवसरों पर हम संस्कृत से अलग और दूर भी हो जाते हैं। अग्नि, आत्मा, देह, पवन, राशि, शपथ आदि अनेक शब्द संस्कृत में तो पुंलिंग हैं, परन्तु हिन्दी में स्त्रीलिंग माने जाते हैं। 'आत्मा' के सम्बन्ध में एक विलक्षण बात यह है कि उसे स्त्रीलिंग मानने पर भी उसके सब यौगिक पुंलिंग ही रहते हैं। यथा—परमात्मा, धर्मात्मा, पुण्यात्मा, दुष्टात्मा आदि। पर 'अन्तरात्मा' का प्रयोग फिर भी स्त्रीलिंग में ही होता है! एक विद्वान् मित्र का सुझाव है कि 'आत्मा' शब्द पुंलिंग ही रहना चाहिए, क्योंकि वह 'प्रकृति' का नहीं, 'पुरुष' का अंश है। यह युक्ति बहुत ही समीचीन तथा विद्वानों के लिए विचारणीय है। हिन्दी व्याकरण का साधारण नियम यह है कि संस्कृत के नपुंसक लिंगवाले शब्द भी पुंलिंग ही माने जाते हैं। परन्तु संस्कृत के पुस्तक, वस्तु और आयु सरीखे कुछ नपुंसक लिंग शब्द भी हिन्दी में स्त्रीलिंग ही लिखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'तारा' और 'देवता' ऐसे शब्द हैं जो संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हमारे यहाँ पुंलिंग ही माने जाते हैं। सौभाग्य, सौजन्य, स्वास्थ्य और तादात्म्य सरीखी सभी भाव-वाचक संज्ञाएँ हिन्दी में सदा पुंलिंग ही रहती हैं, पर 'सामर्थ्य' अधिकतर लोग स्त्रीलिंग में ही लिखते हैं। (वस्तुतः 'सामर्थ्य'

भी पुंलिंग ही है।) इन सब बातों से यही सूचित होता है कि हिन्दी की प्रकृति अनेक अंशों में संस्कृत की प्रकृति से भिन्न है।

अपनी भाषा की प्रकृति ठीक-ठीक न समझने के कारण, और कुछ अवसरों पर विदेशी प्रभाव के कारण, हम कभी-कभी भारी भूलें कर जाते हैं।

लिंग सम्बन्धी अशुद्धियों के कारण

प्राचीन आर्य अपने देश का नाम पुंलिंग ही रखते थे। आर्यों की जो जरमन शाखा युरोप में बसती है, वह अपने देश को 'मातृभूमि' नहीं बल्कि 'पितृदेश' कहती है। 'मातृभूमि' की कल्पना तो आर्यों से भिन्न लोगों की है। विदेशी प्रभाव के कारण अँगरेज अपने देश को 'मातृभूमि' कहते हैं। हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' है। हमारे यहाँ 'जन्मभूमि' और 'भारत-लक्ष्मी' (संबंध तत्पुरुष समास) आदि की जो कल्पनाएँ हैं, वे 'पितृ-देश' की कल्पना से बिलकुल भिन्न अर्थ और भाववाली हैं। परन्तु अँगरेजों की देखा-देखी हम लोग भी अपना पूर्ण स्वरूप भूलकर अपने देश में स्त्रीत्व का आरोप करने लग गये हैं। सबसे पहले लाहौर में 'भारत माता हाल' की स्थापना हुई थी। तब से 'भारत माता' इतना प्रचलित हो गया कि काशी तक में 'भारत माता का मन्दिर' बन गया! और अब तो भरी सभाओं में लोग निस्संकोच होकर 'भारत माता की जय' कहते हैं। सुनते हैं, दक्षिण भारत में 'भारत देवी' नामक एक समाचार-पत्र भी निकलता है! पर है यह हमारी मूल प्रकृति और धारणा तथा 'भारत' शब्द के लिंग के विरुद्ध ही। अपने देश के नाम का प्रसंग आ गया है, इसलिए हम 'हिन्दुस्तान' शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। यह ठीक है कि फारसी का 'स्तान' संस्कृत के 'स्थान' से ही निकला है; फिर भी उसमें परकीयता की कुछ गन्ध है। जब 'स्थान' हमारे यहाँ प्रायः सभी प्रान्तों में परम प्रचलित है, तब उसे छोड़कर 'स्तान' का आश्रय लेना ठीक नहीं जान पड़ता। वह हमारे स्वदेशाभिमान को ठेस पहुँचानेवाला है; अतः हमें 'हिन्दुस्तान' और 'हिन्दुस्तानी' की जगह 'हिन्दुस्थान' और 'हिन्दुस्थानी' का ही प्रयोग करना चाहिए।

हमारे यहाँ कुछ प्रान्तीय विलक्षणताएँ भी हैं। 'अखबार' वस्तुतः 'खबर' का बहुवचन है, अतः उसका स्त्रीलिंग माना जाना ही सयुक्तिक है।

पंजाब में अखबार, तार, गेहूँ आदि कुछ शब्द स्त्रीलिंग माने और बोले जाते हैं, पर हिन्दी में ये पुंलिंग ही हैं। पूर्वी युक्त प्रान्त तथा बिहार में प्रायः लोग दही, मोती और हाथी के लिए भी स्त्रीलिंग का ही व्यवहार करते हैं; पर हिन्दी में ये शब्द निश्चित रूप से पुलिंग हैं। फारसी का 'बाजू' हिन्दी में पुंलिंग ही माना जाता है। पर मराठी प्रभाव के कारण कुछ लोग लिखते हैं—जमा की बाजू। हम लोग तो संस्कृत के अनुकरण पर 'चर्चा' शब्द स्त्रीलिंग ही मानते हैं, परन्तु उर्दूवाले उसे पुंलिंग रखते हैं। यथा–

प्रान्तीय और स्थानिक विलक्षणताएँ

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम।
वह कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता॥ और
अगर खत-किताबत का चरचा रहेगा।
तो दिल एक परचे से परचा रहेगा॥

हमारे यहाँ का 'धारा' शब्द है तो स्त्री-लिंग, पर उर्दूवाले उसे पुंलिंग मानते हैं। संस्कृत 'कंदुक' से निकला हुआ 'गेंद' शब्द हिन्दी में पुंलिंग ही है। परन्तु ब्रज में वह स्त्रीलिंग माना जाता है। इसके लिए ब्रजवाले सूरदास जी का यह पद प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं—'खेलत गेंद गिरी जमुना में'। एक गीत में भी है—'मारयो टोल गई गेंद दह...।' कारण कदाचित् यही है कि ब्रज-भाषा बहुत ही कोमल और मधुर है और उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः स्त्रीलिंग प्रयोगों की ओर ही अधिक है। खड़ी बोली में जहाँ हम कहते हैं—'मैंने कहा।' वहाँ ब्रज के लोग बोलते हैं—'मैंने कही'। अवश्य यह 'कही' बात के विचार से है, पर इससे ब्रज भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति ही सूचित होती है। हिन्दी व्याकरण का एक साधारण नियम यह है कि आकारान्त शब्दों में अन्तिम 'आ' की जगह 'ी' कर देने से उनका स्त्रीलिंग रूप बन जाता है। जैसे—घोड़ा से घोड़ी। पर कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो साधारणतः देखने में तो युग्म जान पड़ते हैं, पर जिनके अलग अलग रूपों के अलग-अलग अर्थ होते हैं। जैसे भौंरा और भौंरी, ताला और ताली, कोठा और कोठी, अंडा और अंडी, माला और माली आदि। इन युग्मों के स्त्री-लिंग शब्द अपने साथ के पुंलिंग शब्दों के स्त्री-लिंग रूप नहीं

हैं बल्कि उनसे बिलकुल स्वतन्त्र हैं और अलग पदार्थों के सूचक हैं।

इससे भी बढ़कर विलक्षण 'टीका' शब्द है। 'अर्थ की व्याख्या या विवरण' के अर्थ में तो वह स्त्रीलिंग है, पर अन्य कई अर्थों में पुंलिंग है। हम रामायण और भागवत की 'टीकाएँ' पढ़ते हैं, पर माथे पर 'लम्बा टीका' लगाते हैं। विवाह आदि अवसरों पर अपने सम्बन्धियों और मित्रों के यहाँ 'टीका भेजा जाता' है। यद्यपि हिन्दी शब्द सागर में पहले अर्थ में यह शब्द संस्कृत से ज्यों का त्यों लिया हुआ बतलाया गया है, और शेष अर्थों में यह सं० 'तिलक' से निकला हुआ माना गया है, पर हमारी समझ में वह ठीक नहीं है। संस्कृत का 'टीका' शब्द ही हमने ज्यों का त्यों ले लिया है; और एक अर्थ में तो हमने उसका मूल स्त्रीलिंग ही मान लिया है, पर शेष अर्थों में उसे 'तिलक' के अनुकरण पर पुंलिंग रक्खा है। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यही है कि हिन्दी का जो व्यापक और राष्ट्रीय स्वरूप है, उसे उक्त प्रकार के दोषों से दूर ही रखना चाहिए। जो शब्द व्यापक रूप से स्त्रीलिंग अथवा पुंलिंग मान लिये गये हैं, उनमें केवल प्रान्तीयता के आधार पर लिंग-परिवर्त्तन नहीं करना चाहिए। यदि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित और स्थिर लिंग रहेगा तो भाषा में लिंग-सम्बन्धी गड़बड़ी की सम्भावना बहुत कम हो जायगी।

कुछ विशिष्ट शब्दों में लिंग-भ्रम

आज-कल भाषा में लिंग सम्बन्धी बहुत-सी उलझनें और बहुत-से प्रमाद देखने में आते हैं। एक ही पुस्तक या लेख में कुछ शब्द (जैसे गन्ध, सूँड़, हठ, दलदल आदि) कहीं स्त्रीलिंग में और कहीं पुंलिंग में व्यवहृत होते हुए देखे जाते हैं। कभी कभी इससे भी बढ़कर विलक्षणता यह देखने में आती है कि एक शब्द पहले तो पुंलिंग में व्यवहृत होता है, पर आगे चलकर उसी का विभक्ति-युक्त या बहुवचन रूप स्त्रीलिंग रक्खा जाता है। हमने एक अवसर पर देखा था कि एक लेखक ने 'तारा' रूप तो पुंलिंग में ही रक्खा था, पर उसका बहुवचन 'ताराओं' दिया था! ऐसे सज्जनों को जानना चाहिए कि पुंलिंग 'तारा' का विभक्ति-युक्त बहुवचन रूप 'तारों' होगा; और स्त्रीलिंग 'तारा' का उस प्रकार का रूप 'ताराओं' होगा। इसी प्रकार

एक समाचार-पत्र में 'बदला' शब्द साधारणतः पुंलिंग में व्यवहृत होता था, पर एक टिप्पणी का शीर्षक छपा था—'इन बदलाओं का अन्त कहाँ होगा !' यहाँ 'बदलाओं' की जगह 'बदलों' होना चाहिए था। इसके विपरीत 'माला' शब्द है तो सर्वथैव स्त्रीलिंग, फिर भी कुछ लोग 'मालाओं के दाने' न लिखकर 'मालों के दाने' लिखते हैं। कुछ इसी तरह की गड़बड़ी 'औषधि' और 'औषध' में भी होती है। संस्कृत में 'औषधि' स्त्रीलिंग और 'औषध' नपुंसक लिंग और फलतः हिन्दी में पुंलिंग है। परन्तु हिन्दी में ये दोनों शब्द किसी सिद्धान्त और उनके अर्थों का ध्यान रक्खे बिना कभी स्त्रीलिंग में और कभी पुंलिंग में लिखे और बोले जाते हैं। बहुत-से लोग दोनों शब्दों के रूप एक में मिलाकर 'औषधि' या 'औषध' भी लिखते हैं; और इन शब्दों के अर्थों में जो सूक्ष्म भेद है, उसपर भी ध्यान नहीं रखते। हमें इनके अर्थ भी निश्चित रखने चाहिएँ और लिंग भी।

इसी प्रकार की कुछ गड़बड़ी 'समाज' और 'व्यक्ति' सरीखे शब्दों के संबंध में भी होती है। 'समाज' शब्द पुंलिंग होने पर भी कुछ लोग स्त्रीलिंग में लिखते हैं। 'व्यक्ति' शब्द एक अर्थ में पुंलिंग और एक अर्थ में स्त्रीलिंग है अवश्य; पर कुछ लोग बिना अर्थ का विचार किये सब जगह उसे स्त्रीलिंग ही लिखते हैं; पर कुछ लोग बिना अर्थ का विचार किये सब जगह उसे स्त्रीलिंग ही लिखते हैं। मनुष्य या आदमी के अर्थ में हिन्दी में वह पुंलिंग ही लिखा और माना जाता है। शेष अर्थों में वह स्त्रीलिंग ही है।

'ओर' (तरफ) के लिंग के सम्बन्ध में भी लोग किसी निश्चित सिद्धान्त का ध्यान नहीं रखते; और शायद इसका कोई व्यापक सिद्धान्त स्थिर भी नहीं हुआ है। हिन्दी शब्द-सागर में केवल इतना कहा गया है कि जब इसके पहले कोई संख्या-वाचक शब्द आता है, तब इसका व्यवहार पुंलिंग की तरह होता है। पर यह यथेष्ट नहीं है। हम खाली 'दाहिनी ओर' और 'बाईं ओर' तो लिखते ही हैं, और ऐसा लिखना ठीक भी है। पर 'उसकी दाहिनी (या बाईं) ओर' में कभी-कभी कुछ खटक भी जान पड़ती है। हो सकता है कि इसका कारण यह हो कि ऐसे प्रयोग किसी की अपेक्षा दिशा के सूचक होने के कारण ही पुंलिंग रूप में व्यवहृत होते हों। क्योंकि

'उसका दाहिनी ओर बिलकुल खाली पड़ी थी।' में तो खटक नहीं है, पर 'उसकी दाहिनी ओर लड़का खड़ा था।' में खटक है। यहाँ 'उसके दाहिने ओर......।' ही अधिक ठीक जान पड़ता है। इसका कारण यह हो सकता है कि बिना 'ओर' शब्द का प्रयोग किये, हम 'उसके दाहिने' और 'उसके बाएँ' सरीखे प्रयोग करने के अभ्यस्त हो गये हैं। इसी लिए हम 'उसके चारो ओर' कहते हैं: 'उसकी चारो ओर'' नहीं कहते। यह विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है।

स्वयं हिन्दी के बहुत-से ऐसे शब्द हैं जो पुंलिंग होने पर भी प्रायः भूल से स्त्रीलिंग लिखे जाते हैं। जैसे चपत, जेब, साँस आदि। ऐसा नहीं होना चाहिए। कहीं कहीं विशेषतः पूरब में, बाज़ारों और महल्लों के नामों में भी इसी प्रकार की भूलें देखी जाती हैं। जैसे 'नई बाजार' और 'पुरानी गोदाम'। पश्चिमवाले इस विषय में अपेक्षाकृत कुछ अधिक सतर्क रहते हैं। वे 'बाजार' की जगह आवश्यकता पड़ने पर 'बजरिया' (स्त्रीलिंग अल्पार्थक) बना लेते हैं। पर ये प्रयोग स्थानिक हैं। इसके सिवा महल्लों और बाजारों के नाम सहज में बदले भी नहीं जा सकते। परन्तु ऐसे नाम देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'बाजार' और 'गोदाम' शब्द स्त्रीलिंग हैं। हमने कई अच्छे पढ़े-लिखे लोगों को यह कहते सुना है—'बाजार खुल गई।' ऐसे ही लोग यह भी पूछ बैठते हैं—'कै बजी ?' उनका यह भ्रम घड़ी के संयोग से होता है। मतलब यह होता है कि घड़ी ने कै बजाये ?

लिंग-सम्बन्धी साधारण भूलें

समाचार-पत्रों और पुस्तकों में प्रायः लिंग सम्बन्धी बहुत-सी भूलें देखने में आती हैं। उदाहरणार्थ—'उसने तलाक ले ली।' 'जेल खाली हो गई।' 'नगर में पुलिस की गश्त।' 'स्मृतियाँ उस विशाल साहित्य की अंग हैं।' 'कभी तो डकार लेनी पड़ेगी।' 'पर्वत के निभृत कंदरे में।' 'जाड़े की मौसिम में।' 'कृपाणें पकड़ी गईं।' 'लाइसेन्स जब्त हो गई।' 'थोथा बकवास।' 'मोटी तौर पर।' 'तँम्बाकू दे दी' 'गाड़ी आने की इन्तजार थी।' लार्ड वेवेल के उत्तर पर अटकल लगाया जा रहा है।' 'मास्टर जी के जीवन में थोड़ा मिठास

आने लगा।' 'कहीं इंजन हमारी गरदन पर खड़ी हो गई तो!' आदि। कुछ लोग 'अपने व्यक्तिगत जानकारी' के आधार पर ही बड़ी बड़ी बातें कह डालते हैं; और कुछ लोग यह देखकर दुःखी होते हैं कि—'गाय-भैंस तौलकर बेचे जा रहे हैं।' 'इच्छा' और 'आवश्यकता' हैं तो स्त्रीलिंग ही; पर जब 'अनुसार' के साथ इनकी सन्धि होती है, तब वह समस्त-पद पुंलिंग हो जाता है। पर कुछ लोग 'अपनी इच्छानुसार' लिखते और 'अपनी आवश्यकतानुसार' बोलते हैं; और तर्क के आधार पर इन्हें भी ठीक सिद्ध करते हैं। पर है यह कोरा तर्क ही। व्याकरण के अनुसार ऐसे शब्द पुंलिंग ही माने जाने चाहिएँ। इसी प्रकार वाक्य-रचना के ठीक सिद्धान्त न जानने के कारण लोग वाक्यों के अन्त की क्रियाओं में भी लिंग की गड़बड़ी करते हैं। जैसे—'शायद ही कोई ऐसी साड़ी हो, जिसे उन लोगों ने न देखी हो।' होना चाहिए—'जिसे उन लोगों ने न देखा हो।' या 'जो उन लोगों ने न देखी हो'। कभी-कभी संज्ञा से क्रिया के दूर पड़ जाने के कारण भी लिंग सम्बन्धी भूलें हो जाती हैं। जैसे—'साधारण ध्वनि उस चमत्कार को कहते हैं, जो साधारण अर्थ के अतिरिक्त किसी प्रकार के व्यंग्य के रूप में प्रकट होती है।' इस वाक्य में 'होती है' केवल 'ध्वनि' शब्द के विचार से लाया गया है, जो ठीक नहीं है। वास्तव में इस क्रिया का सम्बन्ध 'चमत्कार' से है, न कि 'ध्वनि' से; और इसी लिए 'होती है' की जगह 'होता है' होना चाहिए।

एक और प्रसंग है जिसमें लोग क्रियाओं के लिंग के सम्बन्ध में भूल करते हैं। व्याकरण का साधारण नियम यह है कि वाक्य की क्रिया सदा कर्त्ता या उद्देश्य के अनुसार होती है। पर कुछ लोग इस तत्त्व का ध्यान न रखकर भूल से कर्म या विधेय के अनुसार क्रिया का रूप रख देते हैं। जैसे—

१. सारा राज्य उसके लिए एक थाती थी।

२. नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगी। (अथवा—यह सोचना मूर्खता होगी।)

३. इनको कुछ उत्तर देना भूल होगी।

४. उन्होंने मुझे बम्बई घुमाई।

५. वह भू-भाग अनेक प्राकृतिक कुंजों की प्रसव-भूमि थी।

६. यह सड़क भारत से आवागमन का रास्ता बनाया गया था।

७. वर्त्तमान अवस्था अत्यन्त चिंता का विषय समझा जा रहा है। आदि।

यों सुनने में ये वाक्य भले ही कुछ अच्छे जान पड़ें, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से हैं ये अशुद्ध ही। 'सारा राज्य उसके लिए एक थाती था।' तो सुनने में उतना नहीं खटकता, पर 'नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगा।' और 'इनको कुछ उत्तर देना भूल होगा।' व्याकरण के अनुसार ठीक होने पर भी कानों में अवश्य कुछ खटकते हैं। चौथा वाक्य तो बिलकुल अशुद्ध है। अन्तिम दोनों वाक्य भी दूसरे और तीसरे वाक्यों के समान ही हैं। यदि यह कहा जाय कि ऐसे अवसरों पर वाक्य का रूप ही कुछ बदल दिया जाना चाहिए, तो यह भी कोई अच्छी मीमांसा नहीं होगी। यह तो पीठ दिखाकर भागना होगा। ऐसी अवस्थाओं में व्याकरण के नियमों का पालन ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। हाँ, यदि वाक्य की कर्ण कटुता दूर करना चाहें तो उसका रूप भले ही बदल दें।

व्याकरण का एक और साधारण नियम यह है कि क्रिया का लिंग अन्तिम संज्ञा के अनुसार होता है। 'उपन्यास, काव्य, नाटक और कहानी ('कहानियाँ' होना चाहिए) पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं।' कहना अशुद्ध है। होना चाहिए—'प्रकाशित हुई हैं।' क्योंकि वाक्य में अन्तिम संज्ञा कहानी (कहानियाँ) है। इसी प्रकार—'एक ब्राह्मण और एक गाय लाये गये।' की जगह—'एक ब्राह्मण और एक गाय लाई गई।' कहना ही ठीक है। वाक्यों और अकर्मक तथा सकर्मक क्रियाओं से सम्बन्ध रखनेवाले लिंग-विषयक नियमों की उपेक्षा भी प्रायः देखने में आती है। कुछ लोग लिखते हैं—'मैं अब जानी कि यह बात नहीं है।' और 'लड़की ने जोर से हँस दी।' होना चाहिए—'मैंने अब जाना........।' और '......हँस दिया।' या 'लड़की जोर से हँस पड़ी।' कहीं कहीं लोग किसी विभक्ति के कारण भी भ्रम में पड़कर लिंग सम्बन्धी भूल कर जाते हैं। जैसे—'शिराओं का चौड़ी हो जाना।' होना चाहिए—'शिराओं का चौड़ा हो जाना।' या 'शिराएँ चौड़ी हो जाना।'

लिंग की भाँति वचन में भी अनेक प्रकार की भूलें होती हैं। एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक था—५० हजार का टिकट गायब।

पर ५० हजार रुपयों का कोई एक टिकट नहीं होता। ५० हजार रुपये मूल्य के बहुत-से टिकट गायब हुए थे, अतः होना चाहिए था—५० हजार के टिकट गायब। 'गौएँ अपने बच्चे को देखती जा रही थीं' में 'बच्चे' की जगह 'बच्चों' होना चाहिए; क्योंकि 'गौएँ' तो हैं एक से अधिक; और उन सब का एक ही बच्चा नहीं होगा, कई होंगे।

वचन-सम्बन्धी भूलें

इसी प्रकार 'पेड़ों पर से कोयल का बोलना बहुत भला लगता था।' में 'कोयल' की जगह 'कोयलों' होना चाहिए; क्योंकि पहले 'पेड़' नहीं बल्कि 'पेड़ों' है। परन्तु इस प्रकार की सूक्ष्मताओं पर ध्यान न देकर कोई लिखता है—'आठ दस रसगुल्ला खाया (खाये)'। कोई कहता है—'वहाँ अनेक प्रकार की विद्या (विद्याओं) और कला (कलाओं) का प्रचार था।' कोई लिखता है—'कनखजूरे के सौ पैर होते हैं जिससे वह चलता है।' और कोई लिखता है—"इसकी पत्तियाँ बहुत घनी होती हैं, जिनसे यह बहुत स्थान घेरता है'। अन्तिम दो उदाहरणों में से पहले उदाहरण में 'जिससे' की जगह 'जिनसे' और दूसरे उदाहरण में 'जिनसे' की जगह 'जिससे' होना चाहिए। पहले उदाहरण में पैर वह साधन हैं, जिनसे कनखजूरा चलता है;[1] और दूसरे उदाहरण में वृक्ष का घनापन वह कारण है, जिससे वह स्थान घेरता है। अब यह प्रश्न दूसरा है कि क्या पत्तियों के घनेपन के कारण ही कोई वृक्ष अधिक स्थान घेरता है। हो सकता है कि कोई वृक्ष घनी पत्तियोंवाला होने पर भी अधिक स्थान न घेरता हो; और कोई वृक्ष घनी पत्तियोंवाला न होने पर अधिक स्थान घेरता हो। इसी तरह 'इस पुस्तक में जो बहुत सी भूलें दिखाई देती हैं, उनका कारण यह है कि......।' कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें 'भूलों' का कारण बतलाना अभिप्रेत नहीं है, बल्कि 'जो भूलें दिखाई देती हैं' उसका कारण बतलाना अभिप्रेत है। अर्थात् मुख्य बात 'दिखाई देती हैं' है, न कि 'भूलें'। अतः 'उनका को'

---

१. इस वाक्य में 'वह साधन है' ही ठीक है; 'वे साधन हैं' कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'वह' का सम्बन्ध 'साधन' से है, 'पैरों' से नहीं।

जगह 'उसका' होना चाहिए। कभी कभी लोग किसी वचन के सान्निध्य के कारण ही उसके बादवाले वचन-रूप में भूल कर जाते हैं। जैसे—'अब लोग ऐसे शब्द चलाने लगे हैं जो शुभ लक्षण हैं।' इसमें अन्तिम 'हैं' की जगह 'है' होना चाहिए; क्योंकि 'शब्द' शुभ लक्षण नहीं है, बल्कि उनका प्रचलन शुभ लक्षण है। इस प्रकार की कुछ बातों का विचार 'अर्थ, भाव और ध्वनि' वाले प्रकरण में हुआ है; अतः यहाँ उनके विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि लोग वचन सरीखे साधारण तत्त्वों पर भी ध्यान नहीं देते।

वचन सम्बन्धी एक साधारण नियम यह है कि जब एक ही तरह की कई चीजों या उनके समूहों का वर्णन किया जाता है, तब उन सभी चीजों के नाम बहुवचन रूप में रक्खे जाते हैं। परन्तु इस नियम की अवज्ञा भी प्रायः देखी जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. कमरे में कुरसी (कुरसियाँ) और सोफे करीने से रखे हुए थे।
२. बहुत-से पत्र (पत्रों) और पत्रिकाओं का प्रकाशन बन्द हो गया।
३. जगह-जगह मनुष्य (मनुष्यों) और पुरुषों की लाशें पड़ी सड़ रही थीं।
४. यह ग्रंथ दोहा (दोहों) और चौपाइयों में लिखा गया है।
५. इस देश में हिन्दू (हिन्दुओं) और मुसलमानों में प्रायः दंगे होते रहते हैं।
६. भिन्न-भिन्न देश (देशों) और जातियों में यह प्रथा समान रूप से पाई जाती है।
७. तट पर लगे हुए वृक्ष (वृक्षों) और लताओं से नदी की शोभा और बढ़ गई थी।
८. बारहसिंहा सींगवाला (सींगोंवाला) चौपाया है।
९. जयदेव के (का) 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के (का) 'कुवलयानन्द' ही इनके आधार थे। (कारण यह है कि 'चन्द्रालोक' भी एक ही है और 'कुवलयानन्द' भी एक ही।)

कुछ लोग वाक्य का आरम्भ और अन्त करने में वचन की संगति का ध्यान नहीं रखते। वे यदि आरंभ में बहुवचन रखते हैं तो अन्त में एक-वचन; और

यदि आरम्भ में एक-वचन रखते हैं तो अन्त में बहुवचन ले आते हैं। जैसे—

१. मेरे आँसू (आसुओं होना चाहिए) से, जो मेरे रोके नहीं रुकते, तुम्हारा आधा पत्र धुल गया है।

२. जापान तब तक न मानेगा, जब तक उनकी फौजें लड़ सकती हैं। (या तो होना चाहिए—'जापानी तब तक न मानेंगे...।' या 'उनकी' की जगह 'उसकी' होना चाहिए।)

३. वह सिद्धान्त और तर्क-प्रकार आदि जिसमें धार्मिक विवेचन हों। ('वह' की जगह 'वे' और 'जिसमें' की जगह 'जिनमें' होना चाहिए।)

४. चारों वेदों के चार उपवेदों का नाम है......(के नाम हैं)।

५. पराड़कर जी की भूमिका ने पुस्तक में चार चाँद लगा दिया है (लगा दिये हैं)।

६. मिस्र के पिरामिड उसकी महत्ता का प्रमाण है। ('है' की जगह 'हैं' होना चाहिए।)

७. लड़की के वेष में लड़का और लड़के के वेष में लड़की समान जान पड़ती है। ('समान' से पहले 'दोनों' और 'पड़ती है' की जगह 'पड़ते हैं' होना चाहिए।)

कुछ लोग ऐसे स्थानों में भी बहुवचन का प्रयोग करते हैं, जहाँ एक-वचन का प्रयोग होना चाहिए; और जहाँ बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ एकवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे—

१. उन्होंने अपने जीवन में बहुत-सा उतार-चढ़ाव देखा था (बहुत से उतार-चढ़ाव देखे थे)।

२. कम से कम दो शब्द अवश्य होना चाहिए (होने चाहिएँ)।

३. इस सूची में समस्त संस्कृत ग्रन्थों का नाम था (के नाम थे)।

४. सभी प्रकार की चीज मौजूद थी। (सभी प्रकार की चीजें...थीं।)

५. आपके एक-एक शब्द तुले हुए होते थे (आपका...तुला हुआ...)।

६. हमारे बाप-दादाओं ने कभी ऐसा नहीं किया। ('बाप-दादा' होना चाहिए।)

७. देश में हैजों आदि से हजारों आदमी मर रहे हैं (हैजे आदि से)।

बहुत-से लोग 'वह' और 'यह' प्रायः दोनों वचनों में एक ही रूप में लिखते हैं; और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो बहुवचन में कहीं 'यह' और कहीं 'ये' तथा कहीं 'वह' और कहीं 'वे' लिखते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। 'यह' का बहुवचन सदा 'ये' और 'वह' का 'वे' रखना चाहिए।

बहुवचन-वाचक संस्कृत शब्द

दर्शन, प्राण आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत में सदा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं; और पुराने हिन्दी लेखक भी संस्कृत के अनुकरण पर बहुवचन में ही लिखते थे। परन्तु आज-कल लोग लिखते हैं—'उसका प्राण निकल गया।' और 'मैं आपका दर्शन करने आया हूँ'। इसी प्रकार का आधुनिक शब्द 'हस्ताक्षर' है। वस्तुतः इसका प्रयोग भी बहुवचन में ही होना चाहिए; पर अधिकतर लोग इसका व्यवहार एकवचन में ही करते हैं। इसी प्रकार का एक शब्द है—'सामग्री' जो वस्तुतः उपयोग में आनेवाली बहुत-सी वस्तुओं के समूह का वाचक है और जिसका व्यवहार सदा एकवचन में ही होना चाहिए। पर लोग इसका भी बहुवचन 'सामग्रियाँ' बनाते हैं जो ठीक नहीं है।

कुछ लोग 'हर एक' 'प्रत्येक' और 'एकाध' के साथ बहुवचन का प्रयोग करते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। जैसे—'सभा में उपस्थित हर एक सदस्यों का यही मत था' ('सदस्य' होना चाहिए)। 'वह प्रत्येक छोटी मोटी विशेषताओं को देखता है' ('विशेषता' होना चाहिए)। 'ऐसी एकाध बातें देखने में आई हैं' ('बात......है' होना चाहिए)। यह कहना भी ठीक नहीं है—'इस मत-भेद के कारण हर एक अपने अपने विचारों के अनुसार कार्य कर सकता है।' इस वाक्य में पहले 'हर एक' और तब 'अपने-अपने' है जो बहुवचन का बोधक है; इससे केवल 'अपने' होना चाहिए। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो 'विचारों' की जगह भी 'विचार' ही होना चाहिए; क्योंकि वस्तुतः वह मत-भेद में के 'मत' की जगह आया है।

'आदि' अव्यय है; पर कुछ लोग इसका भी बहुवचन बना डालते हैं; जैसे—'ऋषि मुनि आदियों के...।' ऐसा नहीं होना चाहिए। कुछ लोग 'आदि' के उपरान्त क्रिया एकवचन में रखते हैं। जैसे—'कपड़ा, बरतन आदि चला गया।' पर 'आदि' सदा कुछ वस्तुओं या नामों के अन्त में आता और

बहुवचन का सूचक होता है; अतः उसके बाद की क्रिया बहुवचन में ही होनी चाहिए। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनकी तृप्ति केवल 'अनेक' से नहीं होती और जो 'अनेकों' लिखते हैं। जैसे—'इस विषय पर अनेकों बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखी गई हैं।' और 'रंग मंच पर अनेकों कृष्ण-चक्र चलाते हुए दिखाई देते हैं।' यह अशुद्ध है। विशेषण रूप में सदा 'अनेक' ही लिखना चाहिए, 'अनेकों' नहीं। हाँ, यदि 'अनेक' का प्रयोग सर्वनाम के रूप में हो और वह संज्ञा के स्थान पर आया हो तो अवश्य 'अनेकों' रूप रख सकते हैं। जैसे—उन दिनों अनेकों ने यह व्रत धारण किया था।

कुछ लोग 'सब' का बहुवचन 'सबों' या 'सभों' बना लेते हैं, जो बहुत खटकता है। जैसे—'सबों' ने यही राय दी। यहाँ केवल 'सब' होना चाहिए। कहा जा सकता है कि जिस अवस्था में 'अनेक' का रूप 'अनेकों' हो सकता है, उस अवस्था में 'सब' का रूप भी 'सबों' हो सकता है या होना चाहिए। यह आपत्ति बहुत-कुछ ठीक और विचारणीय है। फिर भी न जाने क्यों 'सबों' रूप में कुछ खटक है। हम सदा यही कहते हैं—'सबको थोड़ा थोड़ा दे दो'; कभी 'सबों' नहीं कहते। और 'सब' ही सुनने में भला भी लगता है, 'सबों' नहीं।

इसके विपरीत 'ओर' शब्द है, जिसका रूप बहुवचन में लोग कभी बदलते ही नहीं। 'चारो ओर सन्नाटा छाया था।' तो ठीक है, पर 'चारो ओर से आवाजें आने लगीं' कहाँ तक ठीक है? सिद्धान्ततः होना चाहिए—'चारों ओरों से...।' जान पड़ता है कि हिन्दी में 'ओर' का बहुवचन उर्दू के कारण ही नहीं होता। उर्दूवाले लिखते हैं—'चारों तरफ से...।' अरबी 'तरफ' का बहुवचन 'अतराफ़' तो होता है और उर्दूवाले इस रूप का प्रयोग भी करते हैं, पर 'तरफ' से वे 'तरफें' या 'तरफों' नहीं बनाते। शायद उन्हीं की देखा-देखी हम लोग भी 'ओर' को सब अवस्थाओं में 'ओर' ही रखते हैं। वैयाकरणों को इस पर भी विचार करना चाहिए।

कुछ लोग अँगरेजी 'फुट' का बहुवचन 'फीट' लिखते हैं, जो हिन्दी की दृष्टि से ठीक नहीं है। हिन्दी में बहुवचन में भी 'फुट' ही होना चाहिए। 'कागजात' स्वयं 'कागज' का बहुवचन है; अतः 'कागजातों' रूप नहीं होना चाहिए।

हमें 'कागज' का बहुवचन 'कागजों' ही रखना चाहिए। कुछ लोग 'किसी' का बहुवचन 'किन्ही' बना लेते हैं। प्रायः इसका काम 'कुछ' से अच्छी तरह चल जाता है। जैसे—'किन्हीं कारणों से' या 'किन्हीं लोगों ने' की जगह 'कुछ कारणों से' और 'कुछ लोगों ने', कहीं अधिक सुन्दर है। कुछ लोग 'भेजी गई' या 'भेजी थीं' की जगह 'भेजीं गईं' और 'भेजीं थीं' भी लिखते हैं, जो अशुद्ध है। इसके विपरीत कुछ लोग इस प्रकार के वाक्य भी लिखते और बोलते हैं—'लड्डू न मिले तो पेड़े लेते आना।' पर होना चाहिए—'लड्डू न मिलें तो पेड़े लेते आना।' या लड्डू न मिले तो पेड़ा लेते आना।'

कुछ शब्दों के बहुवचन रूप

वचन के सम्बन्ध में कुछ बातें विवादास्पद और विचारणीय भी हैं, जिनका ठीक ठीक निर्णय होने की आवश्यकता है। जैसे—'वह कई दिन तक प्रतीक्षा करता रहा' में कुछ लोग 'कई दिन' की जगह 'कई दिनों' लिखना पसन्द करते हैं, जो अधिक ठीक भी है; पर कुछ लोग कहते हैं कि 'कई दिन' ही कानों को भला लगता है और यही ठीक है। यह बात 'कुछ महीनों बाद' और 'चार वर्षों में' के सम्बन्ध में भी है। कुछ लोग 'सौ रुपया देकर माल खरीदते हैं' और ऐसे अवसरों पर भी 'रुपया' का ही समर्थन करते हैं; 'रुपये' का प्रयोग वे ठीक नहीं समझते। कुछ अवसरों पर बड़े बड़े विद्वान् भी इसका समर्थन करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु ऐसे लोगों के तर्क में कोई विशेष तत्त्व नहीं होता। हमारे एक विद्वान् मित्र का कहना है कि इसमें मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद होना चाहिए। मूर्त्त पदार्थों के नामों का रूप 'ों' से युक्त होना चाहिए, पर अमूर्त्त पदार्थों के नामों का नहीं। अर्थात् 'कई दिनों से' या 'कई वर्षों से' की जगह 'कई दिन से' या 'कई वर्ष से' ही लिखना चाहिए। पर 'नाम' और 'बात' भी तो अमूर्त्त ही हैं। फिर भी हम कहते हैं—'यह चीज बाजार में कई नामों से बिकती है।' और 'इन बातों में क्या रखा है!' ऐसे अवसरों पर कभी-कभी लोग जो 'कई नाम' का प्रयोग करते हैं, वह अशुद्ध है; और उसकी अशुद्धता इसी से सिद्ध है कि हम सदा 'इन बातों' ही कहते हैं, कभी 'इन बात' नहीं कहते। बात यह है कि

विवादास्पद बातें

इधर बहुत दिनों से हम लोग 'कई दिन से' और 'दस बरस से' ही लिखने, बोलने और सुनने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि अब 'कई दिनों से' और 'दस वर्षों से' में हमें कुछ खटक मालूम होती है। कुछ अवस्थाओं में यह खटक कम मालूम होती है और कुछ में बहुत। जैसे, यदि हम कहें—'बीसियों वर्ष से ऐसा होता आया है' तो इसमें उतनी खटक नहीं मालूम होगी। पर यदि हम कहें—'इन चार वर्ष में एक भी वर्ष ऐसा नहीं था', तो इसमें बहुत खटक मालूम होगी। और वह खटक तभी दूर होगी, जब हम 'चार वर्षों' कहेंगे। कारण यह है कि पहले उदाहरण में जो 'बीसियों' शब्द आया है, उसी में बहुवचन का चिह्न 'ओं' लगा है। पर 'चार वर्ष' में उस चिह्न की अपेक्षा ही खटक पैदा करती है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भाषा का बहुत कुछ सम्बन्ध कानों से होता है; और उसका कुछ सौष्ठव प्रायः अभ्यास और परिचय पर भी आश्रित है। पर जहाँ तात्त्विक विवेचन होता है, या सिद्धान्त का प्रश्न सामने आता है, वहाँ अभ्यास आदि का विचार छोड़कर यही देखना पड़ता है कि ठीक क्या है। हम मानते हैं कि कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें एक-वचन ही अधिक श्रुति-मधुर होता है; और कुछ अवसरों पर एक-वचन और बहु-वचन दोनों समान रूप से श्रुति-मधुर होते हैं। परन्तु कोरा श्रुति-माधुर्य सदा कसौटी का काम नहीं दे सकता। काम तो देते हैं सिद्धान्त और नियम। उनकी अवज्ञा करके केवल श्रुति-माधुर्य का आश्रय लेना ठीक नहीं। यदि किसी विशेष अवसर पर किसी सिद्धान्त या नियम का अपवाद रखने की आवश्यकता हो ही, तो उसका भी निराकरण होना चाहिए। अन्यान्य विषयों के साथ-साथ यह भी विद्वानों के लिए विचारणीय है।

---

[११]

छाया-कलुषित भाषा

'छाया—कलुषित' की व्याख्या——उन्नत भाषाओं की सहायता—बँगला की छाया—अँगरेजी की छाया—अँगरेजी ढंग का वाक्य-विन्यास—वाक्यों का अनावश्यक विस्तार—मराठी की छाया—, उर्दू की छाया—स्थानिक और प्रान्तीय छायाएँ।

'छाया-कलुषित' की व्याख्या

भाषा की प्रकृति और स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किये बिना जो कुछ लिखा जाता है, वह प्रायः प्रकृति-विरुद्ध और विरूप होने के कारण दूषित और भद्दा होता है। अँगरेजी भाषा की प्रकृति और स्वरूप का ठीक ज्ञान न रखनेवाले लोग जो अँगरेजी लिखते हैं, वह इसी कारण अँगरेजी भाषा के अच्छे जानकारों की दृष्टि में हास्यास्पद होती और 'बाबू इंग्लिश' कहलाती है। 'बाबू इंग्लिश' का मतलब है—अँगरेजी दफ्तरों में काम करनेवाले लेखकों या 'बाबुओं' की लिखी हुई भद्दी या अशुद्ध अँगरेजी। अँगरेज लोग जो हिन्दी बोलते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हुए हम लोग उसे 'साहबी हिन्दी' कहते हैं। यद्यपि अनेक हिन्दुओं ने उर्दू साहित्य की बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ की हैं और उसके निर्माण में हिन्दुओं का बहुत बड़ा अंश रहा है, फिर भी बहुतेरे मुसलमान उर्दू भाषा पर अपना ही जन्म-सिद्ध अधिकार मानते और हिन्दुओं की लिखी हुई उर्दू पर तरह-तरह के आक्षेप करते हैं। परन्तु वास्तव में भाषा पर होनेवाला पूरा-पूरा अधिकार किसी जाति या धर्म से संबंध नहीं रखता। सभी लोग परिश्रम करके किसी भाषा पर पूरा और अच्छा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। भेद यही है कि कोई भाषा जिन लोगों की मातृ-भाषा होती है, उसपर उनका अधिकार सहज में और शीघ्र हो सकता है; और जिनकी वह मातृ-भाषा नहीं होती, उन्हें अधिकार प्राप्त करने के लिए विशेष परिश्रम करना और कुछ समय लगाना पड़ता है। बहुत-से भारतीय नेताओं, लेखकों और वक्ताओं ने अँगरेजी भाषा पर इतना अच्छा अधिकार प्राप्त किया है कि उसे देखकर बड़े-बड़े अँग-

रेज साहित्यज्ञ भी दंग रह जाते हैं। इधर कुछ दिनों से दक्षिण भारत के अनेक हिन्दी-प्रचारकों ने हिन्दी भाषा पर जो अधिकार प्राप्त किया है, वह बहुत-से हिन्दी-भाषियों के लिए भी आश्चर्य और स्पर्द्धा की वस्तु है।

हमें हिन्दी लिखने से पहले उसकी वास्तविक प्रकृति और ठीक स्वरूप का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बिना इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये जो हिन्दी लिखी जायगी, वह कभी निर्दोष और ठिकाने की न होगी। यही नहीं, संभव है कि उस दशा में हमारे लेखों में बहुत-सी ऐसी बातें भी आ जायँ जो हमारी भाषा की प्रकृति और स्वरूप के विरुद्ध हों। और यदि हम कुछ अन्यान्य भाषाएँ भी जानते होंगे, तो हमारे लेख में उन भाषाओं के मुहावरों, क्रिया प्रयोगों और भाव व्यंजन-प्रणालियों की भी बहुत कुछ छाया आ जायगी। जिस भाषा पर इस प्रकार की परकीय भाषाओं की थोड़ी या बहुत छाया हो, वही 'छाया-कलुषित' है।

मान लीजिए, हमने थोड़ी बहुत अँगरेजी, बँगला, मराठी या उर्दू पढ़ी है; और काम चलाने भर को इनमें से किसी एक या अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु हम अपनी भाषा की प्रकृति और स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। उस अवस्था में हमारे लेखों में उन भाषाओं की छाया आने लगेगी जिनका हमने कुछ विशेष अभ्यास या अध्ययन किया होगा। और जब हम उस भाषा से अपनी भाषा में कुछ अनुवाद करने बैठेंगे, तब यह छाया और भी बढ़ जायगी। इस प्रकार की छाया-कलुषित भाषा लिखते लिखते हम उसके इतने अभ्यस्त हो जायँगे कि स्वतंत्र लेख आदि लिखने के समय भी हम वह छाया किसी प्रकार बचा न सकेंगे। यही कारण है कि आज-कल का अधिकतर हिन्दी साहित्य इसी प्रकार की छाया-कलुषित भाषा में लिखा जा रहा है।

आज-कल विद्या और साहित्य की चर्चा पहले से बहुत बढ़ गई है। अब तो बहुत-सी स्थानिक बोलियाँ भी 'भाषा' बनने का प्रयत्न करने लगी हैं। जब बोलियाँ नये सिर से भाषा का स्वरूप धारण करना चाहती हैं, तब उन्हें आस-पास की उन्नत भाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि मैथिली या पंजाबी बोली में गद्य साहित्य की रचना आरम्भ हो (और इस

उन्नत भाषाओं की सहायता

प्रकार की रचना का आरम्भ हो भी गया है) तो उन्हें अनिवार्य रूप से भारत की अन्य उन्नत भाषाओं से सहायता लेनी पड़ेगी। यह सहायता ग्रन्थों के अनुवाद के रूप में भी होगी और भाषा सम्बन्धी प्रयोगों के रूप में भी। और अँगरेजी तो इन सब भाषाओं के ऊपर है ही। उसकी सहायता तो बड़ी-बड़ी उन्नत भाषाएँ तक ले रही हैं।

यद्यपि हिन्दी का पद्य-साहित्य बहुत पुराना है और गद्य के सैकड़ों बरस पुराने नमूने भी हमारे प्राचीन साहित्य में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए मिलते हैं, तथापि हमारे आधुनिक गद्य साहित्य को नवीन पथ पर लाने के लिए बँगला और अँगरेजी की सहायता लेनी पड़ी थी। तीस चालिस बरस पहले हमारा आधुनिक गद्य-साहित्य बहुत कुछ बंगला पर आश्रित था। उसके बाद उसने अँगरेजी से भी सहायता लेना आरम्भ किया। अब बँगला का तो उतना अधिक सहारा नहीं लिया जाता, पर अँगरेजी साहित्य का सहारा अभी तक लिया जा रहा है; और संभवतः और भी कुछ दिनों तक लिया जायगा। इधर कुछ दिनों से हम मराठी, गुजराती और उर्दू साहित्यों का भी अध्ययन तथा उनके अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद करने लगे हैं। इन कारणों से हमारी भाषा पर प्रायः उक्त सभी भाषाओं की छाया दिखाई देती है।

परन्तु इस विषय का विशेष विवेचन करने के पहले हम एक बात बतला देना चाहते हैं। वह यह कि दूसरी भाषाओं की सभी छायाएँ सदा दूषित और हमारी भाषा को कलुषित करनेवाली ही नहीं होतीं। परकीय भाषाओं की जो बातें हमारी भाषा की प्रकृति या स्वरूप के अनुरूप होती हैं, वे हमारी भाषा का सौन्दर्य और भी बढ़ाती हैं। ऐसी बातों से हमारा शब्द भंडार भी बढ़ता है और भाव-व्यंजन की शक्ति भी। ऐसी छाया चम्य ही नहीं, श्लाघ्य भी है। हाँ, पराई भाषाओं की जो बातें हमारी भाषा की प्रकृति या स्वरूप के विरुद्ध होती हैं, वे हमारी भाषा का कलेवर कलुषित और दूषित करती हैं। ऐसी बातों से हमारी भाषा समृद्ध या विस्तृत होने के बदले हीन या संकुचित, और जोरदार होने के बदले कमजोर होती है। यदि यह तत्त्व ध्यान में रक्खा जायगा, तो हम अपनी भाषा की, विशुद्ध भाषा की दृष्टि से, बहुत उन्नति कर सकेंगे।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। आधुनिक हिन्दी गद्य की प्रारम्भिक अवस्था में लोग बँगला से अनुवाद करने की ओर झुके थे। पर उनकी भाषा विकृत न होने पाई। कारण, हमारे आरम्भिक अनुवादक, बँगला की छाया कम-से-कम आज-कल के अनुवादकों की अपेक्षा, अधिक सतर्क रहते थे; अथवा यों कहना चाहिए कि वे अपनी भाषा की प्रकृति अधिक पहचानते थे; और अन्यान्य भाषाओं के साथ विशेष घनिष्ठ सम्पर्क न होने के कारण उनके उत्कट प्रभावों से बचे हुए थे। आज-कल बँगला से जो अनुवाद होते हैं, उनकी अपेक्षा उस समय के अनुवाद, भाषा की दृष्टि से, अधिक निर्दोष होते थे। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, हिन्दी पर बँगला का बहुत ही थोड़ा प्रभाव पड़ने पाया था। वह प्रभाव जितना पड़ा था, उससे अधिक इसलिए हो भी नहीं सकता था कि बँगला की प्रकृति हिन्दी की प्रकृति से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। हाँ, बँगला से हिन्दीवालों ने बहुत-से शब्द अवश्य ग्रहण किये थे, जिनमें से कुछ तो उपयुक्त थे और कुछ अनुपयुक्त। उदाहरण के लिए अकाट्य, सुविधा और सराहनीय शब्द हैं। अकाट्य का प्रचार तो बहुत कम हो चला है, पर सुविधा और सराहनीय अब भी कहीं-कहीं चलते हैं। बँगला से आया हुआ 'नितान्त' तो हिन्दी में खूब चल रहा है। बँगलावाले 'निज' के स्थान पर 'निजे' बोलते हैं, इसी लिए उनके सम्पर्क में रहनेवाले (अर्थात् कलकत्ते आदि के हिन्दी-भाषी) प्रायः 'निज में' बोला करते हैं। पर अब कुछ लोग लिखने में भी यह 'निज में' लाने लगे हैं। जैसे—'वह निज में वहाँ नहीं जाना चाहता था।' यह बिलकुल अशुद्ध प्रयोग है। यहाँ 'निज में' के स्थान पर 'स्वयं' या 'आप' होना चाहिए। बँगला में इसी प्रकार का एक और प्रयोग होता है—शेषे। कुछ लोग इसके प्रभाव में पड़कर लिख जाते हैं—'शेष में ऐसा हुआ'। चाहे यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध न हो पर बहुत कुछ परकीय अवश्य है। पर बँगला के प्रभाव के कारण 'प्रजा की अभूतपूर्व वृद्धि हो उठी।' 'आन्दोलित हो उठीं' 'स्पर्धा पुंजीभूत होकर अभ्रभेदी हो पड़ी' और 'खूब सम्भव है कि' सरीखे प्रयोगों की आज कल जो भर-मार है, वह हिन्दी की प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध और सर्वथा त्याज्य है।

'मैं इसे बरदाश्त नहीं कर पा रहा हूँ।' 'जाऊँगी नहीं, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की हो, ऐसा तो मुझे याद नहीं आता।' 'बहुत कुछ है जो होना माँगता है।' सरीखे वाक्य भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण बहुत खटकते हैं। उक्त तीनों वाक्य मौलिक लेखकों की कलम से निकले हुए हैं, बँगला के अनुवाद नहीं हैं। बहुत दिन पहले एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक देखा था—'दिक् दिक् अशान्ति।' एक साप्ताहिक में देखा था—'चावल का बस्ता' और 'नमक का बस्ता'। हिन्दीवाले जिसे 'बोरा' कहते हैं, उसी को बँगलावाले 'बस्ता' कहते हैं। पर हिन्दी में 'बस्ता' या तो लड़कों की पढ़ाई की पुस्तकों का होता है या मुकदमे लड़नेवालों के कागज-पत्रों अथवा पुस्तकालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों आदि का। हमारे यहाँ तो चावल, नमक आदि का 'बोरा' ही होता है। इसी प्रकार की बातों से यह सिद्ध होता है कि हम पर अनजान में ही दूसरी भाषाओं का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हमारी कलम से ऐसे छाया-कलुषित प्रयोग निकल जाते हैं। फिर जब हम बँगला से अनुवाद करने बैठते हैं, तब हमारी भाषा बँगला की छाया से और भी अधिक-कलुषित हो जाती है। इस प्रकार के कुछ वाक्य 'अनुवाद की भूलें' शीर्षक प्रकरण में भी दिये गये हैं।

अँगरेजी की छाया

बँगला के कुछ ही बाद अँगरेजी की बारी आई। उस समय की राजभाषा के नाते उसका अध्ययन हमारे लिए आवश्यक हो गया था; और उसका साहित्य भी परम उन्नत था; इसलिए उसका सहारा लेना हमारे लिए अनिवार्य-सा था। अँगरेजी की जबरदस्त पढ़ाई का कुफल यह हुआ कि बहुत-सी बातों में हम पर पूरी तरह से अँगरेजी की बहुत गहरी रंगत चढ़ी। यहाँ तक कि अब तो बहुत-से हिन्दी लेखक अँगरेजी से अनुवाद ही नहीं करते, बल्कि मौलिक लेख आदि लिखने के समय भी पहले अँगरेजी में ही सोचते हैं, और तब जैसे-तैसे हिन्दी में लिखते हैं। अँगरेजी में होनेवाली इस 'सोचाई' की हमारी भाषा पर बहुत गहरी छाप दिखाई देती है। इस छाप के सूचक सभी प्रयोग त्याज्य हैं। हम सीधी तरह से यह न कहकर कि 'जो बात मैं कहना चाहता हूँ......।' या 'जो बात मैं अभी कहूँगा......।' प्रायः 'जो बात मैं अभी

कहने जा रहा हूँ.....।' सरीखे वाक्य बोलने और लिखने के अभ्यस्त हो गये हैं। यदि हमें कहना होगा—'वे जल्दी ही यहाँ आनेवाले हैं' तो हम कहेंगे—'वे निकट भविष्य में यहाँ आनेवाले हैं' एक सज्जन ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में एक जगह लिखा था—मैंने इसे कहीं-कहीं छुआ है।' आशय यह था कि इसमें कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन या काँट-छाँट की है। हम नहीं कह सकते कि साधारण पाठकों ने इसका क्या अर्थ लगाया होगा। अँगरेजी के प्रभाव के कारण हम लोग प्रायः सीधी तरह से वाक्य न लिखकर बहुत कुछ घुमाव-फिराव और पेचीले ढंग से लिखने के अभ्यस्त हो रहे हैं। हम सीधी तरह से यह न लिखकर 'आप जनता की सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रहते थे।' लिख जाते हैं—'आपकी सेवाएँ जनता के लिए सदा प्रस्तुत रहती थीं।' अब बहुत से हिन्दी लेखक कुछ इस प्रकार की वाक्य-रचना के अभ्यस्त होते जा रहे हैं—'आप निकट भविष्य में होनेवाले इस प्रयोग की पूर्ति में अपने व्याख्यानों के द्वारा बहुत तत्परता के साथ नाटकीय ढंग से भाग लेने और जनता के कष्टों की आवाज उठाने और उनकी पूर्ति की माँग करके नेतृत्व का श्रेय प्राप्त करने जा रहे हैं।' कभी-कभी हम अँगरेजी प्रभाव के कारण ऐसे शब्द भी लिख जाते हैं, जिनका अर्थ वास्तविक आशय से बहुत दूर जा पड़ता है। एक दैनिक-पत्र के अग्र-लेख में पढ़ा था—'कठोरतम शब्दों में इसकी निन्दा नहीं की जा सकती।' इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि कठोर या कठोरतर शब्दों में भले ही निन्दा की जा सकती हो, पर कठोरतम शब्दों में नहीं की जा सकती। वस्तुतः यह अँगरेजी की जिस वाक्य रचना का अनुकरण है, उसका वास्तविक आशय यह है कि इसकी पूरी-पूरी निन्दा कठोरतम शब्दों में भी नहीं हो सकती; या कठोरतम शब्द भी इसकी पूरी निन्दा करने में असमर्थ होंगे। एक और समाचार-पत्र में छपा था—इन सब स्थानों पर अपने ढंग से उत्सव मनाया गया था! पर इस वाक्य में 'अपने ढंग से' का कुछ भी अर्थ नहीं है। यह अँगरेजी की जिस वाक्य-रचना की नकल है, उसका वास्तविक आशय है—निराले ढंग से। 'आपने अपने अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए कहा।' का क्या अर्थ है? पर हम अर्थ का विचार किये बिना ही अँगरेजी का अनुकरण करके प्रायः

वास्तविक आशय और अभिप्राय से बहुत दूर जा पड़ते हैं।

अँगरेजी की कृपा से हिन्दी में जो अनेक भद्दे प्रयोग प्रचलित हो गये हैं, उनमें एक मुख्य प्रयोग है—माँग करना। आज-कल समाचार-पत्रों में इस भद्दे प्रयोग की भर-मार दिखाई देती है। 'बच्चा मांस भोजन की माँग करता है' और 'अब वे लोग भी अपने अधिकार की माँग करने लगे हैं' सरीखे प्रयोग नित्य देखने में आते हैं। कुछ लोग तो इस भद्दे प्रयोग के इतने अधिक अभ्यस्त हो गये हैं कि—'वहाँ उन लोगों ने सभा करके अपनी शिकायतों की माँग की' आदि तक लिख जाते हैं। पहले तो 'माँग करना' ही सीधे-सादे 'माँगना' के सामने भद्दा है। तिस पर 'शिकायतों की माँग की' का तो कुछ अर्थ ही नहीं होता। इस 'माँग करना' से हिन्दी का जितनी जल्दी पीछा छूटे' उतना ही अच्छा है। इसी से मिलता-जुलता दूसरा भद्दा प्रयोग है—भाग लेना। यह प्रयोग भी वाक्यों में, प्रायः बहुत ही भद्दे और निरर्थक रूप में, लाया जाता है। जैसे—'आपके भाषण में भाग लेने के लिए बहुत-से मुसलमान भी आये थे।' एक तो 'भाग लेना' यों ही हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध प्रयोग है; तिसपर किसी के 'भाषण में भाग लेने' का तो कुछ अर्थ ही नहीं होता। यह प्रयोग भी त्याज्य है। एक बहुत चलता हुआ 'गलत' शब्द है जिसके अनेक ऐसे प्रयोग होते हैं जो सरासर गलत हैं। जैसे—'उस पर गलत बोझ डाला गया है', 'अगर मैं गलत नहीं हूँ', 'सब लोग तुमको गलत समझ सकते हैं, पर मैं तुम्हें गलत नहीं समझ सकता' आदि। अन्तिम वाक्य में लेखक का अभिप्राय यह है कि और लोगों का तुम्हारा उद्देश्य समझने में भ्रम हो सकता है, पर मुझे नहीं हो सकता। 'तुम्हारा सब काम गलत होता है' भी ठीक नहीं है। होना चाहिए—'तुम्हारे सब कामों में गलतियाँ होती हैं' या 'तुम्हारा कोई काम ठीक नहीं होता'।

एक बार हमें एक निमंत्रण-पत्र मिला था, जो इस प्रकार छपा था—"श्रीयुक्त......प्रार्थी हैं श्री......जी की उपस्थिति के उनके पुत्र चि०... के यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर .....पर उनके निवास-स्थान पर....... स्वीकृति......के पास वांछनीय।" इसमें का एक भी वाक्य हिन्दी की प्रकृति

के अनुरूप नहीं है। सभी वाक्य अँगरेजी साँचे में ढले हुए और अँगरेजी निमंत्रण-पत्रों के अन्ध अनुकरण हैं। वाक्यों की इस प्रकार की ढलाई और ऐसा अन्ध अनुकरण हिन्दी के लिए बहुत ही घातक है। हमें सदा अपने वाक्यों की रचना अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप करनी चाहिए। 'ऐसा सोचना भी ठीक नहीं है, यदि कोई ऐसा सोचता हो कि राष्ट्रीयता का प्रचार हमारे धार्मिक जीवन का अन्त कर देगा।' अँगरेजी की छाया से कलुषित वाक्य है। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार इसका ठीक रूप होगा—'यदि कोई यह सोचता हो कि......तो उसका सोचना ठीक नहीं है।' यहाँ हम इस प्रकार के कुछ और ऐसे वाक्य देते हैं, जो हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध और अँगरेजी की छाया से बुरी तरह कलुषित हैं।

१—क्या इस बात का अनुभव भी कहीं हिन्दी साहित्य ले रहा है?

२—युग के बीच में आज नवीन धारा में अपनी कृतियाँ लेकर उन्नत है।

३—उसने जानकार क्षेत्रों को रहस्य में डाल दिया है।

४—वह अपनी लड़की के लिए कह उठे। (अँगरेजी और बँगला दोनों की छाया)

५—हम प्रभाव के व्यक्तियों से बराबरी के दावे से नहीं मिलते।

६—वह समझता, फिर आदमी ही आदमी में क्या सौंदर्य है।

७—वह नहीं चाहता था कि अपने शब्द व्यय करे।

८—उतनी ही निन्दा उस स्त्री की उसकी सास द्वारा की गई सुनी है।

९—यह खत तुम्हें पा जाय तो उत्तर अवश्य देना।

१०—वहाँ फूलों की प्रदर्शिनी बुलाई जानेवाली है।

११—उनके आश्चर्य को सन्तुष्ट करते हुए कहा......।

१२—हम एक शपथ के नीचे इकट्ठे हुए हैं।

१३—मंत्री ने दरबार में ऊँची मराठी में एक लम्बा भाषण दिया।

१४—परमाणु बम ने मानवता पर पराजय बोल दी है।

१५—वे बर्बरतापूर्ण रूप से लड़ सकते हैं

१६—पंजाब में मुस्लिम लीग का नेतृत्व अस्वीकारता का एक ऐतिहासिक तथ्य बन चुका है।

१७—यह एक दयनीय राजनीतिक व्यंग्य है।

१८—एक मुसलमान अपने घर में मृत्यु का जाल बनाकर कफन का कपड़ा लेने गया।

१९—श्री अलेकजेंडर का रुख भारत की अखंडता के पक्ष में निर्णायक रहा।

२०—कांग्रेस को अपनी घोषणाओं के विरुद्ध जाना पड़ेगा।

२१—इसके पीछे बहुत-से इंजीनियरों का अनुभव है।

२२—उन्होंने भारत सरकार को एक बार हिन्दू सरकार कहकर पुकारा था।

तात्पर्य यह कि इस प्रकार के बहुत-से भद्दे प्रयोग हमारी भाषा पर नित्य बहुत अधिक संख्या में लदते जा रहे हैं। ऐसे प्रयोग हम हजम नहीं कर सकते; इसलिए हमारी भाषा का शरीर अजीर्ण से जर्जर हो रहा है।

ऐसी वाक्य-रचना भी अँगरेजी की छाया से कलुषित है—'इसमें महायानीय लक्षण हैं, यद्यपि यह हीन यानवालों के लिए लिखा गया था।' और 'समीक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, अपेक्षाकृत संगति के।' अँगरेजी का कुछ इसी प्रकार का प्रभाव इन वाक्यों पर भी दिखाई देता है—'इससे ज्यादा जानकारी किसी के पास नहीं थी।' 'विजय का भरोसा हमारे पास है।' 'वह चाहता था कि कुछ समाधान उसके पास आये।' 'उसके पास नींद आ गई।' और 'उसने ललित कला में विशेष अभिरुचि पाई है।'

आज-कल कुछ लोग ऐसे स्थलों पर भी अँगरेजी के 'बिकॉज' (because) के कारण 'क्योंकि' का प्रयोग करते हैं, जहाँ केवल 'कि' होना चाहिए जैसे—

१—मैं इसी लिए बोला, क्योंकि मैं समझता था।

२—पाँच व्यक्तियों को इस कारण कारावास का दंड मिला, क्योंकि...।

३—मैं इसी लिए वहाँ नहीं गया था, क्योंकि...।

४—पैसा इसीलिए नहीं है, क्योंकि लोग बे-रोजगार हैं।

इसी से मिलता-जुलता 'जब कि' का भी प्रयोग है। जैसे—'अतीत युगों के चित्र परिपूर्ण थे, जब कि वर्त्तमान युग के चित्र अपूर्ण हैं।' हिन्दी की प्रकृति के अनुसार इसमें 'जब कि' की जगह 'परन्तु' होना चाहिए।

उपन्यासों आदि में पात्रों की बात-चीत पर भी, जिसे संलाप या कथोपकथन कहते हैं, अँगरेजी का प्रभाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। जैसे—

'तुम्हारी यही लियाकत है!' मालिक ने डाँटा। 'जाओ, दूर हो।'

'छुट्टी पर जा रहा हूँ'—विनोद ने बिस्तर इक्के पर रखते हुए कहा। 'अब मुझे फुरसत ही फुरसत है।'

'आप कौन हैं?' पूछा नीहार ने।

कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रकार की वाक्य-रचना से भाषा में कुछ जोर आ जाता है। हो सकता है कि कुछ विशिष्ट अवसरों पर इससे जोर आता हो; अथवा बातों का सिलसिला मिलाये रखने के लिए भी इसका कुछ उपयोग होता हो; पर कहानियों या उपन्यासों में आदि से अन्त तक सब जगह इसी प्रकार की रचना परम परकीय और फलतः त्याज्य है।

प्रायः लोग वाक्य में कोई कठिन शब्द या पद रखने के बाद कोष्ठक में उसकी व्याख्या कर देते हैं अथवा उसके लिए कोई सरल शब्द या पद रख देते हैं। पहले तो ऐसा करना इसी लिए अनुचित है कि हम एक ही शब्द या पद दो बार लिखते हैं, एक बार कठिन रूप में और दूसरी बार सरल रूप में। क्यों न पहले ही सरल रूप में लिखा जाय? पर हँसी तब आती है, जब हम पहले तो सरल शब्द देखते हैं और तब उसे स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में दिया हुआ कठिन शब्द। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'कम्पनी के सदर दफ्तर (हेड आफिस) से यह आज्ञा आई है।' मानों जन-साधारण के लिए 'सदर दफ्तर' समझना कठिन हो और 'हेड आफिस' समझना सहज। यदि कठिन हैं तो दोनों समान रूप से कठिन हैं। इससे भी आगे बढ़ जानेवाले वे लोग हैं, जो इस प्रकार के वाक्य लिखते हैं—वहाँ चमड़ा कमाने के बड़े-बड़े कारखाने (Tanneries) हैं।

कुछ लोग अपने लेखों में अँगरेजी वाक्यों के ज्यों-के-त्यों रूप रख देते हैं। अनुवाद के समय ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक लिखने के समय भी

यही बात होती है। लोग पहले हर बात अँगरेजी में सोचते और तब हिन्दी में लिखते हैं। जब एक नेता के अस्वस्थ होने का अँगरेजी ढंग का समाचार आया, तब एक समाचार-पत्र में एक टिप्पणी में वाक्य-विन्यास लिखा था—'आप जेल में बुरी तरह अस्वस्थ हैं।' मानों संपादक महोदय चाहते थे—'आप जेल में अच्छी तरह अस्वस्थ हों।' उक्त वाक्य का 'बुरी तरह' सिर्फ अँगरेजी के Badly की कृपा से आया है, जो बहुत ही भद्दा है। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'नवाबजादा लियाकत अली को एक गुप्त सर्कुलर निकालने का सम्मान दिया जाता है।' केवल अँगरेजी साँचे में ढला होने के कारण वाक्य कितना भद्दा और निरर्थक हो गया है! यदि इसमें 'सम्मान' की जगह 'श्रेय' होता, तो भी वाक्य कुछ ठिकाने का हो जाता। एक और वाक्य है—'उसका यह वश नहीं है कि सौ रुपये मेरी माँग के विरोध में अपने पास रोक रखे।' वस्तुतः लेखक का आशय है—'ऐसा नहीं हो सकता कि वह मेरे माँगने पर भी सौ रुपये मुझे न दे।' पर दिमाग में घुसी हुई अँगरेजियत ने वाक्य कितना भद्दा और दुर्बोध कर दिया है और उसे हिन्दी की प्रकृति से कितनी दूर जा पटका है! इसी प्रकार का एक और वाक्य है—'आप मेरे नाम के खिलाफ यह रकम न लिखें।' यह 'नाम के खिलाफ' अँगरेजी के 'अगेन्स्ट माई नेम' (against my name) का अविकल अनुवाद है। हम लोग किसी के खिलाफ कोई कार्रवाई तो जरूर करते हैं और किसी के खिलाफ कोई मुकदमा भी दायर करते हैं, पर रकम लिखते हैं सिर्फ 'किसी के नाम'; किसी के नाम के खिलाफ' नहीं।

प्रायः समाचार-पत्रों में रहता है—'आपने और कहा......।' या 'आपने आगे चलकर यह कहा।' यह अँगरेजी further का अनुकरण है। होना चाहिए—'आपने यह भी कहा'। इसी प्रकार—'इस प्रतिज्ञा में हमें अपनी आवाज जोड़ते हुए गर्व होता है' और 'उसने हँसते हुए जोड़ा' में 'जोड़ा' अँगरेजी 'एडेड' (added) से लिया गया है। यदि यही क्रम चलता रहा तो शायद लोग इस प्रकार के वाक्य भी लिखने लगेंगे—'आपकी कलम इस तरह दौड़ती है' (runs thus); और 'यह अन्तर का एक ढेर

बनाता है' (It makes a lot of difference)।

कभी-कभी हम अँगरेजी प्रभाव के कारण अपने वाक्यों का बिलकुल अनावश्यक विस्तार भी कर जाते हैं या उन्हें जटिल, अस्पष्ट और भद्दा कर देते हैं। जैसे—'जिज्ञासा पंख उठाती है।' 'वह अपने को पिता के घर से तोड़कर भाग आया था।' 'मेरी पत्नी तुम्हारे पत्रों की मित्र हो गई है।' 'वास्तव में उनकी उपस्थिति का अनुभव जनता की आम तौर से एक दम गरीब लोगों की प्रतिक्रियाओं ने कराया है।' 'उसका जी यह सब देखकर खिल पड़ने को मानों लाचार ही हो गया।' आदि। 'कुंभ के अवसर पर उन्होंने अपने आपको प्रयाग में पाया।' से तो यही जान पड़ता है कि शायद वे मोटर के धक्के से गिरकर बेहोश हो गये थे; और जब उन्हें होश आया, तब उन्होंने अपने आपको प्रयाग में पड़े हुए पाया। 'भारत स्वतंत्रता-प्राप्ति के कष्टों से गुजर रहा है।' में एक तो 'कष्टों से गुजरना' कोई शिष्ट और सार्थक-प्रयोग नहीं है। दूसरे इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि भारत को स्वतंत्रता मिल चुकी है और स्वतंत्रता मिलने पर कष्ट होते ही हैं। इस प्रकार के वाक्य बहुत सहज में, बहुत थोड़े परिवर्तित रूप में और बहुत ही स्पष्ट करके लिखे जा सकते हैं।

वाक्यों का अनावश्यक विस्तार

अँगरेजी के प्रभाव का यहीं अन्त नहीं होता। पूर्वी भारत का असम प्रदेश अँगरेजी की कृपा से सारे देश में 'आसाम' कहलाने लगा है। कलकत्ते और बम्बई को हम लोग 'कैलकटा' और 'बॉम्बे' कहने लगे हैं। स्वयं युक्त प्रान्त के समाचार-पत्र अपने यहाँ के 'हापड़' नगर को प्रायः 'हापुड़' लिखते हैं। 'त्रिपुरा' अब 'टिपरा' क्या बल्कि 'टिपारा' तक हो गया है। एक दैनिक-पत्र में कश्मीर के प्रसिद्ध नगर 'बारामूला' की जगह कुछ सप्ताहों तक 'बड़ा मुल्ला' छपता रहा। कुछ दिन पहले समाचार-पत्रों में सिन्ध के जिन 'हूरों' के उपद्रवों का प्रायः उल्लेख रहता था, वे वस्तुतः 'हूर' नहीं, बल्कि 'हुर' हैं। लोग इड़ा सरकार को आइड़ा सरकार, यूथिका राय को जुथिका राय, कपिला देवी को कापिला देवी, मि० ताम्बे को

अँगरेजी के कारण नामों की दुर्दशा

मि० टेम्वे, गिरेन्द्र को गिरेन्द्रा और पटेल को पाटिल लिख जाते हैं। बंगाली लोग 'रमला' का उच्चारण कुछ 'रमोला' से मिलता-जुलता, 'कणिका' का 'कर्नाका' से मिलता-जुलता और 'मणिका' का 'मोनिका' से मिलता-जुलता करते हैं। अँगरेजी में ये नाम लिखे हुए देखकर हम भी लिख जाते हैं— रमोला देवी, कर्नाका राय और मोनिका देसाई। 'तरुण बैनर्जी' को हम 'तारुन बैनर्जी' बना देते हैं। 'सती अनुसूया' की जगह कहीं 'सती अनुसुइया' तक छपा हुआ हमने देखा है। किसी जमाने में उर्दू-फारसी के प्रभाव के कारण हम 'संयोगिता' को 'संयुक्ता' और 'संजुक्ता' लिखते थे। पर बच्चों की आज कल की एक पाठ्य-पुस्तक में भी हमें 'संयुक्ता' मिला ! पहले हम उर्दू के प्रभाव के कारण अपने नाम 'हौसिला परशाद' और 'कहकहा परशाद' रखते और 'लालता परशाद' लिखते थे। उससे पीछा छूटने पर आज-कल अँगरेजी के प्रभाव से हम लोग स्वस्तिक को स्वास्तिका, श्रीवास्तव को श्रीवास्तवा और सत्य को सत्या पुकारने लगे हैं। दो एक जगह हमने 'दत्त' की जगह 'दत्ता' और 'गोत्र' की जगह 'गोत्रा' तक लिखा हुआ देखा है। यह तो पराये और ऐसे नामों की बात है जिनसे हम परिचित न होने का उज्र भी कर सकते हैं। पर जब हम अपने ही नाम बिगाड़ने लगते हैं, तब क्या कहा जा सकता है? हम अपने नाम-पटों पर 'शुक्ला कम्पनी', 'मिश्रा ब्रदर्स', 'मित्रा भंडार', 'गुप्ता स्टोर' आदि लिखने लगे हैं। हम नहीं सोचते कि 'शुक्ला' 'गुप्ता' और 'दत्ता' वास्तव में 'शुक्ल' 'गुप्त' और 'दत्त' के स्त्रीलिंग रूप हैं। और सीधे-सादे 'सिंह' शब्द के स्थान पर 'सिनहा' तो मानो देशव्यापी प्रचलन पा गया है। यह है अँगरेजी की कृपा से होनेवाला हमारा सांस्कृतिक पतन !

अब जरा मराठी प्रभाव की ओर ध्यान दीजिए। हिन्दी में 'लागू' और 'चालू' तो उसी समय से चलने लग गये थे, जब सन् १९०७ में नागपुर से स्व० पं० माधवराव जी सप्रे ने 'हिन्दी केसरी' निकाला था। ये शब्द हमारे यहाँ इसलिए बहुत सहज में खप गये थे कि हमारे यहाँ इसी तरह के 'काटू', 'घोंटू' आदि शब्द प्रचलित थे। अर्थात् ये शब्द हमारी प्रकृति के कुछ अनुरूप थे। परन्तु जब मराठी से हिन्दी में अनुवाद होने लगे और कुछ

मराठी की छाया •

महाराष्ट्र सज्जन कृपाकर हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुए, तब हमारी भाषा पर मराठी की छाया बढ़ने लगी। मराठी की कृपा से आज-कल हिन्दी में आभार, प्रगति, प्रश्रय आदि शब्द खूब चल पड़े हैं। मध्य प्रदेश की भाषा पर तो थोड़ा-बहुत मराठी प्रभाव पहले से था ही; अब वह प्रभाव हमारी समस्त भाषा पर पड़ता हुआ दिखाई देता है। अब हिन्दी में मर्दाई' (मर्दानगी) 'भागीदारी' और 'तनखा' (तनखाह) सरीखे शब्द और रूप भी धीरे-धीरे आने लगे हैं। एक जगह पढ़ा था—'जब सूद की दर उतर जाती है, तब कहा जाता है कि नाणा सस्ता हो गया।' (मराठी में 'नाणा' सिक्के को कहते हैं।) महाराष्ट्र लोग जब बाजार में जाते हैं, तब दूकानदार से कहते हैं—'कोई अच्छी धोती बताओ' (दिखलाने के अर्थ में)। मध्य प्रदेश में भी 'अँगूठा बताना' ('दिखाने' के अर्थ में) सरीखे प्रयोग प्रचलित हैं। पर अब यह 'बताना' धीरे-धीरे हमारी साहित्यिक भाषा में भी आने लगा है। जैसे—'उन्होंने कई बड़े-बड़े मुकदमे जीतकर बताये थे।' इससे भी विलक्षण एक और वाक्य किसी दैनिक में देखा था, जो इस प्रकार था—'ये शब्द नेताजी के भतीजे श्री अरविन्द वसु के हैं, जो कल उन्होंने यहाँ बताये।'

मराठी की छाया से कलुषित कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. इस बार हम लोग सब झंझट उन्हीं के सिर ठेलकर हट न जायँगे, और अपना बकाया माँगते बैठेंगे।

२. उसका वह अंश निकाल दिया देखने में आया।

३. वे दूसरों को उपदेश देते हैं, पर खुद ने उस उपदेश के विरुद्ध आचरण करते हैं।

४. यह जाहिरात आपकी आशा पूरी करेगा। ('जाहिरात' मराठी में विज्ञापन को कहते हैं।)

५. मित्र सेनाओं को भागते आफत पड़ी थी।

६. वे इन्दौर राज्य के वजनदार विद्वान् हैं।

७. स्विटजरलैंड में रहे एक बैरिस्टर बन्धु ने जेल में मुझे सलाद खिलाया था।

८. वे बारहवीं शताब्दी में हुए दीखते हैं।

९. उस भाषण में कोई भी बात नहीं रहने वाली हो, ऐसी नहीं है।
१०. लड़की को किसी गाँव में भेज दिया गया बताया जाता है।
११. तरुण स्त्री पुरुष ने परस्पर की सम्मति से विवाह करना चाहिए।
१२. श्री अणे ने स्थापित यह सिद्धान्त सबको मान्य है।
१३. कहीं तो भी पुस्तक मिल जायगी।
१४. दस रुपये खर्च जाकर बाकी उन्हें दे दिये गये।
१५. उन्होंने काफी परिश्रम किया जान पड़ता है।
१६. हमें तो इसका कुछ भी अर्थ नहीं समझता।
१७. इस पत्र पर से (मराठी 'वरून' का अनुवाद) हम यह समझ सकते हैं कि......।
१८. दुर्घटना घटते बची।
१९. इस साबुन से आपके त्वचा की रक्षा कीजिए।
२०. चाहे किसी भी स्त्री को देवी का पद प्राप्त हो सकता है।
२१. पता चला कि वह अग्नि-कांड न होकर सरकारी कागज जलाये गये थे।

उर्दू की छाया

यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से उर्दू और हिन्दी में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता और यही कहा जाता है कि उर्दू भी हिन्दी का एक रूप अथवा विभाषा ही है, फिर भी कुछ बातों में उर्दू और हिन्दी में कई छोटे-मोटे अन्तर हैं। उर्दूवाले जिस प्रकार अरबी और फारसी से अपने शब्द लेते हैं, उसी प्रकार वे अपने वाक्य के रूप भी यथा-साध्य अरबी और फारसी की वाक्य-रचना के अनुरूप ही रखना चाहते हैं। अरबी और फारसी की प्रकृतियों में बहुत अन्तर है। अरबी सामी परिवार की भाषा है और फारसी हमारे आर्य या संस्कृत परिवार की। संस्कृत से फारसी का जितना सामीप्य और घनिष्ठ संबंध है, अरबी से उसका उतना ही दूरत्व और दुजायगी है। दोनों के इतिहासों में यह विरोध बराबर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। उर्दूवाले अरबी और फारसी के इस अन्तर पर ध्यान न देकर दोनों से अपने शब्द भी लेते हैं और भाव व्यक्त करने की प्रणालियाँ और वाक्य-रचना भी। फिर उर्दू का मूल है तो संस्कृत-

जन्य पुरानी हिन्दी ही; इसलिए उर्दू में हिन्दी, अरबी और फारसी तीनों भाषाओं की अनेक बातों का विलक्षण मिश्रण दिखाई देता है। जिन्हें उर्दू का विशेष अभ्यास होता है अथवा जो उर्दू से अनुवाद करने बैठते हैं, उन पर उर्दू की इन विलक्षणताओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता; और उनकी भाषा अरबी-फारसी की छाया से कलुषित रहती है।

स्व० आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में बतलाया है कि चार बातों में हिन्दी से उर्दू में भिन्नता हो रही है—

'उर्दू वाले एक तो अरबी-फारसी के शब्द तत्सम रूप में लेते हैं। दूसरे, उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिक पड़ रहा है। तीसरे वे सम्बन्ध कारक की विभक्ति का लोप करके उसके स्थान पर ए' की इजाफत करके समस्त पद बनाते हैं। और चौथे, वे कभी-कभी क्रिया को ही कर्त्ता से पहले रखकर अथवा इसी प्रकार के कुछ और परिवर्तन करके अपना वाक्य-विन्यास ही निराला कर लेते हैं।' कुछ हिन्दी लेखकों की कृतियों में ये सब या इनमें से कुछ बातें प्रायः दिखाई देती हैं।

किसी दूसरी भाषा से शब्द लेने में कोई बुराई नहीं। परन्तु वह शब्द-ग्रहण अनावश्यक नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने घर के शब्दों का परित्याग करके और आँखें बन्द करके पराये शब्द लेते चलें, तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात न होगी, प्रत्युत एक प्रकार की आत्म-हत्या होगी। परन्तु खेद तो इस बात का है कि उर्दू का प्रभाव हम पर इतना अधिक पड़ा है कि हम 'सजा' और 'शुरू' को तो सहज समझते हैं और 'दंड' तथा 'आरम्भ' को कठिन। 'मुश्किल' तो हमारे लिए सहज होता है, पर 'कठिन' कठिन ही रह जाता है! हमें 'पृथ्वी' की जगह 'जमीन', 'आकाश' की जगह 'आसमान' और 'अभ्यास' की जगह 'आदत' कहने की आदत पड़ गई है। कुछ लोग सिर, भूख, झूठ, ठंढक और धोखा की जगह उर्दू वालों की देखा-देखी सर, भूक, झूट, ठंडक और धोका तथा 'हजारों' की जगह 'हजारहा' भी लिखते हुए देखे जाते हैं।

यह हमारे दुर्भाग्य का सूचक होने पर भी एक दृष्टि से क्षम्य हो सकता है। परन्तु जब हम अपने यहाँ के सीधे-सादे शब्दों 'चलान' और 'बरात' को 'चालान' और 'बारात' लिखने लगते हैं, तब मानों हम अपनी भाषा और

शब्दों के रूप से बिलकुल अनभिज्ञ होने की घोषणा करते हैं।

उदू के कुछ कवियों ने कुछ तो अपने यहाँ के स्थानिक प्रभावों के कारण और कुछ अपने छोटे-छोटे छंदों के अनुरोध से कुछ क्रियाओं और सर्वनामों के विलक्षण प्रकार से प्रयोग किये हैं। जैसे—

१. घटा की अकु और दाढ़ी बढ़ा की।

२. दिल मिलाकर खाक में ढूँढ़ा किया, खोया किया।

३. एक वह हैं जिन्हें तसवीर बना आती है

४. वर्नः क्या बात कर नहीं आती।

५. उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर।

६. मुझे क्या बुरा था मरना, अगर एक बार होता। आदि।

पर इधर कुछ हिन्दी लेखक भी गद्य में इसी प्रकार के प्रयोग करने लगते हैं। जैसे—'वह बोला किया।' 'तुम देश-देश में भटका किये हो।' 'तुम्हीं बहस में मुझसे सदा जीता किये हो।' आदि। यह ठीक है कि हमारे यहाँ के कुछ प्राचीन काव्यों में भी कहीं कहीं इस प्रकार के कुछ स्थानिक-प्रयोग देखने में आते हैं। जैसे—अन्त राम कहि आवत नाहीं।' इसमें का 'कहि आवत नाहीं' भी ठीक उसी प्रकार का प्रयोग है जिस प्रकार का 'वर्नः' क्या बात कर नहीं आती' में का 'कर नहीं आती' है। कुछ लोग उदू के प्रभाव के कारण लिख जाते हैं—'एक बात आपसे कहना रह गई।' 'यह आशा की जाना ठीक नहीं।' 'यह बात यहाँ नहीं उठना चाहिए थी।' 'उन्होंने चेष्टा करना शुरू कर दी है।' इस प्रकार के प्रयोग भी आधुनिक हिन्दी की प्रकृति और व्याकरण के नियमों के विरुद्ध तथा त्याज्य हैं।

हम अपनी अरजियाँ मुकदमे के फैसले के लिए पेश करने के बदले 'वास्ते इनफिसाल मुकद्दमा' पेश करते हैं; और हमारी अदालतें 'नोटिस निस्बत दिखाने वजह के' जारी करती हैं। हम दूसरों के रुपये 'बाद काटे जाने कुल खरचों के' अदा करते हैं। 'शहर बनारस' के रहनेवाले 'बाद खाना खाने के' 'किनारे दरयाए गंग के' सैर करते हैं, और 'मास नवम्बर १९४३ में' 'सम्पादक नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' को पत्र लिखकर 'सूचना बाबत लकड़ी' या 'नोटिस नीलाम बाट' निकलवाते हैं। हम किसी का परिचय देते समय

'पुत्री श्रीयुक्त द्वारकादास', 'पत्नी श्रीयुक्त नारायणदास', 'पुस्तकालय हिन्दू-विश्वविद्यालय' 'अध्यक्ष हिन्दी विभाग', 'कार्यालय कुल-मन्त्री' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। और 'वास्ते जमा करने ऐसी मिसालों के' हमें 'बगैर किसी की मदद के' 'मेहनत करना पड़ती' है। हम 'सुनहरा खंजर' की जगह 'सुनहरी खंजर' लिखते हैं और 'लेना चाहते हैं' कि जगह 'लिया चाहते हैं' कहते हैं। 'हम आशा करते हैं कि आप अच्छे होंगे।' की जगह 'चाहिए कि आप अच्छे हैं।' भी कहीं देखा गया है। उर्दूवालों की नकल पर हम भी लिख चलते हैं—'कोयलें बोल रही हैं, फूल खिल रहे हैं।' (इस प्रसंग में 'फूल खिले हुए हैं' होना चाहिए।) 'सिर का पल्ला पीछे खिसक रहा।' में 'रहा' वस्तुतः 'गया' की जगह आया है; और 'वह खद्दर का लंबा कुरता पहन रहा था' में 'पहन रहा था' वास्तव में 'पहने हुए था' की जगह आया है और बहुत ही भ्रामक है। 'तुम्हारा पलंग ऊपर बिछ रहा है' में 'बिछ रहा है' आया तो है 'बिछा हुआ है' की जगह, पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय यह है कि पलंग अभी बिछाया जा रहा है।

स्थानिक और प्रान्तीय छायाएँ

दूसरी भाषाओं के प्रभाव के अतिरिक्त हिन्दी पर कई प्रकार की प्रान्तीय छायाएँ भी देखने में आती हैं। जो पंजाबी सज्जन हिन्दी में लिखते हैं, वे प्रायः 'कुछ दिनों से' की जगह 'कई दिनों से' और 'बहुत दिनों से' की जगह 'बहुत देर से' लिखते हुए देखे जाते हैं। 'आपको इस बात का भी कुछ पता है?' में 'पता' शब्द का प्रयोग भी पंजाबी की छाया का सूचक है। यही छाया—मैं पढ़ने से तो नहीं मुड़ता हूँ।' 'उसका जी तो राजी है न?' और 'पहले यह सम्मेलन दिसम्बर में होना (होनेवाला या होने को) था।' में भी दिखाई देती है। 'नहीं केवल देश-काल के आधार पर कहानी लिखी जा सकती और नहीं यह काम पात्रों के आधार पर किया जा सकता है।' में का 'नहीं' वास्तव में पंजाबी 'न ही' का मिला और बिगड़ा हुआ रूप है, और उसके प्रयोग से वाक्य भद्दा हो गया है। बिहारी लेखक लिखते हैं—'चार छटाँक गल्ला प्रति शाम एक आदमी को मिलता है।' 'मैंने उन्हें देखते ही चीन्ह लिया।' और 'इस तरफ वह एक बार भी नहीं

चितई'। मध्य प्रान्तवाले लिखते हैं—'अपन वहाँ नहीं गये थे।' और बंगालवाले लिखते हैं—'वह जाने नहीं सके'।

समय-समय पर समाचार-पत्रों और पुस्तकों में अनेक ऐसे प्रयोग दिखाई देते हैं, जिनपर स्थानिकता की ऐसी छाया होती है जिससे वे व्याकरण के अनुसार अशुद्ध होने के अतिरिक्त बहुत ही भद्दे भी होते हैं। 'इतने तुम आराम से बैठो।' और 'इतने फल तराशकर रखो।' में 'इतने' का प्रयोग 'तब तक' की जगह हुआ है, जो दिल्ली की तरफ की बिलकुल स्थानिक बोल-चाल है। पर अन्तिम वाक्य में 'इतने' कितना भ्रामक है! वह फल के विशेषण के समान जान पड़ता है। 'किन्ने कर दिया।' 'मैंने करा होगा।' आदि भी इसी प्रकार के स्थानिक प्रयोग हैं जिनका प्रचलन नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. वह जब कचहरी जाने लगा, तब कहा...।

२. भूकम्प के धक्के से बहुत से लोग खटिये पर से फेंका गये।

३. जो जहाँ मिला, वह वहीं से पकड़कर रक्षा-गृह में फाँध दिया गया।

४. वे अपनी स्त्री को वहाँ भेजे होंगे और उसे अपराध में शामिल कराये होंगे।

५. वह फफक-फफक कर रोने लगा।

६. वे दक्षिणी ब्राह्मण थे और अनुराधापुर में पढ़े थे।

७. मैना बाई अपना सारा कार्य उन्हीं के सुपुर्द किए थी।

८. किताब तो गुरु जी ने दुबका ली थी।

९. मैंने कुछ उचाट नहीं लिया।

हम स्थानिक प्रयोगों के विरोधी नहीं हैं; परन्तु एक तो ऐसे प्रयोग व्याकरण-सम्मत होने चाहिएँ; और दूसरे सबके समझने योग्य होने चाहिएँ। पर हम देखते हैं कि कुछ प्रचलित स्थानिक प्रयोग बेढंगे और प्रायः भ्रामक होते हैं। यहाँ हम इसी प्रकार के कुछ विशिष्ट प्रयोगों की चर्चा करना चाहते हैं।

एक साधारण शब्द 'और' है जिसका राजस्थानी आदि कुछ प्रांतीय

'पुत्री श्रीयुक्त द्वारकादास', 'पत्नी श्रीयुक्त नारायणदास', 'पुस्तकालय हिन्दू-विश्वविद्यालय' 'अध्यक्ष हिन्दी विभाग', 'कार्यालय कुल-मन्त्री' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। और 'वास्ते जमा करने ऐसी मिसालों के' हमें 'बग़ैर किसी की मदद के' 'मेहनत करना पड़ती' है ! हम 'सुनहरा खंजर' की जगह 'सुनहरी खंजर' लिखते हैं और 'लेना चाहते हैं' कि जगह 'लिया चाहते हैं' कहते हैं। 'हम आशा करते हैं कि आप अच्छे होंगे।' की जगह 'चाहिए कि आप अच्छे हैं।' भी कहीं देखा गया है। उर्दूवालों की नकल पर हम भी लिख चलते हैं—'कोयलें बोल रही हैं, फूल खिल रहे हैं।' (इस प्रसंग में 'फूल खिले हुए हैं' होना चाहिए।) 'सिर का पल्ला पीछे खिसक रहा।' में 'रहा' वस्तुतः 'गया' की जगह आया है; और 'वह खद्दर का लंबा कुरता पहन रहा था' में 'पहन रहा था' वास्तव में 'पहने हुए था' की जगह आया है और बहुत ही भ्रामक है। 'तुम्हारा पलंग ऊपर बिछ रहा है' में 'बिछ रहा है' आया तो है 'बिछा हुआ है' की जगह, पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय यह है कि पलंग अभी बिछाया जा रहा है।

स्थानिक और प्रान्तीय छायाएँ

दूसरी भाषाओं के प्रभाव के अतिरिक्त हिन्दी पर कई प्रकार की प्रान्तीय छायाएँ भी देखने में आती हैं। जो पंजाबी सज्जन हिन्दी में लिखते हैं, वे प्रायः 'कुछ दिनों से' की जगह 'कई दिनों से' और 'बहुत दिनों से' की जगह 'बहुत देर से' लिखते हुए देखे जाते हैं। 'आपको इस बात का भी कुछ पता है ?' में 'पता' शब्द का प्रयोग भी पंजाबी की छाया का सूचक है। यही छाया— मैं पढ़ने से तो नहीं मुड़ता हूँ।' 'उसका जी तो राजी है न ?' और 'पहले यह सम्मेलन दिसम्बर में होना (होनेवाला या होने को) था।' में भी दिखाई देती है। 'नहीं केवल देश-काल के आधार पर कहानी लिखी जा सकती और नहीं यह काम पात्रों के आधार पर किया जा सकता है।' में का 'नहीं' वास्तव में पंजाबी 'न ही' का मिला और बिगड़ा हुआ रूप है, और उसके प्रयोग से वाक्य भद्दा हो गया है। बिहारी लेखक लिखते हैं—'चार छटाँक गल्ला प्रति शाम एक आदमी को मिलता है।' 'मैंने उन्हें देखते ही चीन्ह लिया।' और 'इस तरफ वह एक बार भी नहीं

चितई'। मध्य प्रान्तवाले लिखते हैं—'अपन वहाँ नहीं गये थे।' और बंगालवाले लिखते हैं—'वह जाने नहीं सके'।

समय-समय पर समाचार-पत्रों और पुस्तकों में अनेक ऐसे प्रयोग दिखाई देते हैं, जिनपर स्थानिकता की ऐसी छाया होती है जिससे वे व्याकरण के अनुसार अशुद्ध होने के अतिरिक्त बहुत ही भद्दे भी होते हैं। 'इतने तुम आराम से बैठो।' और 'इतने फल तराशकर रखो।' में 'इतने' का प्रयोग 'तब तक' की जगह हुआ है, जो दिल्ली की तरफ की बिलकुल स्थानिक बोल-चाल है। पर अन्तिम वाक्य में 'इतने' कितना भ्रामक है! वह फल के विशेषण के समान जान पड़ता है। 'किन्ने कर दिया।' 'मैंने करा होगा।' आदि भी इसी प्रकार के स्थानिक प्रयोग हैं जिनका प्रचलन नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. वह जब कचहरी जाने लगा, तब कहा...।

२. भूकम्प के धक्के से बहुत से लोग खटिये पर से फेंका गये।

३. जो जहाँ मिला, वह वहीं से पकड़कर रक्षा-गृह में फाँध दिया गया।

४. वे अपनी स्त्री को वहाँ भेजे होंगे और उसे अपराध में शामिल कराये होंगे।

५. वह फफक-फफक कर रोने लगा।

६. वे दक्षिणी ब्राह्मण थे और अनुराधापुर में पढ़े थे।

७. मैना बाई अपना सारा कार्य उन्हीं के सुपुर्द किए थी।

८. किताब तो गुरु जी ने दुबका ली थी।

९. मैंने कुछ उचाट नहीं लिया।

हम स्थानिक प्रयोगों के विरोधी नहीं हैं; परन्तु एक तो ऐसे प्रयोग व्याकरण-सम्मत होने चाहिएँ; और दूसरे सबके समझने योग्य होने चाहिएँ। पर हम देखते हैं कि कुछ प्रचलित स्थानिक प्रयोग बेढंगे और प्रायः भ्रामक होते हैं। यहाँ हम इसी प्रकार के कुछ विशिष्ट प्रयोगों की चर्चा करना चाहते हैं।

एक साधारण शब्द 'और' है जिसका राजस्थानी आदि कुछ प्रांती

बोलियों में अर्थ होता है—'भी', 'अतिरिक्त' या 'ऊपर से'। जैसे 'यह घोड़ी लँगड़ी तो है ही, कानी और है।' 'हम उधर से और होते जायँगे।' 'और' का ऐसा प्रयोग खटकनेवाला है और कुछ अवसरों पर भ्रामक भी हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार का खटकनेवाला और भ्रामक प्रयोग 'मना' शब्द का भी होने लगा है। साधारणतः 'मना' शब्द का वही अर्थ है, जो हमारे यहाँ के 'वर्जन' का है। कुछ स्थानों में यह अस्वीकृत या इनकार के अर्थ में भी बोला जाता है, परन्तु यह शिष्ट-सम्मत नहीं है। पर अब कुछ लोग साहित्य में भी इसका प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—

१. उनसे सभापति होने के लिए प्रार्थना की गई थी, पर उन्होंने मना कर दिया।
२. सभा से कई बार द्विवेदी जी की सामग्री दिखलाने के लिए कहा गया, पर उसने मना कर दिया।

उक्त दोनों उदाहरणों में लेखकों का ठीक-ठीक आशय प्रकट नहीं होता। इनमें 'मना' शब्द का ठीक अर्थ में और ठीक अवसर पर व्यवहार नहीं हुआ है। मान लीजिए, हम कहते हैं—'वे तो मुझे भी बुलाना चाहते थे, पर मैंने मना कर दिया।' अब आप इसका क्या अर्थ समझेंगे? यही न कि मैंने उनसे कह दिया कि तुम मुझे मत बुलाओ। अर्थात् मैंने उन्हें बुलाने से ही रोक दिया। इस वाक्य से सहसा कोई यह नहीं समझ सकता कि मैंने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। यही बात 'वह तो कह रहे हैं, पर तू ही मना कर रहा है।' के सम्बन्ध में भी है। ऐसी अवस्था में 'मना' शब्द का इस तरह का प्रयोग भ्रामक होता है।

अँगरेजी में प्रायः पत्रों आदि के नीचे पी० टी० ओ० (P. T. O.) लिखने की प्रथा है। यह Please turn over का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है—कृपया पृष्ठ उलटिए। पर कुछ लोग इसका हिन्दी अनुवाद करते हैं—कृपया लौटिए[1]। बात यह है कि कुछ क्षेत्रों में 'उलटना' के लिए

---

१. P. T. O. का इससे भी बढ़कर विलक्षण अनुवाद हमें एक विश्वविद्यालय के ऐसे प्रश्न पत्र में मिला था, जो उसकी कदाचित सबसे बड़ी हिन्दी परीक्षा के

'लौटना' शब्द का भी व्यवहार होता है। जैसे—'वह किताब के पन्ने लौट रहा था।' परन्तु यह प्रयोग बिलकुल स्थानिक है और इसलिए त्याज्य है कि इसका अर्थ ही कुछ और हो जाता है। एक बार एक परम मान्य विद्वान् के मुँह से सुना था—'यदि हमें कोई मारेगा, तो हम भी लौटकर उसे मारेंगे।' इसका यह भी आशय हो सकता है कि अभी तो हम कहीं जा रहे हैं; जब वहाँ से लौटकर आवेंगे, तब हम भी उसे मारेंगे। अतः लौटना का प्रयोग 'वापस आना' तक ही परिमित रखना चाहिए, 'उलटना' के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार 'आलू का साग' भी भ्रामक हो सकता है। यह ठीक है कि कुछ स्थानों में 'तरकारी' का प्रयोग इसलिए निषिद्ध समझा जाता है कि पश्चिम में 'तरकारी' पकाये हुए रसेदार मांस को भी कहते हैं; पर अन्य भाषा-भाषी 'आलू' के साथ 'साग' देखकर उसे भी मरसे, चौलाई या सरसों आदि के सागों की तरह का कोई 'साग' समझ सकते हैं।

यह हिन्दी का सौभाग्य है कि वह अनेक ऐसे प्रान्तों में भी लिखी-पढ़ी और बोली जाती है, जिनमें वह साधारण बोल-चाल की भाषा नहीं है; जैसे पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, मदरास आदि। यदि ऐसे प्रान्तों के वे निवासी हिन्दी लिखने में भूल करें जो हिन्दी के क्षेत्र में नवागंतुक होते हैं और लेखक बनने का दावा नहीं करते, तो वे हर तरह से क्षम्य ही हैं। बल्कि क्षम्य क्यों, उन्हें तो अभिनन्दनीय समझना चाहिए। कुछ दिन हुए, हमारे हाथ एक विज्ञापन पड़ा था, जिसका आरंभ इस प्रकार था—'इस बीसवीं शताब्दी में शास्त्रीय संशोधन रूपी फल (प्रगति) सीमा पहुँच गई। घर बैठे अपन दुनियाँ के सुन्दरों का मधुर अलाप व ताजी खबरें सुनते। विद्युल्लते की रंग बेरंगी शोभा तथा बहुरंगी पराक्रम देखते। महासागर में प्रसाद रूप नौका भूमि पर अजस्र यांत्रिक तोफा (इसे भूल से तोहफा न समझ लीजिएगा, यह

परीक्षार्थियों के लिए था। उसमें एक पृष्ठ की समाप्ति पर नीचे लिखा था—उलटाओ। शायद परीक्षक महोदय अथवा विश्वविद्यालय के वे अधिकारी, जिनकी देख-रेख में वह प्रश्नपत्र छपा था, यह नहीं जानते थे कि 'उलटाना' (या उलटवाना) वास्तव में 'उलटना' का प्रेरणार्थक रूप है।

'तोप' का मराठी बहु० रूप है।) वेगवान हौद (टैंक के लिए, कितना सुन्दर शब्द गढ़ा है!) आकाश में उड़ते किज़े वगैरों से युद्ध याने त्याज्य दंतकथा सत्य रूप में गोचर है।'

यह विज्ञापन पढ़कर हमें इस दृष्टि से बहुत प्रसन्नता हुई थी कि एक मराठी-भाषी सज्जन ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा मानकर उसमें कुछ लिखने का प्रयत्न तो किया है। इस पुस्तक का पहला संस्करण देखकर मदरास प्रान्त के एक सज्जन ने लिखा था—'इस प्रांत में इसके लिए आवश्यक खटक रहा था। आपने पूरा किया।' ऐसे लोगों की भूलों पर ध्यान न देकर हमें उनका आदर और अभिनन्दन करना चाहिए। परंतु जो लोग हिन्दी-भाषी हैं और हिन्दी के लेखक बनने का दावा करते हैं, उनसे यह आशा भी अवश्य की जाती है कि वे अशुद्ध, भद्दी और भ्रष्ट भाषा लिखकर हिन्दी का कलेवर क्षत-विक्षत न करेंगे। हिन्दी लिखने का अधिकार सबको है, परंतु उसका स्वरूप विकृत और कलेवर कलुषित करने का अधिकार किसी को नहीं है।

[१२]

समाचार-पत्रों की हिन्दी

समाचार-पत्रों का महत्त्व—हिन्दी पत्रों के सम्पादक—पत्रों में भाषा की दुर्दशा—अँगरेजी ढंग का भाव-व्यंजन—अनर्थक शब्द-योजना—पत्रों में शीर्षक—अनेक प्रकार के अनुवाद—हिन्दी संवाद समिति—विज्ञापनों की भाषा।

आधुनिक युग में समाज और राष्ट्र के जीवन में समाचार-पत्रों का बहुत ही विशिष्ट और ऊँचा स्थान है। समाचार-पत्र मानों अपने देश की सभ्यता, संस्कृति और शक्ति के प्रतीक होते हैं। जिस देश में जितने अच्छे और जितने अधिक समाचार-पत्र होते हैं, वह देश उतना ही उन्नत और प्रभावशाली समझा जाता है। बहुत-से क्षेत्रों में जो काम समाचार-पत्र कर जाते हैं, वह बड़ी-बड़ी सेनाएँ और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी नहीं कर पाते। समाचार-पत्र एक ओर तो जनता का मत सरकार और संसार पर प्रकट करते हैं; और दूसरी ओर देश में सुदृढ़ और संपुष्ट लोक-मत तैयार करते हैं। देश को सब प्रकार से जाग्रत और सजीव रखने में जितनी अधिक सहायता समाचार-पत्रों से मिलती है, उतनी शायद और किसी चीज से नहीं। इसी लिए आज-कल समाचार-पत्रों का इतना अधिक महत्त्व है।

समाचार-पत्रों का महत्त्व

हमारे देश में भी बहुत-से समाचार-पत्र हैं; और हमारे राष्ट्र की भाषा हिन्दी में भी उनकी दिन-पर-दिन वृद्धि और उन्नति होती जा रही है। जहाँ आज से तीस-चालिस वर्ष पहले नाम मात्र को एकाध दैनिक पत्र निकलता था, वहाँ अब दैनिक पत्रों की संख्या कोड़ियों तक पहुँच रही है। सामयिक और मासिक पत्रों की संख्या में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है। यह वृद्धि और उन्नति हिन्दी के लिए भी शुभ है और देश के लिए भी। यह स्थायी साहित्य के निर्माण में भी बहुत अधिक सहायक हुई है और जन-साधारण को जागरित और उनकी रुचि परिष्कृत करने में भी। इससे हिन्दी के प्रेमियों

और पाठकों की संख्या में जो वृद्धि हो रही है, वह अलग। इन दृष्टियों से पत्र-पत्रिकाओं का देश बहुत ऋणी और कृतज्ञ है।

परन्तु जहाँ महत्त्व की वृद्धि होती है, वहाँ उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे पत्रकारों का उत्तरदायित्व भी बहुत अधिक है। अनेक दृष्टियों से बहुत से पत्रकार अपना उत्तरदायित्व बहुत कुछ समझने लगे हैं; और अपने ऊपर पड़े हुए इस भार का वहन बहुत अच्छी तरह करने लगे हैं। परन्तु जब हम अपने यहाँ के समाचार-पत्रों की भाषा के क्षेत्र पर निगाह डालते हैं, तब वहाँ हमें बहुत बड़ी अराजकता फैली हुई दिखाई देती है। अधिकतर समाचार-पत्रों की भाषा देखते हुए हमें विवश होकर यही कहना पड़ता है कि भाषा की शुद्धता और सौन्दर्य पर दृष्टि रखनेवाले पत्रकार बहुत ही थोड़े हैं—शायद दाल में नमक के बराबर!

समाचार-पत्र देश के सभी भागों से निकलते हैं और उनके सम्पादकीय विभाग में अधिकतर नये-नये लोग ही काम करते हैं। फिर समाचार-पत्रों और विशेषतः दैनिक समाचार-पत्रों में काम करनेवालों के लिए एक और कठिनता होती है। उन्हें अधिकतर अनुवाद करना पड़ता है, और वह भी बहुत ही जल्दी में। आज का काम किसी प्रकार कल पर छोड़ा नहीं जा सकता। कल तो दूर रहा, आज भी उन्हें अधिक सोचने-समझने का अवकाश नहीं मिलता। उनके सामने जो कुछ आता है, वह सब उन्हें निर्जीव चक्की की तरह पीसकर रख देना पड़ता है। उन्हें यह देखने का भी मौका नहीं मिलता कि जो कुछ हमने पीसा है, वह महीन है या दरदरा, साफ है या कँकरीला। वे जो कुछ उलटा सीधा लिखते या अनुवाद करते हैं वह प्रायः ज्यों-का-त्यों छप भी जाता है। और कभी-कभी इसलिए वह और भी अधिक अशुद्ध तथा भद्दा हो जाता है कि उसका प्रूफ या तो वे स्वयं देखने नहीं पाते, या प्रूफ देखने का काम अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझकर ऐसे लोगों पर छोड़ देते हैं जिन्हें शुद्ध और अशुद्ध का ज्ञान अपेक्षाकृत और भी कम होता है। देश की दरिद्रता और पत्रों के प्रकाशन के मार्ग में पड़नेवाली दूसरी कठिनाइयाँ उन्हें आर्थिक दृष्टि से कभी निश्चिन्त होने ही नहीं देतीं। इन सब बातों का फल यह होता है कि दस-दस और बीस-बीस वर्षों तक सम्पा-

दर्कीय विभाग में काम कर चुकने के बाद भी बहुत-से लोग अन्त में जैसे-के-तैसे और कोरे ही रह जाते हैं। फिर उनकी अधीनता में रहकर काम सीखनेवाले नये लेखकों का तो कहना ही क्या है !

हिन्दी पत्रों का सम्पादन

ऐसे लोग अपने कार्यों में कितने सतर्क रहते हैं, इसके कुछ उदाहरण लीजिए। एक प्रतिष्ठित, बड़े और पुराने दैनिक समाचार-पत्र के साप्ताहिक संस्करण के सम्पादक-मंडल के एक उत्साही सज्जन के दिमाग में यह बात आई कि हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों के चित्र और हस्तलेख प्रकाशित किये जाने चाहिएँ। आरम्भ करने के लिए पहले आप एक ऐसे सज्जन के पास पहुँचे, जो अपने समय के हिन्दी लेखकों में सबसे अधिक मान्य समझे जाते थे। उन सज्जन ने पत्रकार महोदय को अपना चित्र और अपने हाथ से लिखकर एक बहुत पुराने कवि का एक प्रसिद्ध सोरठा दे दिया। परन्तु भ्रम से उसका पहला चरण लिखा गया था सोरठे के रूप में; और दूसरा चरण लिखा गया था दोहे के रूप में ! न तो लेखक महोदय ने यह सोचा कि मैं क्या लिखकर दे रहा हूँ; और न सुविज्ञ पत्रकार महोदय ने यह समझने की कोशिश की कि यह क्या लिखा गया है। ज्यों-की-त्यों उसकी प्रतिकृति छप गई !

एक बार छः पत्रकारों के हस्ताक्षर से आठ वाक्यों का एक छोटा-सा वक्तव्य निकला था, जिसमें के तीन वाक्य अशुद्ध और दो शिथिल थे; और एक वाक्य ऐसा था जो अनिर्वहित होने के कारण कुछ अर्थ ही नहीं रखता था ! एक बार एक प्रतिष्ठित दैनिक में पौन कालम एक समाचार छपा था, जिसमें पचासों भूलें थीं। उसमें के कुछ वाक्य इस प्रकार थे—

"......कुछ सज्जनों के कफ़न के कपड़े के वितरण की दुर्व्यवस्था पर प्रश्न करने पर टाउन रेशनिंग अफसर ने यह निश्चय किया कि पिछले ६ महीनों से जिला तथा शहर में जितनी मौतें हुई हैं तथा अब तक कितने कपड़े दिये गये हैं, उनकी सूची तैयार की जाय, जिससे यह अनुमान निकाला जाय कि कितने कोटे जिला तथा शहर के लिए पर्याप्त होंगे। गाँवों की अधिकांश गरीब स्त्रियाँ कपड़े के बिना बाहर नहीं निकल पातीं जिससे वे अपने रोजगार को भी नहीं कर पाती हैं, देहात की नंगी दशा को देखकर हम लोगों

पत्र की हुई । संवाददाता ने जो कुछ लिखकर ला दिया, वही सम्पादक जी ने आँखें बन्द करके छाप दिया । फिर जब सम्पादक का ध्यान इस ओर दिलाया गया, तब दो दिन बाद उस भूल का सुधार हुआ । एक समाचार-पत्र मे एक टिप्पणी का शीर्षक था—'बर्बरता का अन्त' पर सारी टिप्पणी पढ़ जाने पर पता चला कि सम्पादक ने 'अन्त' का प्रयोग 'पर्यवसान' या 'समाप्ति' के अर्थ में नहीं, बल्कि 'पराकाष्ठा' या 'चरम सीमा' के अर्थ में किया था, जो ठीक नहीं था । एक दैनिक पत्र में पढ़ा था—'बिहार के बेट्टियाह नामक स्थान में......।' जिससे सूचित होता था कि सम्पादक जी प्रसिद्ध वेतिया (नगर और राज्य) के नाम तक से परिचित नहीं हैं ।

एक साप्ताहिक पत्र में किसी के लिखे हुए लेख में पढ़ा था—'मुसलिम लीग नवाबों, जमींदारों, ताल्लुकेदारों और राय बहादुरों की संस्था है ।' न लेखक ने सोचा और न सम्पादक ने कि मुसलिम लीग में राय बहादुर कहाँ से आये । एक समाचार-पत्र में देखा था—'मित्र राष्ट्र चाहते हैं कि थाइलैण्ड अपना यह नाम बन्द कर दे ।' भला इस 'नाम बन्द कर दे' का क्या अर्थ है ? एक और पत्र में पढ़ा था—'नेहरू जी की महाप्रयाण चीन को ।' बेचारे पत्रकार यह नहीं जानते थे कि यहाँ 'प्रयाण' से पहले 'महा' लगकर कैसे अनिष्ट भाव का सूचक हो गया है । और फिर महाप्रयाण को जो स्त्रीलिंग बना दिया गया था, वह अलग । कलकत्ते के एक मारवाड़ी सज्जन के पास बहुत-सी बहुमूल्य प्राचीन पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह है । उनका उल्लेख करते हुए कलकत्ते के एक प्रसिद्ध दैनिक ने लिखा था—'आप महाप्रस्थान करते समय हम लोगों को एक महान् सम्पत्ति दे जायँगे ।' एक और समाचार-पत्र में १५-२० पंक्तियों के अनुवाद में नीचे लिखे कई ऐसे वाक्य छपे थे, जिनका कुछ अर्थ ही नहीं निकलता था । यथा—वीर योद्धा सुभाष ने भारतीय राष्ट्र के जीवन में जो नई प्रेरणा दी थी, उनको भारतीय अनुकरणीय पृष्ठ न बनने दिया जाय ।' 'भारत सरकार इस फौज के सरगना लोगों को कड़ी सजाएँ देकर भारतीय सेनाओं को राज-भक्ति भंग करने का कड़ाई से प्रयत्न करना चाहती थी ।' 'इस तरह भारतीय सेना के भड़काने के पीछे भय उत्पन्न कर देना चाहती थी; और भारतीय सेना की राज-भक्ति को आश्वासन देना चाहती

थी।' एक और पत्र में देखा था—'रस्सी के बदले धोती की सहायता सच्ची जान पड़ती है; और जयप्रकाश बाबू धोती से ही निकले थे, ऐसा विश्वास किया जाता है।' एक बार एक दैनिक पत्र के एक छोटे-से समाचार में नीचे लिखे वाक्य छपे थे—'पुंछ क्षेत्र में शत्रुओं ने गोला फेंकने के लिए तोपों को काम में लाये थे..........हिन्द की फौज को पहाड़ी क्षेत्रों में भारी मुश्किलाहट (!) का सामना करना पड़ा है।' सतर्क पाठक जानते हैं कि इस प्रकार के वाक्यों से युक्त समाचार-पत्रों की हिन्दी में कितनी अधिकता है। फिर भी इस प्रकार की भाषा और बातें लिखनेवाले 'पत्रकार' तो कहलाते ही हैं!

इस सम्बन्ध में एक और विलक्षण बात भी देखने में आती है। कभी कभी ऐसा होता है कि कोई समाचार या वक्तव्य पहले किसी हिन्दी समाचार-पत्र में पढ़ने को मिलता है। पर उसके कुछ अंश ऐसे होते हैं, जिनका कुछ भी आशय समझ में नहीं आता। फिर जब वही समाचार या वक्तव्य अँगरेजी पत्रों में मिलता है, तब कहीं जाकर पहेली सुलझती है। सर जफरुल्ला के एक वक्तव्य का जो उत्तर भारत-सरकार की ओर से दिया गया था (सितम्बर १९४७) उसका एक अंश एक हिन्दी दैनिक में इस प्रकार निकला था—'सर जफरुल्ला की इस धमकी से हम नहीं डरते कि राष्ट्र-संघ में पाकिस्तान-सरकार किसी भी निष्पक्ष न्यायालय द्वारा उनके आरोपों की जाँच में सहायता के लिए तैयार है।' जब बहुत प्रयत्न करने पर भी इसका आशय स्पष्ट नहीं हुआ, तब अँगरेजी पत्र देखने पर पता चला कि इस सारांश में वक्तव्य के जिस अंश की मिट्टी पलीद हुई है, उसका वास्तविक आशय यह है—'सर जफरउल्ला कहते हैं कि यदि भारत-सरकार मुसलमानों की यह हत्या न रोकेगी तो राष्ट्र-संघ से इसकी शिकायत की जायगी। भारत-सरकार का कहना है कि सर जफरउल्ला यदि ऐसा करना चाहते हों तो करें। सर जफरउल्ला के आरोपों के सम्बन्ध में भारत-सरकार किसी निष्पक्ष पंचायत का निर्णय मानने को तैयार है।' अब ऊपर के दोनों अनुवाद पढ़कर देखिए; दोनों में कितना अन्तर है! हिन्दी पत्रकार संघ को इस प्रकार की बातों की ओर ध्यान देना चाहिए।

समाचार-पत्रों के मालिक या व्यवस्थापक भी थोड़े खर्च में काम

निकालने के लिए विवश होते हैं। स्कूल या कालेज से निकला हुआ जो नवयुवक उनके सामने आ खड़ा होता है, प्रायः उसी से वे काम निकालना चाहते हैं और निकालते भी हैं। ऐसे व्यक्तियों ने भले ही थोड़ा बहुत साहित्यिक अध्ययन किया हो, पर उनका भाषा-सम्बन्धी अध्ययन ईश्वर का नाम ही होता है। इसी के साथ दुर्भाग्यवश एक दूसरी बहुत बड़ी बात भी आ मिलती है। सब लोग समझते हैं कि हिन्दी तो हमारी राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा है। अतः हिन्दी लिखने का भी हमें जन्मसिद्ध अधिकार है। ऐसे बहुत-से लोग समझते ही नहीं, बल्कि समय पड़ने पर कह भी बैठते हैं—'हिन्दी क्या है! जो कुछ हम लिखते और बोलते हैं, वही हिन्दी है। आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उसे ही हिन्दी मानेंगी।' भला इसके आगे किसी के कुछ कहने के लिए क्या जगह हो सकती है!

पत्रों में भाषा की दुर्दशा

यही कारण हैं जिनसे आज-कल समाचार-पत्रों के भाषा-क्षेत्र में पूरी अराजकता फैली हुई दिखाई देती है। भाषा की जितनी दुर्दशा आज-कल के समाचार-पत्रों में देखने में आती है, उतनी न तो साहित्य के और किसी क्षेत्र में दिखाई देती है, न किसी दूसरी भारतीय भाषा में। समाचार-पत्रों के सम्पादकीय विभागों से निकले हुए इस प्रकार के लोग जब ग्रन्थकार बनने लगते हैं, तब उस क्षेत्र में भी भाषा की वही दुर्दसा होती है। ग्रन्थ आदि तो अपेक्षाकृत कम ही लोग पढ़ते हैं, पर समाचार-पत्र पढ़नेवाले लोग बहुत अधिक होते हैं। जन-साधारण में बहुत से ऐसे लोग होते हैं जो किताबें तो सारी जिन्दगी में दो-ही चार पढ़ते होंगे, परन्तु समाचार-पत्र प्रायः नित्य पढ़ते हैं। ऐसे लोगों पर अशुद्ध, भद्दी और बे-मुहावरे भाषा का जो बुरा प्रभाव पड़ता है, वह आगे चलकर हमारी भाषा विकृत करने में और भी अधिक सहायक होगा। हम आशा करते हैं कि विशुद्ध हित के विचार से कही हुई हमारी ये बातें हिन्दी पत्रकार विशेष रूप से ध्यान में रखेंगे; और इनसे लाभ उठाकर भविष्य में अपनी भाषा के परिमार्जन का विशेष प्रयत्न करेंगे।

यों तो इस पुस्तक के प्रायः सभी प्रकरणों में समाचार-पत्रों की भाषा-

सम्बन्धी भूलों के अनेक उदाहरण आये हैं, पर इस प्रकरण में हम मुख्य रूप से केवल समाचार-पत्रों से एकत्र किये हुए कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनसे सहज में पता चल जायगा कि समाचार-पत्रों में भाषा की कितनी दुर्दशा होती है। हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि ये सब उदाहरण बिना किसी विशेष प्रयास के, यों ही समाचार-पत्र उलटते समय, एकत्र किये गये हैं। आप भी यदि चाहें तो नित्य और अनायास इस प्रकार के बीसियों उदाहरण एकत्र कर सकते और ऐसे दूषित प्रयोगों से बच सकते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

१—हिन्दू जाति कुछ भी उन्नति न किए पाई।
२—बाढ़ से फसल सर्वनाश हो रही है।
३—सम्राट् ने उनकी बातों को सुन ली।
४—पर दो पुरस्कार एक आदमी को नहीं मिलेगा।
५—कपड़े उतारकर रख दिया।
६—कोटे में मुकदमे चल पड़े।
७—भारत के अन्य प्रान्त अन्न संचय किए हैं।
८—उसने कहा कि मैं चार भाई हूँ।
९—उन्होंने बहुत से ग्रन्थ अनुवाद किये हैं।
१०—जब खेल दिखलायी जा रही थी, तब छत गिर पड़ा।
११—स्टेशन से गाँव तक यात्रियों का तारतम्य नहीं टूटता। आदि।

अनेक अवसरों पर तो वचन और लिंग सम्बन्धी इतनी साधारण भूलें देखने में आती हैं कि समाचार-पत्र पढ़ते-पढ़ते हाथ से फेंक देने को जी चाहता है। जैसे—

१—दिल्ली में दो गिरफ्तारी।
२—४ जरमन जहाज डूबा।
३—५० हजार रुपये और भेजा।
४—उसके सींगें नहीं थीं।
५—रिक्शा की अगली पहिया टूट गई।
६—हमारी शक्ति हमें यह कड़वी घूँट पी लेने का बल देगी। (जरा 'शक्ति ....बल देगी' पर भी ध्यान दीजिएगा)

७— दूसरी फन्दें भी इसी प्रकार गुणकारी हैं।

८—लखनऊ की स्टेशन पर पहुँचकर मैंने देखा।

९—हम नई प्रकार की मृत्यु चाहते हैं।

१०—अमेरिका में गिरफ्तारी—फासिस्ट नेता के कन्या की।

११—सड़कें और नलें फट गईं।

१२—नगर में सशस्त्र पुलिस की गश्त।

१३—काश्मीर का जिच दूर होगा।

१४—६ मई से मुकदमा शुरू, हैरिसन रोड के अपराधियों की। (शीर्षक)

१५—सत्य, अहिंसा से ही कल्याण, विश्व की शोषित जनता की। (शीर्षक)

१६—पुलिस के वेष में डूर, धोखा देकर गाँव लूटी। (शीर्षक)

अन्तिम उदाहरण में यह न समझना चाहिए कि शीर्षक में प्रेस के भूतों की कृपा से 'लूटा' का 'लूटा' हो गया है। असल बात यह है कि उसके ऊपर पहली पंक्ति में जो 'पुलिस' है, उसी ने लेखक को भ्रम में डालकर नीचे 'लूटी' लिखने को विवश किया था। १३ वें, १४ वें और १५ वें उदाहरणों के सम्बन्ध में एक विलक्षण बात यह है कि ये एक ही समाचार-पत्र के एक ही दिन के अंक से लिये गये हैं। कुछ और प्रकार की भद्दी भूलें देखिए—

१—वहाँ खाना कपड़ा और दूसरी सब प्रकार की चीजों की कमी थी।

२—उन्हें केवल सजावट के लिए मैंने यहाँ रख दिए हैं।

३—बंगाल में भूख की व्यापक घटनाएँ।

४—बर्दवान में सड़कों पर लाशों के दृश्य।

५—हर जगह मौत का ताँता।

६—वह लोग कुछ फायदा लेकर दूकानदारों के हाथ बेच देते हैं।

७—युद्ध-काल में उसे पहले के लाभ को देकर घाटे से भी बेचना पड़ेगा।

८—पुलिस में दस हजार रुपये की दगा की रिपोर्ट की गई थी।

९—आर्डिनेन्स के लागू होने की देर नहीं हुई कि लोग भागने लगे।

१०—विशिष्ट दर्शकों में निम्न-लिखित नाम उल्लेख योग्य हैं।

११—वे भर-पूर यत्न में डटे ही हैं।

१२—नानबाई के दुकानदारों ने अपनी दूकानें बन्द कर देने का निश्चय किया है।

१३—वहाँ के निवासियों की रहन-सहन का दरजा ऊपर उठाने का प्रयत्न होगा।

१४—संवर्ष की स्थिति बाढ़ पर है।

१५—उन्होंने राजा रघुनाथराव के विषय की जो कविता की थी, उसे जगद्विनोद में रख दी।

१६—मोटर दुर्घटना में फँसे।

१७—मछली जापानी बमों के शिकार।

१८—कैसिनो में जरमन एक एक भागे

१९—गान्धी जी की जिच हटाने की चेष्टा।

२०—न्यायाधीश ने उसे सात वर्ष की सजा का अधिकारी बनाया।

२१—ऊपर शीर्षक है—'शिमला में गोली कांड' और नीचे समाचार आरम्भ होता है—'शिमले से खबर आई है........।'

समाचार-पत्रों के सम्पादकीय विभाग में काम करनेवाले लोग अँगरेजी से अनुवाद करते करते अँगरेजी भाव-व्यंजन-प्रणालियों के इतने अधिक अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे अपनी वाक्य-रचना अँगरेजी के अँगरेजी ढंग का प्रभाव से किसी तरह बचा नहीं सकते। जो बात बहुत ही भाव-व्यंजन सीधे सादे ढंग से, बहुत ही थोड़े शब्दों में कही जा सकती है, वह भी वे जबरदस्ती इतनी चक्करदार बना देते हैं कि उसमें आवश्यकता से अधिक विस्तार, अस्पष्टता और भद्दापन आ जाता है। उदाहरणार्थ—'उनके जीवित रह सकने की आशा भी बहुत हिम्मत बाँधकर ही की जा रही थी।' यही बात सीधी तरह से इस प्रकार लिखी जा सकती थी—'उनके जीवित रहने की बहुत ही कम आशा रह गई थी।' अथवा 'उनके जीवन से सब लोग निराश से हो रहे थे'। इस प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए—'इस मामले को लेकर नई आशा यह अनुमान नष्ट कर रही है।' 'क्या यदि उसकी इस आशंका के अनुसार ऐसी स्थिति सामने आई तो वह उसे सँभालने का कार्य कर सकती है?' 'वैदेशिक सूत्रों से हाल के सप्ताह

में जो यह नई चर्चा चल खड़ी हुई है......।' 'उस पर इस कर्त्तव्य का भार रखने की योजना की गई थी।' 'उनकी योग्यता ने समुचित रूप का प्रदर्शन किया है।' आदि।

इस प्रकार की बेढंगी भाषा लिखते-लिखते जब लोग और आगे बढ़ते हैं, तब उनकी भाषा में और भी अनेक प्रकार की भूलें आने लगती हैं। अनेक स्थलों पर वे कुछ बँधे हुए शब्दों या पदों का इस प्रकार प्रयोग करने लगते हैं कि मानों वे उनका ठीक-ठीक अर्थ समझते ही नहीं। परिणाम यह होता है कि उनकी वाक्य-रचना उनके मूल आशय से बहुत दूर जा पड़ती है। इस प्रकार का सबसे भद्दा और अशुद्ध वाक्य, जिसे हम अनेक दोषों का अद्भुत आगार कह सकते हैं, एक समाचार-पत्र में इस रूप में मिला था—'इन सब कार्यों के करने का कारण उन अफसरों को बताया जाता है, जिन्होंने अधिक साहस से सीमा पार करके आन्दोलन को कुचला था।' इसमें पहले तो 'कार्यों के करने का' ही विलक्षण है। फिर 'उन अफसरों को बताया जाता है' से सूचित होता है कि दूसरे अफसरों से वह कारण गुप्त रक्खा जाता है—उन्हें नहीं बतलाया जाता। तिस पर 'साहस से सीमा पार करके' ने तो वाक्य को प्रशंसात्मक-सा बना दिया है। 'साहस से सीमा पार करना' तो सदा अच्छा ही काम समझा जायगा। फिर सारा मतलब जो खब्त है, वह अलग। और असल मतलब यह है कि जिन अफसरों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके आन्दोलन को कुचला था, वही इस प्रकार के अनुचित कार्य कर रहे हैं। पर वाक्य से यह अर्थ किसी प्रकार निकलता ही नहीं।

'गाँववालों ने उन्हें अपने खेतों से ईख चुराने की आज्ञा नहीं दी थी।' में 'चुराने की आज्ञा' का क्या मतलब है? क्या किसी की चीज उसकी आज्ञा लेकर चुराई जाती है? या कोई किसी को यह आज्ञा देता है कि तुम हमारी चीज चुरा लो? 'हर देश अपने भाग्य का स्वयं ही अधिष्ठाता है' ('विधाता' होना चाहिए)।

अनर्थक शब्द-योजना

'डालर की दर चोर बाजार में एक हजार से ७२० डालर हो रही है, जब कि सरकारी दर ८० डालर मात्र है।' का तो कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता। होना चाहिए था—७२० से १००० डालर तक।

कोई परिवार रेल से यात्रा कर रहा था। इस सम्बन्ध का एक घटना का उल्लेख एक समाचार पत्र में इस प्रकार हुआ था—'संयोगवश परिवार की एक छोटी लड़की रेल से नीचे गिर पड़ी।' यहाँ 'संयोगवश' कितना खटकता है! 'संयोग' शब्द का व्यवहार या तो प्रायः अच्छी बातों के सम्बन्ध में होता है, या ऐसी बातों के सम्बन्ध में, जो अच्छी न होने पर भी बुरी तो न हों। किसी शोचनीय दुर्घटना के सम्बन्ध में 'संयोग' का प्रयोग ठीक नहीं है। हाँ, यदि किसी बुरी घटना के साथ कोई अच्छी घटना भी आ घटे तो अवश्य वहाँ 'संयोग' का प्रयोग हो सकता है।

एक सामयिक पत्र में एक चित्र का परिचय इस प्रकार छपा था—'बम को बेकार बनाया जा रहा है।' आशय यह था कि बम ऊपर से गिरा है, पर फटा नहीं। यह चित्र उस प्रक्रिया का है, जिससे बम अब बेकार हो जायगा और फटकर हानि न पहुँचा सकेगा। परन्तु स्वयं वाक्य के शब्दों से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि बम व्यर्थ ही बनाया जा रहा है, इसका उपयोग न हो सकेगा। इसे बनाने की सारी मेहनत बेकार होगी। होना चाहिए था—बम बेकार किया जा रहा है।

एक दैनिक पत्र में निकला था—'कोई भी व्यक्ति सोना खाकर जीता नहीं रह सकता।' इस वाक्य में 'भी' का जो प्रयोग है, उसपर 'विभक्तियाँ और अव्यय' शीर्षक प्रकरण में विचार हो चुका है। यहाँ ध्यान इस बात पर देना है कि लेखक का वास्तविक आशय यह है कि यदि आदमी के पास सोना हो तो उसी से उसका निर्वाह नहीं हो सकता; उसे खाने-पीने के लिए अन्न-जल की भी आवश्यकता होगी ही। पर वाक्य के शब्दों से यह अर्थ निकलता है कि सोना किसी तरह का जहर है; और जो उसे खाता है, वह मर जाता है! मुख्य आशय से शब्दार्थ कितना दूर जा पड़ा है! यदि 'जीता नहीं रह सकता' की जगह 'नहीं जी सकता' भी होता तो अर्थ कुछ स्पष्ट हो जाता।

एक समाचार-पत्र में एक समाचार के अन्तर्गत छपा था—'वहाँ के आला औजार नष्ट कर दिये गये।' इसमें 'आला' भी संज्ञा के रूप में और औजार या उपकरण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है; पर यों देखने पर ऐसा जान

पड़ता है कि यह उस अरबी विशेषण के रूप में आया है, जिसका अर्थ होता है—उत्तम या श्रेष्ठ। यदि संज्ञा 'आला' का बहुवचन रूप 'आले' दे दिया जाता और औजार के साथ उसका सम्बन्ध दिखलाने के लिए उसके बाद संयोजक चिह्न लगा दिया जाता तो अर्थ की यह गड़बड़ी न होने पाती।

जब एक बैल-गाड़ी किसी रेल-गाड़ी से टकराकर चकनाचूर हो गई थी, तब एक पत्र में शीर्षक छपा था—'ट्रेन बैल-गाड़ी भिड़न्त।' पर लिखते समय यह नहीं सोचा गया कि भिड़न्त तो बराबरवालों में होती है। ट्रेन के मुकाबले में बैल-गाड़ी क्या चीज है! भला शेर और चूहे में कभी भिड़न्त या टक्कर हो सकती है? ऐसे ही एक और प्रसंग में एक जगह छपा था—रास्ते में एक जगह गाड़ी एक आदमी से टकराते-टकराते बच गई। मानों आदमी के धक्के से स्वयं गाड़ी के उलट जाने का डर हो! यह पढ़कर हमें एक किस्सा याद आ गया। एक आदमी स्टेशन के प्लेटफार्म पर पैर लटकाये बैठा था। जब किसी रेलवे कर्मचारी ने उससे कहा—'हट जाओ, गाड़ी आ रही है।' तब उसने कहा था—क्या गाड़ी मेरे पैर से टकराकर उलट जायगी?

पत्रों में शीर्षक

समाचार-पत्रों में समाचारों, प्राप्त पत्रों तथा टिप्पणियों पर शीर्षक भी लगाये जाते हैं। ये शीर्षक या तो पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए होते हैं, या विषय का परिचय देने के लिए। पर हमारे यहाँ प्रायः शीर्षक भी बे-सिर-पैर के, निरर्थक या उलटे-पुलटे भाव प्रकट करनेवाले होते हैं। 'जवाहरलाल ने जिन्ना से हाथ मिलाया' ऐसा शीर्षक है, जिसमें कुछ दम नहीं है। 'मदनलाल अपने मामा से मिला' भी ऐसा ही बादा और बेदम शीर्षक है। (मदनलाल गांधी हत्याकांड का एक अभियुक्त है।) एक शोकग्रस्त सज्जन ने सहानुभूति प्रकट करनेवाले अपने मित्रों आदि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो पत्र प्रकाशित कराया था, उसका शीर्षक एक सम्पादक जी ने लगाया था—'अनुग्रह-प्रकाश' जिसका उस प्रसंग में कुछ भी अर्थ नहीं होता था। एक और जगह एक शीर्षक देखा था—'भारत के सड़क निर्णय' जिसका कोई विशेष अर्थ नहीं। एक समाचार-

पत्र में ऊपर शीर्षक था—'मद्य-पान-निषेध' और नीचे समाचार था कि अमुक प्रान्त में गाँजे की बिक्री बन्द होनेवाली है। 'रूस में अणु-बम की खोज' से तो यही समझ में आता है कि अणु-बम कहीं खो गया है; और रूस में उसकी खोज हो रही है। होना चाहिए—'रूस में अणु-बम सम्बन्धी अनुसंधान।' महामना मालवीय जी की मृत्यु के दूसरे दिन उनकी रथी के साथ लाखों आदमियों की भीड़ श्मशान तक गई थी। उसके सम्बन्ध में एक पत्र में बहुत मोटे-मोटे अक्षरों में छपा था—दो लाख जन-समूह की अपूर्व (!) श्मशान-यात्रा। अर्थात् सम्पादक जी ने मालवीय जी के साथ दो लाख आदमियों को भी श्मशान पहुँचा दिया था। श्मशान-यात्रा तो उसी की होती है, जिसका शव हो; उसके साथ जानेवालों की नहीं। शव के साथ लोग जो श्मशान तक जाते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारे यहाँ के धर्म-शास्त्रों में 'शवानुगमन' पद का प्रयोग हुआ है। प्रायः समाचार-पत्रों में ऐसे शीर्षक भी देखने में आते हैं, जो वाक्य-रचना की दृष्टि से बहुत ही दूषित और शिथिल होते हैं। जैसे—

१. एलबा पर मित्रों का अधिकार होने की दशा।
२ कांग्रेस जाँच में अभियोगों में सर्वथा निर्दोष।
३. मित्र अगली चौकी का विस्तार।
४. बड़े लाट को डाक्टर महमूद की सफाई।
५. होर्थ की धोखेबाजी ध्वस्त।
६. पश्चिमी मोरचा विगत महायुद्ध की स्थिति में।
७. साम्प्रदायिक उपद्रव बचा।
८. छः मास जल-सेना के गुप्त संकट का फल।
९. बरलिन में आतंक का बोल-बाला।

समाचार-पत्रों में अँगरेजी से जो अनुवाद होते हैं, उनके सम्बन्ध में एक और बात बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है। एक ही वाक्य का दस पत्रों में दस तरह से अनुवाद होता है। यहाँ हम केवल एक उदाहरण देना यथेष्ट समझते हैं। कुछ दिन पहले एक अवसर पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने अँगरेजों और अँगरेजी सरकार को सम्बोधित करते हुए कहा था—'वी हैव

अनेक प्रकार से अनुवाद

हैड एनफ आफ यू। गेट आउट !' स्थानीय 'आज' के साप्ताहिक संस्करण (२९ दिसम्बर, १९४१) में बतलाया गया था कि भिन्न-भिन्न पत्रों ने इस वाक्य के कितने प्रकार के अनुवाद किये थे। नमूने देखिए—

आज (दैनिक)—बहुत हो चुका, अब पधारिए।

भारत—हम आपसे ऊब गये हैं, आप दूर ही रहिए।

राष्ट्र-वाणी—हम लोग आपसे बहुत कुछ पा चुके ; अब आप अपनी तशरीफ ले जायँ।

प्रताप—हमें आपका काफी अनुभव हो चुका है, अब आप निकल जाइए।

आर्यावर्त्त—आपको बहुत देख चुके, अब आप चले जाइए।

अधिकार—हम आपका काफी अनुभव कर चुके हैं, अब आप निकल जायँ।

विश्वमित्र (साप्ताहिक)—हम तुमसे बहुत तृप्त हो चुके, अब अपना रास्ता लो।

वीर अर्जुन—तुमसे भर पाये, निकल जाओ।

राजस्थान—हम आपके साथ बहुत रह चुके, अब बाहर निकल जाओ।

आज (साप्ताहिक)—जनाब बहुत हो गया, क्षमा कीजिए।

कुछ और पत्र—

बहुत हो चुका, अब चलते-फिरते नजर आइए।

बस हद हो गई, अब भाग जाइए।

बस अति हो गई, अब प्रस्थान कीजिए।

तुमसे हमारा मन भर गया है, निकल जाओ।

बहुत हो चुका, अब रास्ता नापिए। आदि।

हिन्दी में होनेवाले विचित्र अनुवादों के उक्त उदाहरण पर विचार करने से कई बातें प्रकट होती हैं। पहली बात तो यह है कि हिन्दी में न तो अनुवाद की और न भाषा की कोई स्थिर शैली है। दूसरी बात यह है कि पं० जवाहरलाल नेहरू का मूल वाक्य जितना जानदार था, उतना जानदार हिन्दी में एक भी अनुवाद न हो सका। नेहरू जी का उक्त मूल अँगरेजी

हिन्दी संवाद-समिति

वाक्य तो अमर हो गया, पर हिन्दी में उसके मुकाबले का कोई ऐसा वाक्य न बना जो उतना सजीव और वैसा अमर होता। हमारी सम्मति में इसका सीधा-सादा, ठीक और चलता हुआ अनुवाद होना चाहिए था—'बस बहुत हो चुका ; अब चले जाइए।' और तीसरी सबसे बड़ी बात जो हमारे ध्यान में आती है, वह यह है कि अँगरेजी समाचार भेजनेवाली संस्थाओं के समान हिन्दी में भी समाचार भेजनेवाली संस्था की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो हिन्दी सारे राष्ट्र की भाषा बनने का दम भरती हो, उसके लिए यह अभाव लज्जाजनक है। यदि हिन्दी में ही समाचार भेजनेवाली कोई संस्था बन जाय तो हिन्दी समाचार-पत्रों के मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाइयाँ सहज में दूर हो जायँ। अँगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए सबको अलग-अलग जो परिश्रम करना और समय लगाना पड़ता है, उसकी बहुत बड़ी बचत हो जाय। वही संस्था अपने यहाँ सुयोग्य अनुवादक रखकर विशुद्ध और निर्दोष भाषा में सब पत्रों के पास समाचार भेजा करे। ऐसी संस्था में काम करनेवाले विद्वान् भाषा का एक अच्छा प्रतिमान उपस्थित कर सकेंगे; और वह प्रतिमान समस्त हिन्दी जगत् के लिए अनुकरणीय होगा।

यह तो सभी लोग जानते हैं कि दक्षिण हैदराबाद में निज़ाम सरकार की कृपा से कुछ दिन पहले उर्दू का प्रचार बहुत जोरों से हो रहा था। उस राज्य में शायद आठ-दस दैनिक पत्र उर्दू में निकलते थे, जो सम्भवतः अब भी निकलते होंगे। जो कठिनाइयाँ हम हिन्दीवालों के सामने हैं, वही सब कठिनाइयाँ उन उर्दू पत्रों सम्पादकों के सामने भी आती रहती थीं। इसलिए वहाँ के सब सम्पादकों ने मिलकर अपना एक मंडल बना रक्खा था। समय-समय पर उस मंडल की बैठकें होती थीं, जिनमें लोग अपनी-अपनी कठिनाइयाँ उपस्थित करते थे और सब लोग मिलकर उन कठिनाइयों से बचने का मार्ग निकालते थे। वहीं बहुत से अँगरेजी शब्दों के लिए उर्दू पर्याय भी निश्चित होते थे, जिनका प्रयोग सब समाचार-पत्र अब तक समान रूप से करते हैं। इस प्रकार वे लोग अपनी भाषा में यथा-साध्य एक-रूपता लाने का प्रयत्न करते थे, जिसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी होती थी। हमारे यहाँ भी हिन्दी पत्रकारों का सम्मेलन होता है; और उस सम्मेलन ने एक पत्रकारोपयोगी कोष

बनवाना भी निश्चित किया है। यदि ऐसे सम्मेलनों के समय सम्पादक लोग मिलकर भाषा संबंधी कुछ प्रश्नों पर भी विचार किया करें, तो इससे बहुत लाभ हो सकता है।

समाचार-पत्रों में विज्ञापन भी रहते ही हैं। विज्ञापन वस्तुतः समाचार-पत्रों के जीवन-निर्वाह में बहुत अधिक सहायक होते हैं। यदि समाचार-पत्रों को विज्ञापन न मिला करें तो उनका चलना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाय। खैर, हमारा मतलब तो उन विज्ञापनों की भाषा से है। हम देखते हैं कि अनेक विज्ञापनों की भाषा स्वयं समाचार-पत्रों की भाषा से भी कहीं बढ़कर रद्दी होती है। ग्रामोफोन के रेकार्डों के एक विज्ञापन में एक रेकार्ड के गीत का परिचय इस प्रकार छपा था—'नेयन से नेयन मिला ले'। गीत होगा—'नैन से नैन मिला ले'। और अँगरेजी से हिन्दी करने में 'नैन' का 'नैयन' हो गया होगा। एक फिल्म के विज्ञापन में एक बार देखा था—'कीसी से न कहेना।' बुखार की एक दवा के विज्ञापन में छपा था—'तमाम जाति का ज्वर में अक्सर उपाय।' इसमें का 'अक्सर' वस्तुतः 'अक्सीर' की जगह आया है। ताल मिसरी के एक विज्ञापन में लिखा था—ईस के व्यवहार से बच्चों नीरोग और बलिष्ठ होता है।

विज्ञापनों की भाषा

अगस्त १९४२ में भारत में जो राजनीतिक उपद्रव हुए थे, उनके शान्त हो जाने पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने भी विज्ञापनबाजी की शरण ली थी। उसकी ओर से भी तरह-तरह के विज्ञापन प्रकाशित होने लगे थे। विज्ञापन में लोगों को उपद्रवों में सम्मिलित न होने और उन्हें रोकने की सलाह दी जाती थी। उनमें से एक विज्ञापन का शीर्षक था—अपने मित्रों से ये प्रश्नों को पूछिये। यह उस भारत सरकार का विज्ञापन था, जिसके प्रकाशन विभाग से बहुत कुछ ठिकाने की हिन्दी में वह 'युद्ध-समाचार' भी प्रकाशित होता था, जो अब 'भारतीय समाचार' हो गया है।

यह ठीक है कि अधिकतर विज्ञापन समाचार-पत्रों के पास लिखे-लिखाये या छपे-छपाये आते हैं; और कुछ अवस्थाओं में उनके बने हुए ब्लाक या स्टीरियो भी आते हैं। ऐसे विज्ञापन प्रायः बहुत बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हा

होते हैं, जिनके बड़े-बड़े दफ्तर कलकत्ते, बम्बई आदि नगरों में होते हैं। हमारे लिए यह तो बहुत कुछ श्लाघा की बात है कि प्रायः सभी विज्ञापनदाता अपने विज्ञापन हिन्दी में देना भी आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार वे लोग हिन्दी का देशव्यापी महत्त्व मान लेते और यह सिद्ध करते हैं कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर उनके इस सम्मान के साथ ही एक प्रकार का अपमान भी लगा रहता है। अन्यान्य भाषाओं के विज्ञापन तो वे लोग उन-उन भाषाओं के अधिकारी लेखकों से तैयार कराते हैं; पर हिन्दी के विज्ञापन लिखाते समय वे अधिकारी और अनधिकारी का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। जो करणिक सामने आया, उसी को हिन्दी का विज्ञापन लिखने का काम दे दिया। यही कारण है कि हिन्दी के विज्ञापन अशुद्धियों से भरे रहते हैं।

ऐसे विज्ञापनों के सम्बन्ध में भी समाचार-पत्रों का कुछ कर्त्तव्य होना चाहिए। भद्दी भाषा में लिखे हुए जो विज्ञापन उनके यहाँ आवें, उनकी भाषा सम्बन्धी भूलें उन्हें स्वयं दूर कर देनी चाहिएँ। छपे हुए विज्ञापनों की भाषा भी इसी प्रकार सुधारी जा सकती है। यदि बने-बनाये ब्लाकों की भाषा में अशुद्धियाँ हों तो समाचार-पत्रों को ऐसे ब्लाक छापने से इनकार कर देना चाहिए। यदि जीविका के विचार से वे इस तरह इन्कार करने का साहस न कर सकते हों, तो भी अपनी भाषा शुद्ध रखने के विचार से वे विज्ञापनदाताओं को यह तो अवश्य सूचित कर सकते हैं कि आपके विज्ञापन में अमुक-अमुक अशुद्धियाँ हैं; आगे जब आप दोबारा ब्लाक बनवावें, या विज्ञापन लिखवावें, तब उसे ऐसी अशुद्धियों से बचावें। पर यह तभी हो सकता है, जब समाचारपत्रोंवाले स्वयं अपनी भाषा सुधार लें; और इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि हम अपनी भाषा का स्वरूप किसी प्रकार विकृत न होने देंगे।

---

[१३]

अनुवाद की भूलें

अनुवाद का महत्त्व—साहित्य में अनुवाद का स्थान—अनुवाद का सौन्दर्य—शब्दार्थ और भावार्थ—बँगला से अनुवाद की भूलें—अँगरेज़ी से अनुवाद की भूलें।

अभी कुछ दिन पहले तक हिन्दी में अनुवादों की धूम थी। आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का आरम्भ ही वस्तुतः अनुवादों से हुआ था। ऐसा होना प्रायः अनिवार्य भी था, और अनेक अंशों में उपयोगी तथा आवश्यक भी। आज-कल किसी नई भाषा को अपने पैरों पर खड़े होने के समय दूसरी भाषाओं का सहारा लेना ही पड़ता है। आज-कल तो स्वतन्त्र साहित्य की रचना का युग अनुवाद-युग के बाद ही आता है। पहले दूसरी भाषाओं के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत होते हैं। उन अनुवादों की सहायता से पाठकों का ज्ञान बढ़ता है और उनकी आँखें खुलती हैं। वे देखते हैं कि अन्यान्य भाषा-भाषी कैसे अच्छे-अच्छे, स्वतन्त्र तथा मौलिक ग्रन्थ लिखते हैं; और इन्हें देखकर उनमें भी मौलिक ग्रन्थ लिखने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जो स्वतन्त्र साहित्य के निर्माण में बहुत सहायक होती है। और तब कुछ दिनों में यथेष्ट मात्रा में स्वतंत्र साहित्य का निर्माण होने लगता है। इन्हीं सब दृष्टियों से हम अपने यहाँ के पुराने अनुवादों को भी आदर की दृष्टि से देखते हैं।

अनुवाद का महत्त्व

अनुवाद की आवश्यकता का यहीं अन्त नहीं होता। किसी भाषा और साहित्य के बहुत कुछ पुष्ट और उन्नत हो चुकने पर भी उसमें अनुवादों की आवश्यकता बनी ही रहती है। पर उस समय दृष्टि-कोण बहुत कुछ बदल जाता है। भाषा की आरम्भिक या शैशवावस्था में आँखें मूँदकर अन्धाधुन्ध अनुवाद करने की प्रवृत्ति रहती है। पाठकों की रुचि भी तब तक परिष्कृत नहीं होती। इसी लिए उस समय बहुत सामान्य अथवा निम्न कोटि के ग्रन्थों

के साधारण से अनुवाद ही प्रकाशित होते हैं। बिक्री भी प्रायः इसी प्रकार के साहित्य की अधिक होती है। प्रकाशक और अनुवादक दोनों लाभ उठाने की धुन में रहते हैं। परन्तु जब भाषा और साहित्य आगे बढ़कर पुष्ट होते हैं और युवावस्था में प्रवेश करते हैं, तब उनके साथ-ही-साथ पाठकों की रुचि भी बहुत कुछ परिष्कृत हो जाती है। इसी लिए उस समय अच्छे ग्रन्थों के अच्छे अनुवादों के साथ-साथ उच्च कोटि के मौलिक साहित्य की रचना भी आरम्भ होती है। हमारा वर्तमान हिन्दी साहित्य बहुत-कुछ इसी अवस्था में चल रहा है।

हम ऊपर कह आये हैं कि जब भाषा पूर्ण पुष्ट तथा साहित्य परम उन्नत हो जाता है, तब भी अनुवादों की आवश्यकता बनी रहती है। अन्यान्य भाषाओं में जो अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, उनके अनुवाद भी लोगों को अपनी भाषा में प्रकाशित करने ही पड़ते हैं। यदि ऐसा न हो तो एक भाषा के पाठक दूसरी भाषाओं के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों और उनमें प्रतिपादित विचारों तथा सिद्धान्तों के ज्ञान से वंचित ही रह जायँ। उस अवस्था में पहुँचने पर भाषा-साहित्यों में परस्पर होड़-सी होने लगती है। हमारे मन में भी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि हम भी वैसे ही ग्रन्थ प्रस्तुत करें, जैसे अन्यान्य भाषाओं में हो रहे हैं।

एक बात और है। किसी भाषा के साहित्य की शोभा मौलिक ग्रन्थों से तो होती ही है, पर अनुवाद भी उसकी श्री-वृद्धि में कम सहायक नहीं होते।

साहित्य में अनुवाद का स्थान

आज अँगरेजी भाषा का साहित्य अपनी मौलिक रचनाओं के कारण तो इतना उन्नत और आदरणीय है ही, अपने अनुवादों के कारण भी वह कम विशाल और सम्मान्य नहीं है। अँगरेजी भाषा में संसार भर की प्रायः सभी भाषाओं के उपादेय ग्रन्थों के अनुवाद मौजूद हैं। यदि आप संसार के किसी कोने की भाषा के किसी अच्छे ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहें, तो बहुधा आपको अँगरेजी का ही आश्रय लेना होगा। प्राचीन मिस्र, फिनीशिया, चीन, यूनान या मध्य अमेरिका की दो चार हजार बरस पहलेवाली

भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना तो हर आदमी का काम नहीं है ; पर अँगरेजी की सहायता से सब लोग उन भाषाओं में रचित साहित्य तक पहुँच सकते हैं। अँगरेजी साहित्य की यही विशेषता बहुत-से लोगों को अँगरेजी सीखने में प्रवृत्त करती है। जब हम सुनते हैं कि बँगला या मराठी में उच्च कोटि के बहुतेरे ग्रन्थ हैं, तब हम भी बँगला या मराठी का कुछ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अच्छा साहित्य और अच्छे अनुवाद भाषा के प्रचार में भी बहुत सहायक होते हैं।

अनुवादों में एक बात और होती है। हम पहले बतला चुके हैं कि प्रत्येक भाषा की एक स्वतन्त्र प्रकृति होती है और उसमें भाव-व्यंजन की कुछ विशिष्ट प्रणालियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, अँगरेजी की एक प्रसिद्ध कहावत है—He can do who thinks he can do. हिन्दी में इसका अनुवाद तभी ठीक होगा, जब कहा जायगा—वही कोई काम कर सकता है, जो यह समझता है कि मैं इसे कर सकता हूँ। पर आज-कल के अधिकतर अनुवादक इसका अनुवाद करेंगे—वही कोई काम कर सकता है, जो यह समझता है कि वह कर सकता है। पर इसमें का 'वह कर सकता है' हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध होने के सिवा भद्दा और भ्रामक भी है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों में कुछ विशिष्ट प्रकार के भाव तथा शब्द भी होते हैं। जब हम दूसरी भाषाओं के ग्रन्थों के अनुवाद करते हैं, तब प्रायः हमें बहुत-से नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं और भाव-व्यंजन के कुछ नये प्रकार भी लेने पड़ते हैं। साधारणतः अनुवाद का अभ्यास लेखक बनने की पहली सीढ़ी का काम देता है। जो लोग स्वभावतः प्रतिभाशाली हों, उनकी बात छोड़ दीजिए। पर साधारण लोग जब साहित्य-क्षेत्र में जाना चाहते हैं, तब उन्हें पहले प्रायः अनुवाद से ही आरम्भ करना पड़ता है। आज-कल साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए एक मुख्य द्वार पत्रकारिता का भी है; पर वहाँ भी लोगों को आरम्भ में अधिकतर अनुवाद ही करना पड़ता है। अनुवाद करने से उत्तम रचना-शैली के बहुत-से तत्त्वों का अनायास ज्ञान हो जाता है। अतः इस दृष्टि से भी अनुवादों का महत्त्व कुछ कम नहीं है।

अनुवाद वस्तुतः वही अच्छा होता है, जिसमें मूल की सब बातें ज्यों-की-

त्यों आ जायँ। न तो मूल की कोई बात छूटने पावे और न बिगड़ने पावे।

अनुवाद का सौन्दर्य

जिस अनुवाद में मूल के भावों का अंग-भंग हुआ हो या उनका विकृत अथवा अस्पष्ट रूप उपस्थित किया गया हो, वह कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। अनुवाद में दूसरा गुण यह होना चाहिए कि वह कहीं से अनुवाद न जान पड़े— सब प्रकार मूल का ही आनन्द दे। उक्त दोनों गुणों में से पहला गुण उस भाषा के ठीक-ठीक ज्ञान पर आश्रित है, जिससे अनुवाद किया जाता है; और दूसरा गुण उस भाषा की प्रकृति या स्वरूप के उत्कृष्ट ज्ञान से प्राप्त होता है, जिसमें अनुवाद किया जाता है। जहाँ इन दोनों में किसी बात की कमी होती है, वहीं अनुवाद अशुद्ध, अस्पष्ट या भद्दा हो जाता है। यदि हम कोई अनुवाद पढ़कर मूल का ठीक-ठीक आशय और भाव तो समझ लें, पर यह न समझ सकें कि यह अनुवाद किस भाषा से किया गया है, तो हमें मानना पड़ेगा कि यह अनुवाद सचमुच बहुत अच्छा हुआ है; और नहीं तो नहीं।

हमारे यहाँ के अधिकतर अनुवादक जब अनुवाद करने बैठते हैं, तब मानों वे स्वयं अपनी भाषा की प्रकृति की सत्ता या स्वरूप बिलकुल भूल जाते हैं। जिस भाषा से वे अनुवाद करने बैठते हैं, वही भाषा उन्हें जिधर बहा ले जाती है उधर ही वे बह जाते हैं। पग-पग पर उन अनुवादकों की दुर्बलता प्रकट होती है। पर जिन लोगों को अपनी भाष पर पूरा-पूरा अधिकार होता है और जो उसकी प्रकृति से पूर्ण परिचित होते हैं, वे कभी दूसरों के प्रभाव में नहीं पड़ते। अँगरेजी में संसार भर की प्रायः सभी भाषाओं के ग्रन्थों के अनुवाद हैं। पर कोई अनुवाद देखकर आप सहसा यह नहीं कह सकते कि यह किस भाषा का अनुवाद है। उनकी वाक्य-रचना, क्रिया-प्रयोग, मुहावरे, भाव-व्यंजन की प्रणालियाँ आदि सभी स्वतंत्र और अपनी होती हैं। और यही वे सब तत्त्व हैं जो किसी अनुवाद की उत्तमता प्रकट करते हैं।

अनुवा करते समय लोग प्रायः सबसे बड़ी भूल यह करते हैं कि वे मूल के शब्दों और शब्दार्थों पर ही सबसे अधिक ध्यान रखते हैं; भावार्थ

शब्दार्थ और भावार्थ

उनकी दृष्टि के सामने प्रायः आने ही नहीं पाता। वे शब्दों के स्थान पर शब्द और वाक्यों के स्थान पर वाक्यांश बैठाते चलते हैं। इस प्रकार की भूल का एक सबसे बढ़कर विलक्षण और हास्यास्पद प्रयोग संयुक्त प्रान्त के सरकारी गजट के हिन्दी संस्करण के कई अंकों में देखने में आया था (मई, १९४८)। अँगरेजी के प्रसिद्ध शब्द Transference के मुख्यतः दो अर्थ होते हैं। इनमें से एक तो सम्पत्ति आदि से सम्बन्ध रखता है, जिसके लिए हिन्दी का 'हस्तान्तरण' शब्द प्रचलित है। दूसरा कर्मचारियों आदि की बदली से सम्बन्ध रखता है, जिसके लिए हिन्दी शब्द है—स्थानान्तरण। पर इस अन्तर का ध्यान रखे बिना सरकारी गजट में प्रायः प्रकाशित होता था—'अमुक स्कूल की अध्यापिका श्रीमती (अथवा कुमारी)......देवी अमुक स्कूल में हस्तान्तरित कर दी गईं।' हम यह तो नहीं जानते कि किसी देवी ने अपने इस प्रकार 'हस्तान्तरित' किये जाने का विरोध किया था या नहीं; पर यह प्रयोग था बहुत ही आपत्तिजनक। एक प्रतिष्ठित दैनिक पत्र में पढ़ा था—'स्वदेशी वस्त्रालय के नाम और ढंग पर कपड़े का व्यापार आरम्भ किया।' इस वाक्य का 'ढंग' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है, जो अँगरेजी के 'स्टाइल' (Style) शब्द का बिना समझे-बूझे किया हुआ अनुवाद है। यह ठीक है कि 'स्टाइल' का एक अर्थ 'ढंग' या 'शैली' भी होता है; परन्तु उसका एक और अर्थ होता है। वह अर्थ है—किसी व्यक्ति, परिवार या व्यापारिक संस्था आदि का निजी और सर्वमान्य नाम। अँगरेजी में यह शब्द इस अर्थ में बहुत अधिकता से प्रयुक्त होता है। अँगरेजी के जिस वाक्य का उक्त अनुवाद किया गया था, उसमें 'स्टाइल' शब्द इसी अन्तिम अर्थ में आया था। परन्तु अनुवादक महोदय ने बिना यह तत्त्व समझे 'स्टाइल' की जगह सीधा-सादा 'ढंग' शब्द रख दिया, जिसका उस प्रसंग में कुछ भी अर्थ नहीं होता था। एक समाचार-पत्र में देखा था—'पुलिस ने जौहरियों की दूकानों से दो लाख पाउंड के कीमती पत्थर बरामद किये।' इसमें का 'कीमती पत्थर' अँगरेजी के Precious Stones का अविकल अनुवाद था। होना चाहिए था—जवाहिरात। एक पत्र में छपा था—'लौह हस्त से इन प्रवृत्तियों का दमन होना चाहिए।' इसमें का 'लौह हस्त' अँगरेजी

के Iron hand का अविकल अनुवाद है और केवल हिन्दी जाननेवालों को समझ में आने योग्य नहीं है। इसी से मिलता-जुलता वाक्य है—'कांग्रेस बनाम लीग की स्थिति खतरनाक है।' अदालती मुकदमों में तो Versus की जगह 'बनाम' आता है; पर उक्त वाक्य में 'बनाम' से कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। एक समाचार-पत्र में एक नई दवा के विषय में निकला था—'एक सौ से ऊपर मामलों में इसका प्रयोग बिल्कुल सफल रहा।' इसमें का 'मामलों' अँगरेजी के Cases का अनुवाद था। पर दवा का प्रयोग 'मामलों में' नहीं, बल्कि 'रोगियों पर' होता है। ऐसे ही अनुवादकों को जब अँगरेजी में Red tape शब्द दिखाई देता है, तब वे 'लाल फीता' लिखकर आगे बढ़ते हैं। वे यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि Red-tape का मूल, परम्परा और आशय क्या है। यह सोचने की भी वे आवश्यकता नहीं समझते कि हमारे पाठकों की समझ में 'लाल फीता' का कुछ अर्थ आवेगा या नहीं; और वे 'लाल फीते' के व्यवहार या प्रयोग से परिचित भी हैं या नहीं। अपने यहाँ के शब्दों का न तो उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान होता है और न वे अपने ज्ञात शब्दों का ठीक तरह से उपयोग करना ही जानते हैं। अपने यहाँ की 'दीर्घसूत्रता' तो उन्हें दिखाई नहीं देती; इसलिए वे 'लाल फीता' ही नहीं, बल्कि 'लाल फीतापन' तक ले आते हैं। In near future देखते ही वे 'निकट भविष्य में' लिख जाते हैं, 'शीघ्र' या 'जल्दी ही' पर उनका ध्यान ही नहीं जाने पाता। किसी समय बँगला से अनुवाद करते समय लोग 'अनति दूरे' की जगह 'अनति दूर पर' लिख जाते थे; पर अपने यहाँ का 'पास' या 'निकट' उन्हें दिखाई ही नहीं देता था!

अँगरेज अपने देश इँग्लैंड और अपने महादेश युरोप को संसार का केन्द्र मानकर एशिया को 'पूर्व' मानते हैं। यहाँ तक तो ठीक ही है; क्योंकि एशिया है ही युरोप के पूर्व में। पर वे लोग इस पूर्व के प्रायः तीन भाग करते हैं—Near East, Middle East और Far East और हम भी उन्हीं का अनुकरण करते हुए निकट पूर्व, मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व का प्रयोग कर चलते हैं। हम यह नहीं सोचते कि जो प्रदेश उनके लिए 'निकट पूर्व' है, वह हमारे लिए 'निकट पश्चिम' और उनका 'सुदूर पूर्व' हमारे लिए 'निकट पूर्व' है। हमारी

समझ में उक्त तीनों शब्दों के स्थान पर क्रमात् पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया और पूर्वी एशिया का प्रयोग होना चाहिए। हमें अपने देश और अपने महादेश को केन्द्र मानकर चलना चाहिए, इंग्लैंड या युरोप को केन्द्र मानकर नहीं। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हमारी भाषा में आकर उसका स्वरूप विकृत तथा भ्रष्ट करने के सिवा अधिकतर हिन्दी पाठकों के लिए या तो निरर्थक या भ्रामक होते हैं।

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हमारे यहाँ के अधिकतर आरम्भिक अनुवादक अनेक दृष्टियों से अच्छे ही थे। उस समय के अनुवादकों को उन भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान होता था, जिनसे वे अनुवाद करते थे और अपनी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार होता था। बल्कि भाषा के तो वे पथ-प्रदर्शक ही थे; अतः उनके अनुवाद बहुत कुछ निर्दोष होते थे। पर आगे चलकर जब उनकी देखा-देखी अनुवादों की बाढ़ आने लगी, तब धीरे-धीरे अवस्था भी बिगड़ने लगी। इधर कुछ दिनों से हमने भाषा की ओर ध्यान देना बिलकुल छोड़ दिया और अनुवाद्य ग्रन्थ का ठीक ठीक आशय समझने की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रायः भ्रष्ट, भद्दे और अशुद्ध अनुवादों से ही हमारा साहित्य भरता रहा।

अनुवादों का आरम्भ हमने बँगला से किया था। अतः हम पहले बँगला के अनुवादों में ही दिखाई देनेवाली कुछ भूलों का निर्देश करना चाहते हैं।

बँगला से अनुवाद की भूलें

आज-कल हिन्दी में बँगला के बहुत-से नाटकों और उपन्यासों के जो अनुवाद मिलते हैं, उन्हें देखने से साधारणतः यही धारणा होती है कि अनुवादक न तो बँगला अच्छी तरह जानते हैं, न हिन्दी। वे यह बात बिलकुल भूल जाते हैं कि अनुवादक को उस भाषा का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, जिस भाषा से वह अनुवाद करने बैठा हो। साथ ही उस भाषा पर भी पूरा अधिकार होना चाहिए, जिसमें वह अनुवाद करने लगा हो। किसी भाषा का वर्ण-परिचय से कुछ ही उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके और अपनी भाषा बिना अच्छी तरह सीखे यदि हम अनुवाद करने बैठेंगे तो क्या दशा होगी? वही, जो इस समय दिखाई दे रही है।

बँगला का एक साधारण शब्द लीजिए 'मा'। यह विशुद्ध संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ है—माता[1]। ठीक उच्चारण की दृष्टि से हमारे यहाँ इस शब्द में आकार की मात्रा पर अर्द्ध-चन्द्र भी चढ़ गया है; और उसका रूप हो गया है—माँ। बँगला में 'मा' शब्द 'माता' के अतिरिक्त अन्यान्य आदरणीय स्त्रियों के लिए भी प्रयुक्त होता है; जैसे—मासी मा, पिशी मा, ठाकुर मा आदि। यहाँ तक कि कन्याओं और बहुओं के लिए भी यह 'मा' प्रयुक्त होता है। वे अपनी बेटी को भी सम्बोधित करते समय कहते हैं—'मा आमार' और बहुओं के लिए भी 'बौ मा' (बहु मा) का प्रयोग करते हैं। पर हम हिन्दीवाले केवल बड़ी और मातृ-स्थानीय स्त्रियों के लिए तो 'माँ' शब्द का अवश्य प्रयोग करते हैं, परन्तु पद वा अवस्था में अपने बराबर की या छोटी तथा कन्याओं, बहुओं और बालिकाओं के लिए इसका प्रयोग नहीं करते। हमारे यहाँ उसका 'मा' वाला रूप और बँगलावाला अतिरिक्त अर्थ नहीं है। पर कुछ अनुवादक यह तत्त्व और अन्तर न समझकर अनुवाद के समय माता या पिता तक के मुँह से लड़की के लिए 'मा' की जगह अपनी भाषा के शब्द 'माँ' का प्रयोग कराके स्वयं तो हास्यास्पद बनते ही हैं, अपनी भाषा को भी हास्यास्पद बनाते हैं।

जान पड़ता है कि बँगला में भी उक्त अवसरों पर 'मा' कदाचित् 'लक्ष्मी' वाले अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। बंगाल में 'लक्ष्मी' शब्द का विशेष रूप में प्रचार है। बंगाली इसका उच्चारण 'लक्खी' या 'नक्खी' करते हैं। वे 'लक्खी मा' और 'और 'लक्खी बौ' (बहू) तो कहते ही हैं; 'लक्खी छेले' (लड़का) तक उसी तरह कहते हैं, जिस तरह पंजाबी लोग लड़कों को 'बीबा (बीबी का पुंलिंग रूप) राजा' कहते हैं। ऐसे अवसरों पर 'लक्खी' और 'बीबा' का अर्थ होता है—बहुत अच्छा; और उसका व्यवहार बहुत कुछ उसी रूप में होता है, जिस रूप में हमारे यहाँ 'राजा बेटा' और 'रानी बेटी' में 'राजा' या 'रानी' का होता है। अतः हम समझते हैं कि बँगला में बेटी या बहू के लिए

---

१. संस्कृत में 'मा' लक्ष्मी को भी कहते हैं। यथा—

इन्दिरा लोकमाता मा क्षीराब्धि-तनया रमा।—अमर कोश।

'मा' का जो प्रयोग होता है, वह 'लक्ष्मी' के अर्थ में ही होता है; 'माँ' अर्थात् माता के अर्थ में नहीं।

बँगला का एक शब्द है 'जांला' या 'जाङ्ला' जो हिन्दी के 'जँगला' का ही रूपान्तर है। परन्तु इस शब्द के हिन्दी और बँगला अर्थों में भेद है। हमारे यहाँ लोहे आदि के छड़ों की उस पंक्ति को जँगला कहते हैं, जो खिड़कियों या बरामदों आदि में लगी होती है। हम जिसे जँगला कहते हैं, वह स्थिर और अपने स्थान पर दृढ़ता से जड़ा हुआ होता है। परन्तु बँगला में 'जांला' खिड़की मात्र को कहते हैं, फिर चाहे उसमें लोहे के छड़ लगे हों और चाहे काठ के दिल्ले या तख्ते। हम जिस तरह खिड़की खोलते और बन्द करते हैं, उसी तरह बंगाली 'जांला' खोलते और बन्द करते हैं। पर हम यह अन्तर बिना समझे लिख चलते हैं—'वह दरवाजे-जँगले बन्द करने लग गई।' वस्तुतः यहाँ जँगले' की जगह 'खिड़कियाँ' होना चाहिए।

बँगला में 'खयाल' का रूप होता है—खेयाल। हम जिन अर्थों में 'खयाल' शब्द का प्रयोग करते हैं, उन अर्थों में तो बँगलावाले उसका प्रयोग करते ही हैं, उनके अतिरिक्त कुछ और अर्थों में भी वे उसका प्रयोग करते हैं। 'स्वप्न', 'प्रलाप' और 'प्रिय उद्देश्य' आदि के अर्थों में भी बँगला में 'खेयाल' शब्द प्रयुक्त होता है। इस 'खयाल' शब्द से हम लोग जो 'खयाली' शब्द बनाते हैं, वह हमारे यहाँ केवल विशेषण के रूप में और कल्पित के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—खयाली पुलाव। पर बँगला में 'खेयाली' विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अर्थों में संज्ञा की भाँति भी प्रयुक्त होता है। उसमें 'खेयाली' का एक विशिष्ट अर्थ होता है—मन-मौजी। किन्तु इस बात का विचार किये बिना ही हम हिन्दी में 'खयाली' शब्द ज्यों का त्यों ले लेते हैं, चाहे पाठकों की समझ में उसका कुछ भी अर्थ न आवे। हमारे यहाँ 'हाजिर' शब्द का अर्थ होता है—'बड़े के सामने छोटे का उपस्थित होना।' पर बँगला में इसके अर्थ में बड़े-छोटे का विचार नहीं होता; और उसका अर्थ होता है केवल–उपस्थित। पर यह अन्तर समझे बिना एक अनुवादक ने लिखा था–इतने में गुरुदेव आकर हाजिर हुए। उनकी समझ में न

आया कि हिन्दीवालों की दृष्टि में यह 'गुरुदेव' का 'हाजिर' होना कितनी हास्यास्पद बात है !

बँगला से बिना समझे-बूझे और आँखें बन्द करके किये जानेवाले अनुवाद का एक बढ़िया नमूना एक उपन्यास में इस रूप में मिला था–'उसने मुड़की का फलाहार किया।' पहली बात तो यह है कि लेखक ने बँगला का 'मुड़की' शब्द ही ज्यों-का-त्यों ले लिया था। 'मुड़की' वास्तव में गुड़ के शीरे में पागे हुए धान के लावे को कहते हैं। हमारे यहाँ धान के लावे के लिए भी और साथ ही शीरे में पागकर तैयार किये हुए उसके रूप के लिए भी 'लाई' शब्द है। खैर यह तो शब्द-ज्ञान की बात हुई। पर समझने की बात यह थी कि धान के लावे अथवा उसके और किसी रूप के लिए 'फलाहार' शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है ? धान की गिनती तो अन्नों में होती है, फलों में नहीं। वास्तव में बात यह है कि अनुवादक को 'फलाहार' का धोखा बँगला के 'फलार' शब्द के कारण हुआ था। जब दूध में धान का लावा या इसी तरह की और कोई चीज डालकर उसे कुछ देर तक फुलाते हैं, तब उसका जो रूप तैयार होता है, उसे बँगला में 'फलार' कहते हैं। यह शायद 'फूलना' या 'फुलाना' से बना है। अनुवादक ने इसी 'फलार' शब्द को 'फलाहार' का रूप देकर मानों अर्थ का अनर्थ कर डाला था !

इसी प्रकार का एक और उदाहरण है—'सबने खूब मजे लिये'। बँगला में 'मजा' प्रायः मजाक के लिए बोला जाता है। होना चाहिए था—'सबने खूब दिल्लगी उड़ाई'; पर अनुवाद हो गया—सबने खूब मजे लिये। इसी प्रकार कोई लिखता है—'एक ही छाक में सूखकर आधा हो गया' और कोई लिखता है—'एक छाक दाल-भात राँधने में मुझे तकलीफ न होगी'। यह छाक क्या है ? हमारे अज्ञान और लापरवाही का नमूना। इसी प्रकार कहीं लिखा मिलता है—'इस घर में रहना पुसाएगा नहीं'; कोई लिखता है—'सत्य सूख उठता है'; और कोई लिखता है—'रक्त बह उठता है' ! तात्पर्य यह कि अनुवाद करते समय हम संज्ञाएँ ही ज्यों-की-त्यों नहीं ले लेते, बल्कि क्रियाएँ, क्रिया-प्रयोग और मुहावरे भी ज्यों-के-त्यों ले लेते हैं। इस दूषित प्रवृत्ति का सदा के लिए अन्त होना चाहिए।

काल-क्रम के विचार से अनुवाद के क्षेत्र में बँगला के बाद अँगरेजी का स्थान आता है। आज-कल अँगरेजी अनुवाद की मात्रा बहुत बढ़ चली है। अँगरेजी ग्रन्थों के तो अनुवाद होते ही हैं: पर उनसे कहीं अधिक अँगरेजी का अनुवाद होता है समाचार-पत्रों में, समाचारोंवाले स्तम्भों में; और उससे कुछ कम मात्रा में लेखों और टिप्पणियों के स्तम्भों में। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अधिकतर समाचार पहले अँगरेजी में ही मिलते हैं। संसार भर के बहुत बड़े-बड़े लोग भी अपने विचार अँगरेजी में ही प्रकट करते हैं; और उन सबसे पाठकों को परिचित कराना सम्पादकों का कर्त्तव्य होता है। हर्ष का विषय है कि इस कर्त्तव्य का पालन बहुत तत्परतापूर्वक किया जाता है। पर इसके साथ जो एक और कर्त्तव्य लगा है, उसकी ओर लोग आँख उठाकर देखने की भी जरूरत नहीं समझते। वह दूसरा कर्त्तव्य है—समझ-बूझकर और बिलकुल ठीक अनुवाद करना। जहाँ इस दूसरे कर्त्तव्य का पालन नहीं होता, वहाँ पहले कर्त्तव्य का पालन निरर्थक ही नहीं, बल्कि कभी-कभी अनर्थक भी हो जाता है। आज-कल के बहुत से अनुवाद प्रायः ऐसे होते हैं, जिनका या तो कुछ भी अर्थ नहीं निकलता, या कुछ का कुछ अर्थ निकलता है। उदाहरणार्थ—

अँगरेजी से अनुवाद की भूलें

'आप अपनी याद ऊँची तनख्वाह या ऊँचे पद से नहीं छोड़ सकेंगे' एक अँगरेजी वाक्य का ऐसा अनुवाद है, जिसका हिन्दी वाक्य-रचना के विचार से, न तो कुछ अर्थ है, न हो सकता है। ऐसा अनुवाद करने से तो शायद न करना कहीं अच्छा होगा। हिन्दी वाक्य-रचना के अनुसार यह वाक्य तभी ठीक और सार्थक होगा, जब इसका रूप होगा— 'आप अपनी ऊँची तनख्वाह या ऊँचे पद के कारण ही अपनी स्मृति नहीं छोड़ जाएँगे।'

अँगरेजी का एक पद है To be patient with जिसका अर्थ होता है—किसी के उद्धत या अनुचित व्यवहार पर भी शान्त रहना, गम खाना, तरह दे जाना आदि। अँगरेजी के एक वाक्य में इसका प्रयोग been patient के रूप में हुआ था। हिन्दी के एक पत्रकार ने

समझे-बूझे इस वाक्य का इस प्रकार अनुवाद करके रख दिया था—'राष्ट्रपति रूजवेल्ट और विन्स्टन चर्चिल के मरीज हैं।' Patient शब्द दिखाई पड़ा और उसका सीधा-सादा अर्थ 'मरीज' करके रख दिया! ठीक इसी प्रकार का वह अनुवाद था, जिसमें अमेरिकनों के एक हवाई हमले (फरवरी ४५) का उल्लेख था। उसमें लिखा था—'इवोजिमा टापू पर, जो ज्वालामुखी पर्वत में है.....।' मूल में Volcanoes शब्द था, जो वस्तुतः प्रशान्त महासागर के एक द्वीप-पुंज का नाम है। परन्तु पत्रकार महोदय ने उसका सीधा-सादा अर्थ 'ज्वालामुखी पर्वत' करके रख दिया था। उन्होंने यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि ज्वालामुखी में टापू कैसे हो सकता है! एक कोष में Call money का अर्थ दिया था—'मँगनी का रुपया।' उसी में Agnate का अर्थ दिया था—'पितृ-पक्ष-सम्बन्धी' जिससे भ्रम होता था कि यह शब्द विशेषण है और इसका अर्थ है—पितृ-पक्ष (आश्विन कृष्ण पक्ष) से सम्बन्ध रखनेवाला। वस्तुतः होना चाहिए था—सगोत्र या सपिण्ड। एक समाचार पत्र में देखा था—'वर्त्तमान स्थिति असम्भव है'। स्थिति वर्त्तमान भी है और असम्भव भी! यह अक्षर की जगह अक्षर और शब्द की जगह शब्द बैठाने की उस दूषित प्रवृत्ति का परिणाम है जो वस्तुस्थिति या ठीक आशय की ओर हमारा ध्यान जाने ही नहीं देती। उक्त वाक्य के स्थान पर होना चाहिए था—वर्त्तमान स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती। यदि यही प्रवृत्ति बनी रही तो लोग जल्दी ही अपनी भाषा का स्वरूप इतना अधिक विकृत कर देंगे कि वह जन-साधारण की पहचान और समझ के बाहर हो जायगी।

एक बार जब बंगाल के एक प्रधान मंत्री ढाके का दंगा शान्त कराने के लिए वहाँ गये थे, तब उनकी उस flying visit के सम्बन्ध में एक पत्र में लिख दिया गया था—'वे हवाई जहाज से ढाके गये थे'। एक समाचार-पत्र में छपा था—'लोग अपना चमड़ा बचाना चाहती है।' यह 'चमड़ा बचाना' अँगरेजी के Save skin का अनुवाद है, जिसका हिन्दीवाले कुछ भी अर्थ नहीं समझ सकते। एक समाचार-पत्र में छपा था -'एक नवयुवक ने जब कि वह अपनी कार जनरल पोस्ट आफिस के पास खींच

रहा था ..।' इसमें का 'खींच रहा था' अँगरेजी के pulling up का अनुवाद था, जिसका अर्थ होता है--चलती हुई गाड़ी आदि को रोककर ठहराने का प्रयत्न करना। कुछ दिन पहले दिल्ली के अखिल-भारतीय रेडियो से सरकारी प्रचार-विभाग की ओर से देश का उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ बातें कही गई थीं। उनमें Oilseeds की जगह 'तेलहन' के बदले 'तेल के बीज' पद का प्रयोग किया गया था! मानों 'तेल' भी फल-फूल का कोई पौधा हो। कैंची में दो फल होते हैं, इसलिए अँगरेजी में उसे pair of scissors कहते हैं। इसी लिए एक समाचार-पत्र में निकला था--वहाँ १००० छुरे और २१०० जोड़े कैंचियों के पकड़े गये। पर अनुवादक ने यह न सोचा कि हमारे यहाँ कैंचियाँ ही होती हैं, कैंचियों के जोड़े नहीं होते। पहले महायुद्ध के समय कलकत्ते के एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'अब रूस की तरफ से भूरे भालू लड़ने के लिए आ रहे हैं।' यह समाचार हम पहले अँगरेजी समाचार-पत्रों में पढ़ चुके थे, इसलिए रहस्य सहज में खुल गया। अँगरेजी में 'ग्रे बियर्ड्स' (Grey beards) था, जिसका अर्थ होता है--अधपके बालोंवाले या अधेड़ आदमी। वास्तव में संवाददाता यह बतलाना चाहता था कि अब रूस में युवकों की इतनी कमी हो गई है कि वहाँ की फौजों में अधेड़ और पके हुए बालोंवाले लोग दिखाई देने लगे हैं। पर अनुवादक महोदय ने 'ग्रे' (Grey) का तो अर्थ 'भूरा' कर दिया था और 'बियर्ड्स' (Beards) को कदाचित् प्रेस के भूतों की [illegible]ल समझकर या जल्दी में 'बियर्स' (Bears) पढ़ लिया था और [illegible]सका अनुवाद कर दिया था—'भालू'। बस 'भूरे भालू' लड़ाई के मैदान [illegible]में आ डटे!

एक बार एक सज्जन की अनुवादित हस्तलिखित प्रति में देखा था—'[illegible]कल उन दिनों मद्रास की राजधानी थी।' उल्लेख था आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले के पंजाब का। समझ में न आया कि कहाँ पंजाब का शाकल (आधुनिक स्यालकोट) और कहाँ मद्रास! फिर आज से दो हजार वर्ष पहले मद्रास था ही कहाँ! प्रसंग चल रहा था मद्रों का, जो उन दिनों पंजाब में एक प्रबल राष्ट्र के रूप में रहते थे। पर अनुवादक

महोदय ने अँगरेजी में मद्र का बहुवचन 'मद्रास' (Madras) देखकर यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि कर रहे हैं मद्रों का जिक्र; फिर क्यों न इसे 'मद्र' शब्द का अँगरेजी बहुवचन रूप मानें। उनके सामने मदरास का विस्तृत प्रदेश वर्त्तमान था, अतः उन्होंने लिख दिया—शाकल उन दिनों मदरास की राजधानी थी।

एक सज्जन ने अँगरेजी की एक ऐसी पुस्तक का अनुवाद किया था, जिसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की कुछ बातें थीं। उस अनुवाद में छपा था–'श्वेत यजुर्वेद और श्याम यजुर्वेद'। वास्तविक नाम हैं–शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। अँगरेजी लेखक ने तो अपने हिसाब से इनका ठीक अनुवाद कर रक्खा था–'ह्वाइट यजुर्वेद ऐण्ड ब्लैक यजुर्वेद' (White Yajurveda & Black Yajurveda)। परन्तु अनुवादक महाशय को अपने घर की तो कोई खबर थी ही नहीं; इसलिए उन्होंने 'शुक्ल यजुर्वेद' को 'श्वेत यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' को 'श्याम यजुर्वेद' बनाकर काम चलता किया! इसी कोटि के एक और सज्जन ने अँगरेजी के किसी पुरातत्त्व संबंधी मासिक पत्र में काश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृत कवि 'जल्हण' के संबंध में एक लेख पढ़ा था। उसका अनुवाद आपने कुछ इस ढंग से किया था कि लोग समझें कि यह हमारी बिलकुल मौलिक और नई खोज हुई है। परन्तु सारा भंडा स्वयं कवि के नाम ने ही फोड़ दिया। अँगरेजी में 'जल्हण' (Jalhan's) लिखा हुआ देखकर आपने उसे 'जालहंस' पढ़ लिया और सारे लेख में जगह-जगह 'जालहंस' की भर-मार कर दी! स्व० आचार्य चंद्रधर जी गुलेरी ने उस समय एक मासिक पत्र में इसकी खूब दिल्लगी उड़ाई थी; और लिखा था कि अब देखना है कि लेखक महोदय 'कालहंस' और 'बिलहंस' (वस्तुतः 'कल्हण' और 'बिल्हण') का पता कब लगाते हैं और उनके संबंध में कौन-कौन सी गवेषणापूर्ण बातें कहते हैं।

एक पुस्तक में एक जगह लिखा था—उसने खान से बुर्ज उड़ा दिया। बात यह है कि अँगरेजी का 'माइन' (Mine) शब्द उस खान के लिए तो प्रयुक्त होता ही है, जिसमें से खनिज द्रव्य खोदकर निकाले जाते; पर वह उस 'सुरंग' के लिए भी प्रयुक्त होता है जो किसी चीज को उड़ाने

या उस चीज तक पहुँचने के लिए उसके नीचे, जमीन के अन्दर, लगाई जाती है। किले का बुर्ज या और कोई हिस्सा सुरंग लगाकर ही उड़ाया जाता है। 'खान से बुर्ज उड़ा दिया' का कोई अर्थ नहीं होता। 'आपने कांग्रेस की त्रुटियों को नाटकीय ढंग से दुरुस्त कर दिया' में Dramatic का सीधा-साधा अनुवाद 'नाटकीय' करके रख दिया गया है, जो हिन्दीवालों के लिए दुर्बोध होने के अतिरिक्त हास्यास्पद भी है।

लन्दन के एक समाचार-पत्र में उसके कलकत्ते-वाले संवाददाता का भेजा हुआ इस आशय का एक समाचार छपा था कि शिमला-सम्मेलन की विफलता और भारत-व्यापी अन्न-वस्त्र-संकट से चिन्तित होकर महात्मा गान्धी अनशन करने का विचार कर रहे हैं (अगस्त १९४५)। उस समाचार का हिन्दी के एक दैनिक पत्र में जो अनुवाद छपा था, उसके अन्त में था—'अभी इस समाचार की पुष्टि नहीं हुई है। यहाँवाले इसकी पुष्टि का प्रयत्न कर रहे हैं।' स्पष्ट है कि अनुवादक ने यह अनुवाद बिना कुछ समझे-बूझे कर डाला था। उसे सोचना चाहिए था कि (क) 'समाचार की पुष्टि का प्रयत्न' का अर्थ ही क्या है ! और (ख) कलकत्ते के समाचार की पुष्टि का लन्दन में प्रयत्न कैसा ! जो जी में आया, वह लिख दिया; अब उसका अर्थ आप जो चाहिए वह लगा लीजिए !

एक बार प्रवास करते समय किसी स्त्री को रेल में मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ था। अँगरेजी समाचार-पत्रों में इसका जो समाचार छपा था, उसमें अँगरेजी मुहावरे के अनुसार 'स्टिल चाइल्ड' (Still Child) लिखा था। पर एक अनुवादक ने उसका अनुवाद कर डाला—'शान्त बच्चा पैदा हुआ'। एक और सज्जन ने 'प्लेयिंग ऑन वीना' का अनुवाद किया था—'वह बीन पर खेल रही थी।' एक सज्जन ने स्त्रियों को 'कोल्ड क्रीम' की जगह मुँह पर 'ठंढी मलाई' मलने की सलाह दी थी ! एक समाचार-पत्र में House-breaker का अनुवाद छपा था—'मकान तोड़नेवाला'। होना चाहिए था—सेंध लगानेवाला। एक समाचार-पत्र में देखा था—'इंजन के बादवाला डब्बा टेलेस्कोप के चोंगे की तरह चकनाचूर हो गया।' इसमें का 'टेलेस्कोप के चोंगे की तरह...' अँगरेजी के telescoped का अनुवाद था। इसका

महोदय ने अँगरेजी में मद्र का बहुवचन 'मद्रास' (Madras) देखकर यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि कर रहे हैं मद्रों का जिक्र; फिर क्यों न इसे 'मद्र' शब्द का अँगरेजी बहुवचन रूप मानें। उनके सामने मदरास का विस्तृत प्रदेश वर्त्तमान था, अतः उन्होंने लिख दिया—शाकल उन दिनों मदरास की राजधानी थी।

एक सज्जन ने अँगरेजी की एक ऐसी पुस्तक का अनुवाद किया था, जिसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की कुछ बातें थीं। उस अनुवाद में छपा था—'श्वेत यजुर्वेद और श्याम यजुर्वेद'। वास्तविक नाम हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। अँगरेजी लेखक ने तो अपने हिसाब से इनका ठीक अनुवाद कर रक्खा था—'ह्वाइट यजुर्वेद ऐण्ड ब्लैक यजुर्वेद' (White Yajurveda & Black Yajurveda)। परन्तु अनुवादक महाशय को अपने घर की तो कोई खबर थी ही नहीं; इसलिए उन्होंने 'शुक्ल यजुर्वेद' को 'श्वेत यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' को 'श्याम यजुर्वेद' बनाकर काम चलता किया। इसी कोटि के एक और सज्जन ने अँगरेजी के किसी पुरातत्त्व संबंधी मासिक पत्र में काश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृत कवि 'जल्हण' के संबंध में एक लेख पढ़ा था। उसका अनुवाद आपने कुछ इस ढंग से किया था कि लोग समझें कि यह हमारी बिलकुल मौलिक और नई खोज हुई है। परन्तु सारा भंडा स्वयं कवि के नाम ने ही फोड़ दिया। अँगरेजी में 'जल्हण' (Jalhan's) लिखा हुआ देखकर आपने उसे 'जालहंस' पढ़ लिया और सारे लेख में जगह-जगह 'जालहंस' की भर-मार कर दी! स्व० आचार्य चंद्रधर जी गुलेरी ने उस समय एक मासिक पत्र में इसकी खूब दिल्लगी उड़ाई थी; और लिखा था कि अब देखना है कि लेखक महोदय 'कालहंस' और 'बिलहंस' (वस्तुतः 'कल्हण' और 'बिल्हण') का पता कब लगाते हैं और उनके संबंध में कौन-कौन सी गवेषणापूर्ण बातें कहते हैं।

एक पुस्तक में एक जगह लिखा था—उसने खान से बुर्ज उड़ा दिया। बात यह है कि अँगरेजी का 'माइन' (Mine) शब्द उस खान के लिए तो प्रयुक्त होता ही है, जिसमें से खनिज द्रव्य खोदकर निकाले जाते हैं; पर वह उस 'सुरंग' के लिए भी प्रयुक्त होता है जो किसी चीज़ को उड़ाने

या उस चीज तक पहुँचने के लिए उसके नीचे, जमीन के अन्दर, लगाई जाती है। किले का बुर्ज या और कोई हिस्सा सुरंग लगाकर ही उड़ाया जाता है। 'खान से बुर्ज उड़ा दिया' का कोई अर्थ नहीं होता। 'आपने कांग्रेस की त्रुटियों को नाटकीय ढंग से दुरुस्त कर दिया' में Dramatic का सीधा-साधा अनुवाद 'नाटकीय' करके रख दिया गया है, जो हिन्दीवालों के लिए दुर्बोध होने के अतिरिक्त हास्यास्पद भी है।

लन्दन के एक समाचार-पत्र में उसके कलकत्ते-वाले संवाददाता का भेजा हुआ इस आशय का एक समाचार छपा था कि शिमला-सम्मेलन की विफलता और भारत-व्यापी अन्न-वस्त्र-संकट से चिन्तित होकर महात्मा गान्धी अनशन करने का विचार कर रहे हैं (अगस्त १९४५)। उस समाचार का हिन्दी के एक दैनिक पत्र में जो अनुवाद छपा था, उसके अन्त में था—'अभी इस समाचार की पुष्टि नहीं हुई है। यहाँवाले इसकी पुष्टि का प्रयत्न कर रहे हैं।' स्पष्ट है कि अनुवादक ने यह अनुवाद बिना कुछ समझे-बूझे कर डाला था। उसे सोचना चाहिए था कि (क) 'समाचार की पुष्टि का प्रयत्न' का अर्थ ही क्या है ! और (ख) कलकत्ते के समाचार की पुष्टि का लन्दन में प्रयत्न कैसा ! जो जी में आया, वह लिख दिया; अब उसका अर्थ आप जो चाहिए वह लगा लीजिए !

एक बार प्रवास करते समय किसी स्त्री को रेल में मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ था। अँगरेजी समाचार-पत्रों में इसका जो समाचार छपा था, उसमें अँगरेजी मुहावरे के अनुसार 'स्टिल चाइल्ड' (Still Child) लिखा था। पर एक अनुवादक ने उसका अनुवाद कर डाला—'शान्त बच्चा पैदा हुआ'। एक और सज्जन ने 'प्लेयिंग ऑन वीना' का अनुवाद किया था—'वह वीना पर खेल रही थी।' एक सज्जन ने स्त्रियों को 'कोल्ड क्रीम' की जगह मुँह पर 'ठंढी मलाई' मलने की सलाह दी थी ! एक समाचार-पत्र में House-breaker का अनुवाद छपा था—'मकान तोड़नेवाला'। होना चाहिए था—सेंध लगानेवाला। एक समाचार-पत्र में देखा था—'इंजन के बादवाला डब्बा टेलेस्कोप के चोंगे की तरह चकनाचूर हो गया।' इसमें का 'टेलेस्कोप के चोंगे की तरह...' अँगरेजी के telescoped का अनुवाद था। इसका

वास्तविक अर्थ होना चाहिए था—(जोर की टक्कर के कारण) दूसरे डब्बे में घुसकर। 'युरोपवाले रूस के प्रति यह ऋण कभी न भूलेंगे।' का क्या अर्थ है? मूल का वास्तविक आशय यह था कि युरोपवाले रूस का यह ऋण (बल्कि उपहार) कभी न भूलेंगे। पर अनुवादक ने सारा वाक्य निरर्थक कर दिया था। एक पत्र में छपा था—अँगरेज भारत से चले जाने का प्रस्ताव करें। यह जिस अँगरेजी वाक्य का अनुवाद है, उसका वास्तविक आशय है—अँगरेज भारत से चले जाने का दृढ़ विचार या निश्चय कर लें।

एक सज्जन ने एक अवसर पर लिखा था—चौदह हाथ का घोड़ा। इन्होंने अँगरेजी के 'हैंड' (Hand) शब्द का सीधा-सादा अनुवाद 'हाथ' करके रख दिया था। उन्हें यह नहीं मालूम था कि 'हैंड' अँगरेजी में चार इंचों की एक नाप होती है; और घोड़ों की ऊँचाई नापने में उसका प्रयोग होता है। हमारे यहाँ उससे मिलता-जुलता 'मुट्ठी' शब्द है। कहते हैं—'यह घोड़ा बारह मुट्ठी का है।' अर्थात् बारह मुट्ठी ऊँचा है। पर अनुवादक जी ने 'चौदह हाथ का घोड़ा' बना डाला था!

अँगरेजी में अनेक शब्दों और पदों का बिना समझे-बूझे अनुवाद करने और शब्द की जगह शब्द रखने की यह प्रवृत्ति हिन्दी में इतनी बढ़ रही है कि इसके कारण हमें अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यज्ञों के सामने लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'हंगर स्ट्राइक' (Hunger Strike) के लिए 'भूख हड़ताल' लिखने की प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही है। कोई पूछे कि इस 'भूख हड़ताल' का अर्थ और आशय क्या है, तो शायद इसका कोई उत्तर न मिलेगा। इससे यही सूचित होता है कि न तो हम 'हंगर स्ट्राइक' (Hunger Strike) का ठीक-ठीक आशय ही समझते हैं और न उसके लिए अपने यहाँ के प्रचलित शब्द 'अनशन' से ही परिचित हैं। अब कुछ लोग इससे भी और आगे बढ़ कर Hunger demonstration के लिए 'भूख-प्रदर्शन' का प्रयोग करने लगे हैं! यही बात 'सिक्योरिटी प्रिजनर' (Security prisnor) के लिए चलनेवाले 'हिफाजती कैदी' की है। 'ह्वर्लविंड टूर' (Whirlwind tour) के लिए समाचार-पत्रों में प्रायः 'तूफानी दौरा' लिखा जाता है; पर 'ह्वर्लविंड'

का अर्थ है—चक्रवात; और आशय है—बवंडर की तरह बहुत जल्दी-जल्दी बहुत से स्थानों पर चक्कर लगाना। तूफान तो सदा बहुत-कुछ सीधा ही चलता है। उसमें चक्कर लगाने की कोई बात नहीं है। अतः 'तूफानी दौरा' ठीक अनुवाद नहीं है। एक समाचार-पत्र में कई जगह informal visit का अनुवाद 'गैर-रस्मी मुलाकात' छपा था। 'भारतीय रसायनशास्त्र मंडल' का कोई अर्थ नहीं है। होना चाहिए था—भारतीय रासायनिक व्यापार मंडल। बहुत-कुछ इसी कोटि में 'ब्लैक आउट' (Black-out) के लिए प्रचलित 'चिराग गुल' भी आता था। हमने 'व्हाइट ऐन्ट्स' (White Ants) के लिए 'सफेद च्यूँटी' का प्रयोग भी देखा है, जिसका वास्तविक अर्थ होना चाहिए—दीमक। एक स्थान पर Coloured races का अनुवाद देखा था—'बे-गोरी जातियाँ।' होना चाहिए था – रंजित वर्णवाली अथवा केवल रंजित जातियाँ। 'बे-गोरा' तो un-white या non-white का भाव प्रकट करता है। एक सज्जन ने 'कैप ऑफ गुड होप' (Cape of Good Hope) का अनुवाद किया था—उत्तमाशा अन्तरीप। यदि ऐसा ही अनुवाद करना था तो इससे कहीं अच्छा अनुवाद होता—सदाशा अन्तरीप। 'बैक ग्राउण्ड' (Back-ground) के लिए हम अपने यहाँ के सीधे-सादे शब्द 'भूमिका' को छोड़कर उसका शाब्दिक अनुवाद 'पृष्ठ-भूमि' करते हैं। Birthday का अनुवाद बहुत-से लोग 'वर्ष-गाँठ' करते हैं; और इन दोनों के अन्तर पर ध्यान नहीं देते। वस्तुतः birthday या जन्म-दिन बालक के जन्म का दिन होता है, और उसकी गणना उसी दिन से आरम्भ होती है। पर वर्ष-गाँठ बालक के एक वर्ष के हो जाने पर होती है। जिस दिन किसी का ४० वाँ जन्म-दिन होता है, उस दिन उसकी ३९वीं वर्ष-गाँठ होती है। पर लोग भूल से उसी को ४० वीं वर्षगाँठ कह देते हैं।

'ट्रेड यूनियन' (Trade Union) के लिए हम लोग 'व्यापार-संघ' का प्रयोग करते हैं; परन्तु यह नहीं समझते कि यह उस पद का बिलकुल उलटा अर्थ है। वस्तुतः 'ट्रेड यूनियन' कारीगरों और मजदूरों का संघ होता है, व्यापारियों या कारखानेदारों का नहीं। एक विश्वविद्यालय की ओर से

परिक्षार्थियों के उपयोग के लिए बनी हुई सादी कापियों के आवरण-पृष्ठ पर "Fill up the following particulars" के नीचे उसका हिन्दी अनुवाद छपा था-'निम्न-लिखित त्रुटियों को र्ण करो।' कहाँ Particulars और कहाँ 'त्रुटियाँ'! Armistice के लिए हिन्दी में 'विराम सन्धि' केवल इसलिए चल पड़ा है कि पहले किसी ने बिना सोचे-समझे उसका प्रयोग कर डाला, और यह न सोचा कि कहाँ Armistice और कहाँ विराम सन्धि! और सब लोग उसी के पीछे चल पड़े। हमारे यहाँ इसके लिए बहुत प्राचीन शब्द है—'अवहार', जिसका प्रयोग महाभारत तक में हुआ है। कुछ लोग 'होस्टेज' (Hostage) के लिए 'जमानत' लिखते हैं, जो ठीक नहीं है। इसके लिए हमारे यहाँ का ठीक शब्द है—ओल। अँगरेजी का एक शब्द है 'सालिसिटेड' (Solicited) जिसका अनुवाद करने में प्रायः लोग भूल करते हैं। विज्ञापनों के अन्त में लिखा जाता है—'परीक्षा प्रार्थनीय है' और निमंत्रण-पत्रों के अन्त में लिखा जाता है—'उपस्थिति प्रार्थनीय है।' प्रार्थनीय' का अर्थ है—'प्रार्थना करने के योग्य' जिसकी संगति उक्त वाक्यों में किसी प्रकार नहीं बैठती। ऐसे अवसरों पर 'प्रार्थनीय' की जगह 'प्रार्थित' होना चाहिए। इस प्रकार के अशुद्ध अर्थवाले शब्द गढ़कर अपने दोहरे अज्ञान का ढिंढोरा पीटने में जितने सिद्ध-हस्त हम हिन्दीवाले हैं, उतने कदाचित् ही बँगला, मराठी या गुजरातीवाले हों। हाँ, उन अफगानों की बात अलग है जो सिर के बाल काटनेवाले (हज्जाम) को 'सर-तराश' कहते हैं और जिनके यहाँ हज्जामों की दूकानों के नाम-पटों पर Head-cutter (सिर काटनेवाला) लिखा रहता है!

वास्तव में होता यह है कि जब हम कुछ अनुवाद करने बैठते हैं, तब कोई कठिन शब्द या पद सामने आने पर पहले चारो ओर यह देखने के लिए निगाह दौड़ाते हैं कि कहीं इसका कोई गढ़ा-गढ़ाया हिन्दी पर्याय या किया कराया अनुवाद मौजूद तो नहीं है। यदि संयोग से वह मिल जाय तो फिर हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि वह पर्याय ठीक है या गलत। हम यही समझकर उसे अपना लेते हैं कि अमुक सज्जन ने उसका प्रयोग किया है। और फिर जब हम यह देखते हैं कि उसका प्रयोग बड़े-बड़े

धक्काड़ लेखक तथा सम्पादक तक धड़ल्ले से करते हैं, तब हम भी क्यों न करें ? जब हमें कोई ऐसा गढ़ा-गढ़ाया पर्याय नहीं मिलता, तब हम मन-माना पर्याय गढ़कर आगे बढ़ते हैं। उसके औचित्य तथा अनौचित्य पर ध्यान देने को न तो हमें फुर्सत रहती है, न गरज। इसी अन्धाधुन्ध दौड़ में अँगरेजी पदों के किये हुए अच्छे-अच्छे पर्याय भी पीछे छूट जाते हैं। 'स्कॉर्च्ड अर्थ पालिसी' (Scorched-earth policy) के लिए प्रयाग के एक पत्रकार का बनाया हुआ 'सर्वक्षार नीति' बहुत सुन्दर पर्याय है। पर इसे हमने बहुत कम स्थानों में प्रचलित पाया है। हाँ, कुछ लोग इसकी जगह 'घर-फूँक नीति' का अवश्य प्रयोग करते हैं, जो अव्याप्ति दोष से दूषित होने के सिवा 'घर-फूँक तमाशा देखना' वाली प्रसिद्ध कहावत के कारण कुछ भ्रामक भी है। 'टोटल वार' (Total war) की जगह कुछ लोग 'सर्वांगीण युद्ध' का प्रयोग करते हैं, जो भद्दा और निरर्थक होने के सिवा भारी भी है। 'सम्यक् युद्ध' इससे कहीं अच्छा है।

अनुवाद करते समय हम एक और प्रकार की बहुत बड़ी भूल करते हैं। बाल्यावस्था में हमें किसी अँगरेजी शब्द का एक अर्थ रटा दिया जाता है और हम प्रायः सब जगह वही अर्थ रखते चलते हैं। हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि उस मूल अँगरेजी शब्द के कई अर्थ या भाव होते या हो सकते हैं; और प्रसंग के अनुसार अर्थ या भाव सूचित करने वाले शब्द अपने यहाँ नहीं ढूँढ़ते। उदाहरण के लिए He compared me to Demosthenes और He compared me with Demosthenes के अनुवाद क्रमात् होने चाहिएँ—'उसने डिमास्थिनीज से मेरी उपमा दी' और 'उसने डिमास्थिनीज से मेरी तुलना की'। यहाँ केवल अँगरेजी विभक्तियों के कारण एक ही अँगरेजी शब्द के दो अलग-अलग अर्थ (उपमा और तुलना) हो गये हैं। पर इस तत्त्व का ध्यान न रखने के कारण ही हम प्रायः लिख जाते हैं—'मुझे भय है कि तुम इसे भी वैसा ही समझते हो'। ऐसे प्रयोगों में 'भय है' अँगरेजी के am afraid का अनुकरण या अनुवाद है, जो कुछ अवस्थाओं में निरर्थक और कुछ में भ्रामक होने के अतिरिक्त प्रायः वाक्य भद्दा कर देता है। इसी से मिलता-जुलता वाक्य है—

'मुझे सन्देह है कि युद्ध १९४४ से पहले बन्द हो जायगा।' इससे यह ध्वनि निकलती है कि वक्ता चाहता है कि अभी और कुछ दिनों तक युद्ध चलता रहे। बहुत कुछ इसी प्रकार के वाक्य 'हमें पहले से सन्देह है कि श्री जिन्ना केवल पाकिस्तान चाहते हैं' और 'स्वयं लीगी क्षेत्रों को भय है कि वे अवसरवादी हैं' भी हैं। इस प्रकार के वाक्य हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध होते हैं और सर्वथैव त्याज्य हैं। ऐसे अवसरों पर प्रायः 'मैं समझता हूँ कि' सरीखे वाक्यांशों से वाक्य आरम्भ करने से ही अच्छी तरह काम चल सकता है। इसके विपरीत हम लोगों में यह भी प्रवृत्ति है कि कभी-कभी अँगरेजी के एक ही शब्द के लिए अपने यहाँ के कई-कई शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के शब्दों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित शब्द Civil है। हम लोग Civil disobedience के लिए भद्र अवज्ञा, Civil war के लिए गृह-युद्ध, Civil Service के लिए शासन-सेवा और Civil marriage के लिए पौर विवाह सरीखे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यदि इन सबके बदले हम सिविल का अर्थ 'नागर' निश्चित कर लें और उक्त शब्दों के बदले क्रमात् नागर अवज्ञा, नागर विग्रह, नागर सेवा और नागर विवाह का प्रयोग करने लगें तो सबके लिए बहुत कुछ सुगमता हो सकती है। यह ठीक है कि civil शब्द के लिए सब जगह 'नागर' शब्द से काम नहीं चल सकता; फिर भी अनेक अवसरों पर तो चल ही सकता है।

हम ऐसे सज्जनों को भी जानते हैं जो 'थॉट' (Thought) का अर्थ 'भाव' और 'फीलिंग' (feeling) का अर्थ 'विचार' बतलाते हैं। ऐसे उदाहरण देखकर नये लेखक पथ-भ्रष्ट होते हैं। अब यदि ऐसे लेखकों के अनुयायी 'वुन्डेड वैनिटी' (Wounded Vanity) का अर्थ 'आहत गर्व' करें, और 'डेड लेटर ऑफिस' (Dead Letter Office) का अनुवाद 'मुर्दा पत्र घर' करें तो बहुत कुछ क्षम्य ही समझे जाने चाहिएँ।

जहाँ हमें सीधा-सादा 'डाकखाना' शब्द अथवा उसका संक्षिप्त रूप 'डा०' लिखना चाहिए, वहाँ भी हम अँगरेजी के पोस्ट आफिस शब्द का संक्षिप्त रूप पो० आ० लिखते हैं। इस प्रकार की भूल की ओर जब लेखक ने एक बार एक समझदार आदमी का ध्यान आकृष्ट किया, तब उन्होंने चट

'मुझे सन्देह है कि युद्ध १९४४ से पहले बन्द हो जायगा।' इससे यह ध्वनि निकलती है कि वक्ता चाहता है कि अभी और कुछ दिनों तक युद्ध चलता रहे। बहुत कुछ इसी प्रकार के वाक्य 'हमें पहले से सन्देह है कि श्री जिन्ना केवल पाकिस्तान चाहते हैं' और 'स्वयं लीगी क्षेत्रों को भय है कि वे अवसरवादी हैं' भी हैं। इस प्रकार के वाक्य हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध होते हैं और सर्वथैव त्याज्य हैं। ऐसे अवसरों पर प्रायः 'मैं समझता हूँ कि' सरीखे वाक्यांशों से वाक्य आरम्भ करने से ही अच्छी तरह काम चल सकता है। इसके विपरीत हम लोगों में यह भी प्रवृत्ति है कि कभी-कभी अँगरेजी के एक ही शब्द के लिए अपने यहाँ के कई-कई शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के शब्दों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित शब्द Civil है। हम लोग Civil disobedience के लिए भद्र अवज्ञा, Civil war के लिए गृह-युद्ध, Civil Service के लिए शासन-सेवा और Civil marriage के लिए पौर विवाह सरीखे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यदि इन सबके बदले हम सिविल का अर्थ 'नागर' निश्चित कर लें और उक्त शब्दों के बदले क्रमात् नागर अवज्ञा, नागर विग्रह, नागर सेवा और नागर विवाह का प्रयोग करने लगें तो सबके लिए बहुत कुछ सुगमता हो सकती है। यह ठीक है कि civil शब्द के लिए सब जगह 'नागर' शब्द से काम नहीं चल सकता; फिर भी अनेक अवसरों पर तो चल ही सकता है।

हम ऐसे सज्जनों को भी जानते हैं जो 'थॉट' (Thought) का अर्थ 'भाव' और 'फीलिंग' (feeling) का अर्थ 'विचार' बतलाते हैं। ऐसे उदाहरण देखकर नये लेखक पथ-भ्रष्ट होते हैं। अब यदि ऐसे लेखकों के अनुयायी 'वुन्डेड वैनिटी' (Wounded Vanity) का अर्थ 'आहत गर्व' करें, और 'डेड लेटर ऑफिस' (Dead Letter Office) का अनुवाद 'मुर्दा पत्र घर' करें तो बहुत कुछ क्षम्य ही समझे जाने चाहिएँ।

जहाँ हमें सीधा-सादा 'डाकखाना' शब्द अथवा उसका संक्षिप्त रूप 'डा०' लिखना चाहिए, वहाँ भी हम अँगरेजी के पोस्ट आफिस शब्द का संक्षिप्त रूप पो० आ० लिखते हैं। इस प्रकार की भूल की ओर जब लेखक ने एक बार एक समझदार आदमी का ध्यान आकृष्ट किया, तब उन्होंने चट

उत्तर दिया—'वाह साहब ! हम आखिर बी० ए० और एम० ए० भी तो लिखते हैं। इसी प्रकार पो० आ० क्यों न लिखें?' उस समय उन्हें समझाना पड़ा कि हम बी० ए० या एम० ए० आदि संकेतों का प्रयोग 'बैचलर आव् आर्ट्स (Bachelor of Arts) या मास्टर आव् आर्ट्स (Master of Arts) के लिए नहीं करते, बल्कि उनके उन अँगरेजी संक्षिप्त रूपों की जगह करते हैं जो B. A. और M. A. लिखे जाते हैं। खैरियत हुई कि बात उनकी समझ में आ गई। नहीं तो वे थे जरा झगड़ालू प्रकृति के। अगर झगड़ पड़ते तो शायद अपना पक्ष सिद्ध करके ही दम लेते।

[१४]

शैली

शैली का मूल—शैली का स्वरूप और उपयोग—भाषा-गत शैली—वर्ण-योजना और शैली—शैली और अलंकार—अलंकारों का स्वरूप—शब्दों की शक्ति और गुण—शैली का पाश्चात्य रूप।

शैली शब्द का साधारण अर्थ है—ढंग। हर काम करने का एक ढंग होता है। खाने-पीने, उठने-बैठने, लिखने-पढ़ने, बोलने-चालने आदि सभी बातों का एक ढंग होता है। जो काम ठीक ढंग से नहीं किया जाता, वह जल्दी ठीक या पूरा नहीं उतरता। हर एक काम अच्छे ढंग से करने से करनेवाले का सुघड़पन प्रकट होता है; और अच्छे ढंग से न करने से फूहड़पन व्यक्त होता है। यह 'फूहड़पन' वास्तव में बेढंगेपन का ही दूसरा नाम है। बोलने और लिखने का भी ढंग होता है। जो बात ठीक ढंग से नहीं कही या लिखी जाती, वह प्रायः अपना अभीष्ट ठीक तरह से सिद्ध नहीं कर सकती। इसी लिए बोलने और लिखने का भी ठीक ढंग सीखने की आवश्यकता होती है।

शैली का मूल

एक बार राजपूताने का एक सरदार अपने राजा से बातें कर रहा था। उस राजा के लड़के का स्वभाव बहुत ही दुष्ट था। वह अपने पिता तथा उसके संगी-साथियों से बहुत चिढ़ता था; और सदा उन्हें तंग करने की फिक्र में रहता था। सरदार को यह डर था कि राजा के मरने पर जब राज्य उस दुष्ट लड़के को मिलेगा, तब वह मुझे चैन से न रहने देगा। अपने मन का यही भय वह राजा पर प्रकट करना चाहता था। पर राजा के सामने भला यह कैसे कहा जा सकता था कि जब आप मरेंगे, तब यह होगा, वह होगा। राजा से ऐसी अशुभ बात की चर्चा करना उद्दंडता, अविनय और अशिष्टता का सूचक होता। और उसके परिणाम-स्वरूप उसका जो कोप-भाजन बनना पड़ता, वह अलग। इसलिए उसने बहुत सोच-समझकर राजा से कहा—'जब महाराज की आयु पूरे सौ वर्षों की हो जायगी, तब मुझे भय है

कि राजकुमार मुझे सुख से न रहने देंगे।' उसने राजा के सामने उसके मरने की चर्चा तो की, पर कैसे ढंग से !

कहते हैं कि एक बार किसी राजा के यहाँ कोई ज्योतिषी गया। राजा ने उससे अपने भविष्य के सम्बन्ध में कुछ बातें पूछीं। ज्योतिषी को बात करने का ढंग नहीं आता था। वह कह बैठा—'आपकी अन्तिम अवस्था बहुत कष्ट से बीतेगी। आपको अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट और मानसिक दुःख भोगने पड़ेंगे। आपके दाँत टूट जायँगे, आपके नेत्रों की ज्योति जाती रहेगी। आप चलने-फिरने में अशक्त हो जायँगे। आपको अपने कई लड़के-बालों और नाती-पोतों की मृत्यु देखनी पड़ेगी'। आदि-आदि। राजा ने नाराज होकर ज्योतिषी को कैदखाने में बन्द करा दिया।

कुछ दिनों बाद एक दूसरा ज्योतिषी घूमता-फिरता राज्य में आ पहुँचा। राजा ने उससे भी अपना भविष्य पूछा। वह था समझदार और बात-चीत करने का ढंग जानता था। इसलिए उसने कहा—'महाराज सब प्रकार से सुखी और भाग्यवान् तो हैं ही। ईश्वर के यहाँ से महाराज ने आयु भी पूरी-पूरी पाई है। महाराज का घर नाती-पोतों से भर जायगा। महाराज पूरे सौ वर्षों तक जीएँगे। अपने राज-परिवार और राजवंश में महाराज की आयु सबसे अधिक होगी।' आदि आदि। राजा ने उसे पारितोषिक-स्वरूप बहुत-सा धन देकर सम्मानपूर्वक बिदा किया।

जब वह ज्योतिषी दरबार से चलकर अपने डेरे पर पहुँचा, तब राजा का एक दरबारी उसके पास आया। दरबारी ने उसे पहलेवाले ज्योतिषी की दुर्दशा का सारा समाचार सुनाकर पूछा कि क्या कारण है कि वह अभी तक कैदखाने में पड़ा हुआ सड़ रहा है, और आपको इतना पारितोषिक मिला ? ज्योतिषी ने उत्तर दिया—'भाई, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मैंने भी प्रायः वही बातें कही हैं, जो उस ज्योतिषी ने कही थीं। हाँ, उस ज्योतिषी का भविष्य-कथन का ढंग ठीक नहीं था। अरे जो सौ वर्षों तक जीएगा, उसके दाँत भी टूटेंगे ही; वह अन्धा और अपाहिज भी होगा ही; और अपने परिवार के बहुत-से लोगों की मृत्यु भी उसे देखनी ही पड़ेगी। पर ये सब बातें इस तरह कहने की नहीं हैं।' दरबारी की समझ में आ गया कि किस तरह एक

ही बात अच्छे ढंग से भी कही जा सकती है और बुरे ढंग से भी।

यह तो हुई कुछ कहने के ढंग की बात। आइए, अब एक दूसरे क्षेत्र में चलें। आप यह तो जानते ही हैं कि अमेरिका में आठ-आठ और दस-दस खंडों के मकान होना एक साधारण बात है। इसी प्रकार के एक बहुत ऊँचे मकान के एक कमरे में एक आदमी रहता था। एक दिन सन्ध्या के समय वह अपने कमरे के सामनेवाले छज्जे पर, जो बाहर सड़क की तरफ पड़ता था, बैठा हुआ कोई पुस्तक पढ़ रहा था। इतने में कहीं से एक पागल हाथ में भरी हुई पिस्तौल लिए हुए और बहुत ही क्रोध में भरा हुआ वहाँ आ पहुँचा। आते ही उसने डपटकर कहा—'तुम अभी इस छज्जे पर से सड़क पर कूदो। नहीं तो इसी पिस्तौल से तुम्हारा सिर उड़ा दूँगा।' उस आदमी ने सिर उठाकर पागल की तरफ देखा। तुरन्त सब बातें उसकी समझ में आ गईं। कमरे से निकलकर भागने का जो मार्ग था, वही रोके हुए वह पागल—जिसके हाथ में भरी हुई पिस्तौल थी खड़ा था। दोनों ओर मृत्यु मुँह फैलाये खड़ी थी। आठ-दस खंड ऊँचे मकान से सड़क पर कूदता है तो भी मृत्यु के मुख में जाता है; और नहीं कूदता तो भी पागल के पागलपन का शिकार होता है। क्या आप सोच सकते हैं कि उसने कैसे अच्छे ढंग से अपनी जान बचाई? शायद नहीं। उस आदमी ने हँसकर पागल से कहा—'वाह, यह तुमने कौन-सी अनोखी बात कही! मैं इससे भी बढ़कर विलक्षण काम तुम्हें कर दिखलाता हूँ। ऊपर से नीचे तो सभी लोग कूद सकते हैं। मैं नीचे सड़क पर से कूदकर इस छज्जे पर आ सकता हूँ।' ऐसी अद्भुत बात सुनकर पागल हँस पड़ा। प्रसन्नता और कुतूहल ने उसका सारा क्रोध दबाकर उसके मन की स्थिति बिलकुल बदल दी। उसने कहा—'हाँ, मैं ऐसा विलक्षण काम अवश्य देखूँगा।' उस आदमी के कहने पर पागल ने उसे बाहर जाने का रास्ता दे दिया। कमरे से निकलते ही उस आदमी ने बाहर से द्वार बन्द कर दिया और पुलिस को बुलवाकर उस पागल को पकड़वा दिया।

एक बार एक सज्जन रात के समय अपने कमरे में अकेले सोये हुए थे। इतने में कोई चोर किसी प्रकार वहाँ आ पहुँचा; और पिस्तौल दिखाकर

बोला—'अपना सारा माल मेरे सुपुर्द कर दो। नहीं तो तुम्हें इसी पिस्तौल से मार डालूँगा।' उसने तुरन्त उत्तर दिया—'यह कैसी कायरता है कि एक अकेले आदमी पर तुम दो-दो आदमी वार करने आये हो!' आगन्तुक घबराया। उसने सोचा कि मैं तो अकेले ही यहाँ आया था। यह दूसरा मेरे साथ कौन आ पहुँचा? यह देखने के लिए ज्योंही उसने मुड़कर पीछे की तरफ देखा, त्यों ही घर के मालिक ने उठकर उसे पकड़ लिया और उसके हाथ से पिस्तौल छीन ली। इस प्रकार उसने अपने प्राणों की भी और अपने धन की भी रक्षा की।

आप कहेंगे कि ये सब बातें तो मनोविज्ञान के क्षेत्र की हैं। इनका साहित्यिक शैली से क्या मतलब? नहीं, मतलब है। पर वह मतलब समझाने के लिए हम पहले आपको यह बतलाना चाहते हैं कि शैली कहते किसे हैं, उसका स्वरूप क्या है और उसका उपयोग क्या होता है। लिखने और बोलने में दो बातें होती हैं। एक तो मन में कुछ विचार करना; और दूसरे वह विचार प्रकट करना। अपने मन के विचार ठीक तरह से व्यक्त करने का जो ढंग होता है, उसी को साहित्य में शैली कहते हैं। हमारे विचार तो बहुत अच्छे हों, पर हम वे विचार ठीक तरह से प्रकट न कर सकते हों, तो साहित्यिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा दोष होगा। वास्तव में उत्कृष्ट विचार और भाव उनके अनुरूप तथा उपयुक्त ढंग से प्रकट करना ही कृति का कला-पक्ष है—इसी में कर्त्ता का कौशल और कृति का सौन्दर्य है। हममें एक तो विचार करने की शक्ति होती है; और, दूसरी, विचार व्यक्त करने की शक्ति। यह विचार व्यक्त करने की शक्ति ही शैली है। जब हम श्रोता या पाठक पर अपने किसी कथन या लेख का प्रभाव डालना चाहते हैं, तब हम अपने विचार अच्छे-से-अच्छे ढंग से प्रकट करना चाहते हैं। यह प्रभाव तभी उत्पन्न हो सकता है, जब हमारा कथन या वर्णन यथा-तथ्य हो, उसमें ब्योरे की सभी बातें ठीक ढंग और ठीक क्रम से हों और उनमें ऐसा चातुर्यपूर्ण चमत्कार हो, जो श्रोता या पाठक पर तुरन्त प्रभाव डाल सके और हमारा अभीष्ट सिद्ध कर सके। शैली का एक गुण यह भी माना गया है कि कथन या लेख में शब्द

शैली का स्वरूप और उपयोग

तो थोड़े हों, पर उनमें अर्थ या भाव बहुत हों। यदि हमारे विचार तो बहुत अच्छे हों, पर उन्हें प्रकट करने का ढंग ठीक न हो या हमारा शब्दाडम्बर इतना बढ़ा हुआ हो कि हमारे सारे विचार उसी की लपेट में दबे हुए पड़े रह जायँ, तो ऐसे रूप में विचार प्रकट करने का हमारा वह प्रयास भी विफल होगा और सारा शब्दाडम्बर भी। प्रभावोत्पादकता उसमें आ ही नहीं सकती। ऊपर उदाहरण-स्वरूप जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है, उनमें जो प्रभाव उत्पन्न करनेवाला और चमत्कारपूर्ण अंश है, वही शैली का आधार है—शैली-रूपी प्रासाद की भीत है। बहुत-से लोग शैली को उसी प्रकार की अद्भुत या चमत्कारपूर्ण वस्तु समझते हैं, जिस प्रकार हवाई जहाज या रेडियो को। पर वास्तव में शैली में इस प्रकार की कोई बहुत अधिक विलक्षण बात नहीं होती। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, अच्छी साहित्यिक शैली अपने विचार या भाव ठीक तरह से, ठीक शब्दों में और निर्भ्रान्त रूप से प्रकट करने में ही है। पर आपके कहने का ढंग कुछ निराला होना चाहिए—दूसरों का अनुकरण या पिष्ट-पेषण नहीं होना चाहिए।

काव्यों, नाटकों, कथाओं और उपन्यासों में की इसी प्रकार की प्रभावोत्पादक और चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ जब साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञों की दृष्टि में पड़कर विद्या या कला के क्षेत्र में आती हैं, कलात्मक दृष्टि से उनका विचार या विवेचन होता है, और साधारणीकरण के उपरान्त उन उक्तियों का विभाजन होता या उनके विभाग बनते हैं, तभी साहित्यिक शैली अपना अस्तित्व तथा स्वरूप प्रकट करती है। शैली ही दुरूह को सुगम और सुगम को दुरूह बनाती है। साहित्य का सारा सौन्दर्य शैली पर ही आश्रित है। जब लेखक कोरे भाव-व्यंजन से ऊपर उठकर, अच्छे-अच्छे और उपयुक्त शब्दों तथा वाक्य रचना के सुन्दर प्रकारों से अपनी कृति सजाने का प्रयत्न आरम्भ करता है, तब वह मानों अपनी शैली की सृष्टि करता है।

हमारे यहाँ प्रचीन साहित्यकारों ने शैली का बहुत ही सूक्ष्म और विशद विवेचन किया है। पर उस विवेचन का अधिकांश काव्य जगत् से ही सम्बन्ध रखता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी शैली का बहुत-कुछ विवेचन किया है; पर कुछ दूसरी ही दृष्टि से और कुछ दूसरे ही उद्देश्य

से। हम इन दोनों पद्धतियों की सभी बातों का न तो इस छोटे-से प्रकरण में विचार या तुलना ही कर सकते हैं और न वे सभी बातें साधारण हिन्दी के लेखकों और पाठकों के काम की ही हो सकती हैं। इसी लिए हम इन दोनों के आधार पर शैली से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त और तत्व ही यहाँ बतलाना चाहते हैं, जो साधारण विद्यार्थियों के काम के हों, और जिनसे शैली का स्वरूप तथा उपयोग उनकी समझ में आ जाय।

शैली के दो विभाग

शैली के मुख्य विभाग दो हैं—शब्द-गत और अर्थ-गत। हम जो कुछ बोलते या लिखते हैं, उसमें होती भी यही दोनों बातें हैं। कुछ तो शब्द होते हैं; और कुछ विचार होते हैं, जिनका कुछ आशय होता है। हमारे कथन या लेख का जो अंश विशुद्ध वाक्य-रचना से सम्बन्ध रखता है, वही शैली का शब्द-गत अंग है। शब्दों का ठीक चुनाव, वाक्यों में उनका ठीक विन्यास अथवा इसी प्रकार की और सब बातें, जिनका अब तक इस पुस्तक में बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन हो चुका है, व्याकरण के क्षेत्र से सम्बद्ध होने पर भी कुछ अंशों में शैली के शब्द-गत अंग के अन्तर्गत हैं। और हमारे कथन या लेख की जिन बातों का सम्बन्ध विचार या अर्थ से होता है, वही शैली के अर्थ-गत अंग या विभाग में आती हैं। अर्थ-सम्बन्धी सरलता, स्पष्टता, उक्ति की विलक्षणता, वर्णित विषय की यथा-तथ्यता आदि बातें इसी अंग में आती हैं। इसी लिए शैली के ये द्विविध तत्व उसके बाह्य और आभ्यन्तर तत्व भी कहलाते हैं। शैली के शब्द-गत या बाह्य तत्व को हम उसका रूप या शरीर और उसके अर्थ-गत या आभ्यन्तर तत्व को उसकी आत्मा भी कह सकते हैं।

भाषा-गत शैली

हमारे काम के लिए शैली के शब्द-गत विभाग के भी दो उप-विभाग हो सकते हैं। इनमें से पहला भाषा के विचार से और दूसरा वर्णों या अक्षरों और शब्दों की योजना के विचार से है। भाषा-शैली के विचार से ही हम कहते हैं कि यह विशुद्ध हिन्दी है, यह चलती हुई या साधारण हिन्दी है, यह ठेठ हिन्दी है, यह उर्दू-मिश्रित हिन्दी है और यह विशुद्ध उर्दू है। विशुद्ध हिन्दी वह

कहलाती है, जिसमें या तो हिन्दी के तद्भव शब्द हों या संस्कृत के साधारण शब्द। ऐसी भाषा में या तो अरबी-फ़ारसी के शब्द बिलकुल नहीं होते; या यदि होते भी हैं तो बहुत कम। पर वे शब्द ऐसे ही होते हैं जो बहुत सरल तथा बहुत प्रचलित हों, अथवा जिनके ठीक-ठीक भाव प्रकट करनेवाले शब्द हमारे यहाँ न हों। उदाहरणार्थ—

'समय-चक्र बराबर घूमता है और उसके साथ परिवर्त्तन पर परिवर्त्तन होता चला जाता है। रात बीतने पर जब भोर होती (?) है, तो शीतल, मन्द समीर के झोंकों से कलियाँ खिल जाती हैं, वृक्षों की टहनियाँ धीरे-धीरे हिलती हैं, चारों ओर सौरभ फैल जाता है, रात की नींद का आनन्द लेकर जीव पहले दिन का क्लेश भूल जाता है और उस नैसर्गिक शोभा को देखकर आनन्द से परिप्लुत हो जाता है। पक्षियों के मधुर स्वर से उसका आनन्द और बढ़ जाता है। क्रम से सुनहरी (?) मुकुट सिर पर धरे बाल-सूर्य उदय होते हैं, मानों अब तक रात के अँधेरे को सूर्य ने ग्रस लिया था; उससे किसी तरह पीछा छुड़ाकर अब निकले हैं।'

(पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र—जीव-तत्त्व)

इन वाक्यों में 'बराबर' और 'तरह' को छोड़कर और कोई विदेशी शब्द और 'नैसर्गिक' तथा 'परिप्लुत' को छोड़कर और कोई विशेष कठिन संस्कृत शब्द नहीं आने पाया है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण है—

'इसी प्रकार दूज से बढ़ते-बढ़ते यह चन्द्र पूर्णता को पहुँचा। यह पूनों का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है? या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है या रजनी-रमणी के लिलार पर बुक्के का सफेद तिलक है अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चन्द्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुन्द के सफेद फूलों का गुच्छा है?'

(पं० बालकृष्ण भट्ट—चन्द्रोदय)

जिस भाषा में नाम को भी विदेशी शब्द नहीं होते और विदेशी सरल शब्दों के स्थान पर भी संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग होता है, वह संस्कृत-

बहुल हिन्दी कहलाती है। उदाहरणार्थ—

'जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संघटन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य में ही मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।'

(पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—साहित्य की महत्ता)

जब इस प्रकार की भाषा अपेक्षाकृत और भी अधिक संस्कृत-बहुल होती है, तब उससे संस्कृत ढंग की शब्द-योजना भी आने लगती है; और वह एक प्रकार से गद्य-काव्य का रूप धारण कर लेती है। ऐसी भाषा समझने के लिए कुछ विशेष योग्यता और अधिक शब्द-ज्ञान की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ—

'उस अकथ असीम परमानन्द, अपार-परिपूर अमूल्य रत्नाकर, सदा सब रस-भरे छलकते अकूपार, अलौकिक सुधा-उदधिक अनन्त सरस समधर रस रसीली, लहरों से थकित, चकित, परिपूर छकित, लोट-पोट आनन्द-मग्न उनके उस सुरस रस-भीने रसीले मन भी अनदेखे अनुभव अनुमाने पर परतच्छ से दरसाते, अपूर्व लास्य-हास्य आदि नृत्य-कला-विकास हाव-भाव भरे अंग अंग फड़काते मटकाते नाचते मन लुभाते नाच की (?) सम पर बँधी, थिरकती हुई सी लय-ताल के अतल तल में लय हो आप ही आर आप भी उसके ध्वनि पर सथरक थिरककर ताल से ताल मिलाते मन ही मन गुनगुनाते उस ही धुन पर मानों सरबस खो विवश हो गहरे लहरे के साथ मन की लहर में आ नाचने लगते हैं।'

(पं० गोविन्दनारायण मिश्र—कवि और चित्रकार)

चलती हुई या साधारण हिन्दी वह कहलाती है, जिसमें न तो संस्कृत के शब्दों की अधिकता हो, न अरबी-फारसी शब्दों की भर-मार। ऐसी भाषा का सबसे बड़ा गुण यह होता है कि यह बहुत ही सरल होती है और इसे समझने में न तो कोई कठिनता होती है, न कोई प्रयत्न करना पड़ता है।

ऐसी भाषा लचीली होने के कारण जब जिधर चाहे, तब उधर मोड़ी भी जा सकती है। उसमें संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों का विचार नहीं होता। जो सबसे अधिक सहज, चलते हुए और उपयुक्त शब्द होते हैं, उन्हीं से काम लिया जाता है। जैसे—

'सदन को कुछ तसल्ली हुई। बोला—सुमन, चाहे तुम समझते हो कि मैं बातें बना रहा हूँ, लेकिन मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि उसी मनहूस घड़ी से कभी मेरी आत्मा को शान्ति नहीं मिली। मैं बार-बार अपनी मूर्खता पर पछताता था। कई बार इरादा किया कि चलकर अपराध क्षमा कराऊँ। लेकिन यह विचार उठता कि किस बूते पर जाऊँ। घरवालों से सहायता की कोई आशा न थी। और मुझे तो तुम जानती ही हो कि सदा कोतल घोड़ा बना रहा। बस इसी चिन्ता में डूबा रहता था कि किसी प्रकार चार पैसे पैदा करूँ और अपनी झोंपड़ी अलग बनाऊँ। महीनों नौकरी की खोज में मारा-मारा फिरा, लेकिन कहीं ठिकाना न लगा।'

(श्री प्रेमचन्द—मानसिक सन्ताप)

इसी वर्ग की, पर इससे भी कुछ हलकी, वह भाषा होती है, जिसमें कहीं एक भी कठिन शब्द नहीं होता—सभी शब्द बहुत ही चलते हुए और नित्य की बोल-चाल के होते हैं, जिन्हें साधारण स्त्रियाँ और बच्चे तक सहज में समझ लेते हैं। जैसे—

'इस बात पर पानी डाल दो, नहीं तो बहुत पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती। पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं है।'

अथवा— (इंशा-अल्लाखाँ—रानी केतकी की कहानी)

'गाँव के पास एक छोटा जंगल भी था। उसी जंगल में बुढ़िया की गौ चरने जाती थी। वहीं से जलाने के लिए बुढ़िया लकड़ियाँ भी चुन लाया करती थी। बैसाख-जेठ में भी उस जंगल में बहुत ठंढक रहती थी। दोपहर को भी वहाँ धूप नहीं होती थी और ठंढी हवा चलती थी।'

(इस ग्रन्थ का परिशिष्ट—भाषा के नमूने)

बहुत-कुछ इसी से मिलती-जुलती वह भाषा होती है, जिसे ठेठ हिन्दी कहते हैं। ऐसी भाषा में हिन्दी के तद्भव शब्दों की बहुत अधिकता होती है; और उसमें प्रायः गाँव-देहात में बोले जानेवाले बहुत-से शब्द भी आ जाते हैं। यथा—

'देवनन्दन थिर होकर उसको देखने लगे। उसी में फिर यह बात सुन पड़ी—क्यों, मुझको तुम जानते हो? मेरा नाम आसा है। मेरे बिना धरती का कोई काम नहीं चल सकता। मैं तुमको बतलाती हूँ। जतन करो। जतन करने से सब कुछ होगा। देवनन्दन ने बहुत बिनती के साथ कहा—कब तक होगा माँ?

(पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय—देवबाला की मृत्यु)

ऊपर हमने जिस चलती हुई या साधारण हिन्दी का जिक्र किया है, उसमें भी अरबी फारसी के शब्द तो रहते हैं, पर वे प्रायः बहुत ही सरल और जन-साधारण में प्रचलित शब्द ही होते हैं। पर उर्दू-मिश्रित भाषा वह कहलाती है, जिसमें अरबी-फारसी के कुछ कठिन और कम प्रचलित शब्दों की अधिकता होती है। ऐसी भाषा की एक बड़ी पहचान यह भी है कि उसमें हिन्दी के साधारण प्रचलित शब्दों की जगह भी प्रायः अरबी-फारसी के कुछ कठिन शब्द रहते हैं। जैसे—

'चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेन्ट को दिखाकर आप राय बहादुर हो जायँ और खुशामदियों से आप ८ पहर ६४ घड़ी सदा घिरे रहें। एक बार एक बैठे-ठाले ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कुल ३० मुदर्रिसों में से २९ मुदर्रिस ठाकुर साहब के रिश्तेदार निकले—कुछ मातृ-पक्ष के, कुछ पितृ-पक्ष के।'

(पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—म्युनिसिपैल्टियों के कारनामे)

विशुद्ध उर्दू शैली वह होती है, जिसमें साधारण क्रियाओं, विभक्तियों, अव्ययों और कुछ विशेषणों को छोड़कर अधिकतर शेष शब्द अरबी-फारसी के ही होते हैं। बल्कि हम कह सकते हैं कि यह देव-नागरी लिपि में लिखी हुई अच्छी उर्दू ही होती है। जैसे—

'सर हेनरी ईलियट लिखते हैं कि—हिन्दू मुसन्निफ की तसनीफ में कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे उसकी कौम और उसका मजहब जाहिर हो सके। हाँ शायद किसी कदर इबारत का गैर-फसीह और पुर-तकल्लुफ होना अलबत्ता इस बात पर उँगली उठाता है कि गैर की पोशाक उसके बदन पर कैसी बुरी मालूम होती है।'

(राजा शिवप्रसाद—भाषा का इतिहास)

यह तो हुआ भाषा के विचार से शैली का बाहरी रूप। इसके सिवा उसका दूसरा बाहरी रूप वर्णों या अक्षरों की योजना से सम्बन्ध रखता है।

वर्ण-योजना और शैली

पर इसका ठीक स्वरूप बतलाने से पहले हम अपने यहाँ के अलंकारों के सम्बन्ध में एक-दो बातें बतला देना चाहते हैं। अलंकार का अर्थ है—गहना या आभूषण। अलंकार वास्तव में कुछ कहने के अच्छे प्रकार ही हैं। वास्तव में कथन का प्रकार ही कथ्य विषय को सुशोभित और अलंकृत करता है। साहित्यिक क्षेत्र में अलंकार के अन्तर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं, जिनके योग से साहित्यिक रचना की शोभा बढ़ती और उसमें चमत्कार आता है। हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्यकारों ने अलंकारों का बहुत ही विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन किया है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार सिर्फ हमारे यहाँ की चीज हैं। सभी देशों और जातियों के लोग सदा से अपनी बोल-चाल और लेख अलंकारों से अलंकृत करते आये हैं। अलंकार आपको वेदों में भी मिलेंगे, बाइबिल में भी और कुरान में भी। यूनान, मिस्र और चीनवाले भी अपनी भाषा अलंकृत करते हैं और जैन, बौद्ध तथा फारसी भी। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति अच्छे ढंग से कुछ बोलता या लिखता है, उसकी बातों या लेखों में अलंकार अवश्य होते हैं। जब तक हमारी भाषा आलंकारिक न हो, तब तक उसमें रोचकता नहीं आती। और जब तक हम अपने विचार अलंकार-युक्त रूप में न प्रकट करें, तब तक हमारे कथन में ओज, माधुर्य आदि गुण नहीं आते। इसी लिए सब प्रकार की रचनाओं में अलंकारों का प्रमुख स्थान होता है। पर उसकी यह प्रमुखता भी संयत और मर्यादित होनी चाहिए; उस प्रकार को असंयत और अमर्यादित नहीं होनी चाहिए,

जिस प्रकार की हमारे यहाँ के कुछ काव्यों में पाई जाती है। यदि सारा शरीर अलंकारों से ढका हो, तो स्वयं शरीर की शोभा कहाँ रहेगी? और फिर यदि कोई धनी अपने घर के सब अलंकार एक-साथ पहनकर घर से निकले तो उसे लोग क्या कहेंगे? इसलिए अलंकारों का प्रयोग भी उपयुक्त स्थानों पर ही होना चाहिए। केवल अपना अलंकार-ज्ञान प्रकट करने के लिए कोई रचना नहीं होनी चाहिए।

हमारे यहाँ अलंकार-शास्त्रियों ने अलंकार के मुख्य दो भेद माने हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। एक तो है शब्दों की योजना का चातुर्य और दूसरा, अर्थ या भाव प्रकट करने का कौशल। पर इन दोनों के योग से एक तीसरा भेद और बन जाता है, जिसे उभयालंकार कहते हैं। अर्थात् जिस रचना में शब्दालंकार भी हों और अर्थालंकार भी, उसे उभयालंकार से युक्त रचना मानते हैं। अच्छी रचना वही मानी जाती है, जिसमें शब्दों की योजना भी सुन्दर हो और जो अर्थ के विचार से भी चमत्कारपूर्ण हो। अच्छी शैली का यही सबसे बड़ा और प्रधान लक्षण है।

शैली और अलंकार

शब्दालंकार में सारा चमत्कार शब्दों में ही रहता है; इसी लिए यदि वे शब्द हटाकर उनके स्थान पर उनके दूसरे पर्याय रख दिए जायँ, तो उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। यों तो शब्दालंकार के भी हमारे यहाँ बहुत-से भेद और उपभेद हैं, पर मुख्य शब्दालंकार अनुप्रास, यमक और श्लेष हैं। जहाँ केवल कोई वर्ण या अक्षर—चाहे अकेला हो, चाहे मात्रा सहित—बार बार आता है, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे नन्द, चन्द, मन्द और कन्द में प्रत्येक शब्द में हलन्त न के बाद 'द' आया है। अथवा 'मैली, थैली फैली है' में 'ली' तो तीनों शब्दों में है ही। उससे पहले ै भी सबमें है; और अन्तिम 'है' में भी वही ै है। इसी प्रकार—'बालक बनावै बुध बिमल बिवेकवंत बिबिध बजावै बीन बीन बैनवारी है।' में 'ब' का अनुप्रास है। जहाँ कुछ स्वर और व्यंजन कुछ दूसरे शब्दों के साथ मिलकर आते तो बार बार हैं, पर हर शब्द के साथ कुछ अलग अर्थ के सूचक होते हैं, वहाँ यमक अलंकार होता है। जैसे—'बस अब, हमारा कुछ बस नहीं चलता।' में 'बस'

आया तो दो बार है, पर दोनों जगह उसके अलग अलग अर्थ हैं। इसी प्रकार—'बसन देहु ब्रज में हमैं, बसन देहु ब्रजराज।' में 'बसन' शब्द आया तो दो बार है, पर पहला बसने या निवास करने का वाचक है और दूसरा वस्त्र का। अथवा 'कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।' में पहला 'कनक' सोने या स्वर्ण का वाचक है; और दूसरा धतूरे का। अब यदि यही बस, बसन और कनक शब्द किसी पद या वाक्य में बार बार न आकर एक ही बार आवें, पर ऐसे ढंग से आवें कि उस पद या वाक्य में उनके दोनों अर्थ बैठ सकते हों, तो वहाँ श्लेष अलंकार होता है। अर्थात् दो या अधिक अर्थोंवाले शब्दों का प्रयोग श्लेष कहलाता है। इन शब्दालंकारों के भी तथा और और शब्दालंकारों के भी अनेक भेद-उपभेद किसी अलंकार-ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

शैली में शब्दालंकारों का अन्तर्भाव तो अवश्य होता है, पर उनका महत्व उतना अधिक नहीं होता, जितना अर्थ और फलतः अर्थालंकारों का होता है। अर्थालंकारों के हमारे यहाँ सैकड़ों भेद-उपभेद माने गये हैं; और उन सबका बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है। वह विवेचन इतना विशद और विस्तृत है कि इस पुस्तक के एक प्रकरण में हम उसका स्वल्प सारांश भी नहीं दे सकते; और न हमारे प्रस्तुत विवेचन में उसका कोई विशेष उपयोग ही है। जो लोग इन अलंकारों का परिचय प्राप्त करना चाहें, वे अलंकार शास्त्र के ग्रन्थ देख सकते हैं। यहाँ यही कहना यथेष्ट होगा कि चाहे जान-बूझकर हो और चाहे अनजान में, हमारी अधिकतर बातों और लेखों में कुछ न कुछ अर्थालंकार आ ही जाते हैं। यहाँ तक कि बहुत ही साधारण तथा अपढ़ लोगों की बात-चीत में भी कुछ अर्थालंकार रहते हैं। कारण यही है कि सब अर्थालंकार अनेक प्रकार के कथन-प्रकारों में से ही संकलित हुए हैं। जो लोग अर्थालंकारों का अच्छा अध्ययन करते हैं, वे अपनी शैली में उनका उपयोग करके उसे ओज, माधुर्य और प्रसाद से बहुत कुछ सम्पन्न कर सकते हैं। इस दृष्टि से शैली के शौकीनों के लिए अलंकार-शास्त्र का अध्ययन विशेष उपयोगी और लाभदायक होगा।

फिर भी यहाँ अलंकारों के स्वरूप का कुछ परिचय कराना आवश्यक है।

वास्तव में अलंकार कोई बात अच्छे और सुन्दर ढंग से कहने के प्रकार मात्र हैं। जो कुछ हम कहना चाहते हैं, वह तभी सुन्दर, सुशोभित और अलंकृत होता है, जब हमारे कहने का प्रकार या ढंग सुन्दर और साधारण से कुछ अलग और अच्छा होता है।

अलंकारों का स्वरूप

हमारे काव्य-क्षेत्र में तो अलंकारों का प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि उनका राज्य-सा दिखाई देता है। गद्य में उनका उतना अधिक तो नहीं, फिर भी बहुत-कुछ उपयोग होता और हो सकता है। हमारी रचनाएँ इस उद्देश्य से तो नहीं होनी चाहिएँ कि उनमें जगह-जगह अलंकार ही भरे हों; पर वह अलंकारों से बिलकुल रहित भी नहीं होनी चाहिएँ; और न सहसा वह अलंकार-शून्य हो ही सकती हैं। यदि किसी का सारा शरीर अलंकारों से भरा हो तो वह कभी सौन्दर्य का प्रतीक न होगा। और निरलंकृत या अनलंकृत शरीर भी कभी उतना अच्छा न लगेगा, जितना अच्छा सामान्य और उपयुक्त अलकारों से अलंकृत शरीर लगेगा। अपनी रचनाओं में हमें अलंकारों का इसी दृष्टि से और नियमित मात्रा में उपयोग करना चाहिए।

यदि हम कहें—'अमुक पुस्तक बहुत उपयोगी है' तो यह कथन का बहुत साधारण प्रकार होगा; और इसी लिए सुननेवाले को उस पुस्तक की उपयोगिता का सामान्य ज्ञान मात्र होकर रह जायगा। पर यदि हम कहें (क) 'यह पुस्तक रामायण के समान शिक्षा-प्रद है।' (ख) 'यह पुस्तक अपना जोड़ नहीं रखती।' (ग) 'इस पुस्तक के सामने आपकी वह पुस्तक भी नहीं ठहरती।' (घ) 'यह पुस्तक तो दूसरी गीता है।' अथवा (ङ) 'इस पुस्तक के सामने आपकी दोनों पुस्तकें दब जाती हैं।' तो इस प्रकार के कथनों से सुननेवाले पर पुस्तक की उपयोगिता का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम कहें (क) 'आप बहुत कठोर-हृदय हैं।' (ख) 'आपका कलेजा पत्थर का है।' (ग) 'आपने तो कठोर-हृदयता में अपने भाई को भी मात कर दिया।' अथवा (घ) 'आपकी कठोरता तो पशुओं में भी नहीं दिखाई देती।' तो ये सब भी कथन के प्रकार ही होंगे, पर साधारण से अधिक प्रभावशाली होंगे। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते

हैं—'आप दानियों में कर्ण, वीरों में अर्जुन और सत्य-पालन में हरिश्चन्द्र हैं।' यह भी कथन का एक निराला प्रकार हुआ। अथवा हम कह सकते हैं—(क) 'आप और आपके भाई दोनों एक हैं।' (ख) 'यह लड़का है या आफत का परवाला!' (ग) 'यह लड़का चार दिन की बीमारी में सूखकर काँटा हो गया।' (घ) 'आप अपने घर के राजा हों, तो भी हमारे किस काम के!' (ङ) 'आपकी शिक्षा से तो गधा भी आदमी बन सकता है।' (च) 'आज तो घर बैठे आपके दर्शन हो गये।' (छ) 'आपका यश सारे संसार में फैला है।' (ज) 'आपके दर्शन मात्र से हमारे सब पाप कट गये।' (झ) 'आपकी बातों पर मुझे हँसी भी आती है और क्रोध भी चढ़ता है।' (ञ) 'राम की कृपा से अन्धे भी देखने और गूँगे भी बोलने लगते हैं।' तो ये भी कथन के प्रकार ही हैं; और ऐसे ही कथन-प्रकारों के आधार पर हमारे यहाँ के अलंकारों की सृष्टि हुई है। इसी लिए कहा जाता है कि चमत्कारपूर्ण कथन-प्रकार ही अलंकार हैं। और इसी आधार पर अलंकार-शास्त्र के ज्ञाता लोक-प्रचलित कहावतों और मुहावरों तक में एक अथवा अनेक अलंकार ढूँढ़ निकालते हैं।

शब्दों की शक्ति और गुण

परन्तु अलंकार ही शैली के सर्वस्व नहीं हैं; ये तो उसके एक अंग मात्र हैं। हमारे यहाँ के साहित्यकारों ने अर्थ के विचार से शब्दों की तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द की ये शक्तियाँ तभी प्रकट होती हैं, जब उन्हें वाक्यों में स्थान मिलता है। किसी शब्द का एक ही और साधारण अर्थ उसकी अभिधा शक्ति से प्रकट होता है। पर जहाँ किसी वाक्य में ठीक संगति बैठाने के लिए शब्द के साधारण अर्थ को छोड़कर कोई और अर्थ लिया जाता है, वहाँ उसकी लक्षणा शक्ति काम करती है। प्रायः मुहावरों और विशिष्ट क्रिया-प्रयोगों से शब्दों के जो अर्थ निकलते हैं, वे इसी शक्ति के द्वारा। और जहाँ व्यंग्य आदि के रूप में कुछ विपरीत-सा और चमत्कारपूर्ण अर्थ निकलता है, वहाँ उसकी व्यंजना शक्ति काम करती है। साहित्य में अच्छे वाक्य वही समझे जाते हैं, जिनमें व्यंजना से सूचित होनेवाला व्यंग्यार्थ रहता है। शब्दों या वाक्यों का यही व्यंग्यार्थ

सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण और प्रभावशाली होता है।

शक्ति के सिवा शब्दों में गुण भी होते हैं, जिनमें माधुर्य, ओज और प्रसाद मुख्य हैं। फिर शब्द-योजना की जिस विशेषता से रचना में ये तीनों गुण उत्पन्न होते हैं, उसे शब्दों की वृत्ति कहते हैं। इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ भी तीन हैं ; माधुर्य की वृत्ति मधुरा, ओज की परुषा और प्रसाद की प्रौढ़ा वृत्ति मानी गई है। फिर इन्हीं गुणों और वृत्तियों के अनुसार रचना की तीन रीतियाँ मानी गई हैं, जो वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली कहलाती हैं। पर अब ये रीतियाँ बहुत पुरानी हो गई हैं और इनके उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में ही पाये जाते हैं। आज-कल और विशेषतः गद्य में इनका कोई उपयोग नहीं है; इसलिए इनका विचार छोड़कर हम शब्दों के गुणों और वृत्तियों के सम्बन्ध में ही कुछ मुख्य बातें बतलाकर आगे बढ़ेंगे।

रचना में माधुर्य तभी आता है, जब हम अपनी बात मधुर शब्दों में और मधुर रूप से कहते हैं। हम अच्छी-से-अच्छी बात कठोर रूप में भी कह सकते हैं; और कठोर-से-कठोर बात मधुर रूप में भी। आज-कल के राज-नीतिज्ञ प्रायः कठोर-से-कठोर बात भी मधुर रूप में कहने में बहुत सिद्धहस्त हैं। हम यह तो नहीं कहते कि हमारे लेखकों को भी इस विषय में राजनीतिज्ञों का ही अनुकरण करना चाहिए; क्योंकि राजनीतिज्ञों का माधुर्य प्रायः कपटपूर्ण होता है। पर राजनीतिज्ञों के भाषणों और लेखों से हम यह अवश्य सीख सकते हैं कि कोई बात मधुर रूप में कैसे कही जा सकती है। लेखकों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारे विचार और भाव तो मधुर हों ही, उन्हें प्रकट करने की शैली भी वैसी ही मधुर हो। कभी कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिए। सब बातें ऐसे मधुर रूप में कहनी चाहिएँ कि सुनने और पढ़नेवाले प्रसन्न हो जायँ। यदि कोई प्रत्यक्ष झूठ बोलता हो, तो भी आज-कल की पारिषदिक प्रथा के अनुसार उसे सहसा 'झूठा' नहीं कहा जाता। यही कहा जाता है—आपका कथन सत्य से बहुत दूर है; अथवा आपको इस विषय में जो सूचना मिली है, वह पूरी और ठीक नहीं है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने काश्मीर के सम्बन्ध में बम्बई में अपने एक भाषण में (अप्रैल, १९४८) कहा था—'यद्यपि भारत स्वतंत्र हो

गया है, तथापि इन (संसार के बड़े बड़े) राष्ट्रों के दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं हुआ है।' थी तो यह फटकार ही, पर कैसे मधुर रूप में थी ! यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो यही कहता कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर भी बड़े-बड़े राष्ट्र उसे अभी तक तुच्छ या हेय ही समझते हैं। इसमें फटकार तो होती ही नहीं, उलटे इससे भारत की तुच्छता या हीनता ही सिद्ध होती। पर नेहरू जी की उक्त उक्ति में फटकार के सिवा भारत के गौरव का अभिमान भी भरा था !

रचना में ओज तभी आता है, जब उसमें शिथिलता कहीं नाम को भी नहीं होती। जैसा कि हम पहले 'वाक्य-विन्यास' शीर्षक प्रकरण में बतला चुके हैं, रचनाओं में शिथिलता दो प्रकार की होती है—पहली शब्द-गत और दूसरी अर्थ-गत। वाक्यों की बनावट या शब्दों की योजना भी शिथिल हो सकती है; और विचार या भाव प्रकट करने का क्रम भी। जहाँ विचार ठीक क्रम से रक्खे जाते हैं और साथ ही वाक्यों की रचना भी ठीक ढंग से होती है, वहीं रचना में ओज आ सकता है। हमारे विचार ठीक क्रम से तो होने ही चाहिएँ, उनमें प्रौढ़ता होना भी आवश्यक है। जब प्रौढ़ विचार उत्तम वाक्य रचना की सहायता से प्रकट किये जाते हैं, तभी रचना प्रभावशालिनी होती है। कुछ अवस्थाओं में यह ओज गुण माधुर्य का विरोधी भी हो सकता है—रचना की मधुरता कुछ कम भी कर सकता है। पर प्रायः दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग अलग होते हैं; इसलिए दोनों में विरोध की उतनी गुंजाइश नहीं होती।

प्रसाद गुण का काम है अर्थ का स्पष्ट और निश्चित अभिव्यंजन। बातें तो बहुत-सी और अच्छी-अच्छी कह जायँ, पर वे बातें शब्दों की में इस तरह उलझ जायँ कि सुनने या पढ़नेवाले के पल्ले कुछ भी न पड़े बहुत कम पड़े अथवा कुछ का कुछ पड़े, तो हमारा सारा प्रयास ही व्यर्थ जायगा—हमारा मुख्य उद्देश्य ही बिलकुल नष्ट हो जायगा। यह भी है कि अर्थ की दुर्बोधता के कारण लोग हमारी रचना पढ़ते-पढ़ते बीच में छोड़ दें। अथवा यदि जैसे-तैसे पढ़ भी जायँ, तो हमारा ठीक अभिप्राय समझकर कुछ और ही अभिप्राय समझने लगें। इसी लिए हमारी सदा ऐसी होनी चाहिए, जिसमें आदि से अन्त तक अर्थ की विमलता औ स्वच्छता पूर्ण मात्रा में बनी रहे। यही है रचना का प्रसाद-गुण।

यह तो हुआ हमारे यहाँ के साहित्यकारों की दृष्टि से रचना-शैली का विवेचन। अब आइये, जरा आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से भी देख और समझ लें कि वे शैली का विचार कैसे करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी शैली पर विचार तो बहुत अधिक किया है, पर उन सबका कोई एक निश्चित मत या सिद्धान्त नहीं है। भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। सब आचार्यों के मतों का सारांश यहाँ देना हमारे लिए असम्भव है। हाँ, उनमें कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनके सम्बन्ध में बहुत ही कम मत-भेद है या जिनमें जल्दी मत-भेद हो ही नहीं सकता। और कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो या तो हमारे यहाँ के सिद्धान्तों से मेल खाती हैं या किसी न किसी रूप में उनके अन्तर्गत आ सकती हैं। ऐसी ही बातें नये लेखकों के लिए उपयुक्त भी हो सकती हैं। हम मुख्यतः इसी प्रकार की कुछ बातें यहाँ बतलाना चाहते हैं।

शैली का पाश्चात्य रूप

यह तो सभी लोग जानते और मानते हैं कि रचना में शुद्धता, सरलता और स्पष्टता होनी चाहिए; वह भाव-व्यंजन की सुन्दर प्रणालियों से युक्त होनी चाहिए; और उसमें सजीवता तथा लालित्य होना चाहिए। और इन सब बातों के क्षेत्र भी बहुत कुछ वही हैं, जो माधुर्य, ओज और प्रसाद के हैं। हाँ, उनके वर्गीकरण का ढंग अवश्य हमारे यहाँ के ढंग से कुछ निराला है। इस विषय में दो मत हो ही नहीं सकते कि रचना में सरलता होनी चाहिए; जिससे उसका अर्थ और भाव पाठकों की समझ में तुरन्त और अनायास आ जाय। यह हमारे यहाँ के प्रसाद गुण के अन्तर्गत ही है। सजीवता को हम ओज के अन्तर्गत मान सकते हैं। यह रचना का वह गुण है जो हमारी बातों में जान डालकर पाठकों के सामने हमारे वर्णित विषय का जीता-जागता चित्र उपस्थित करता है। यह गुण पाठकों की कल्पना-शक्ति तीव्र करने में बहुत सहायक होता है। लालित्य बहुत कुछ वही है जो हमारे यहाँ का माधुर्य है। इससे रचना मनोहर होती है और पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती तथा अपने पर उनका अनुराग बनाये रखती है। एक और गुण है जिसे कुछ लोग उल्लास या प्रोत्साहकता कहते हैं; पर जो हमारी सम्मति में चारुता है। इसे भी हम अपने यहाँ के ओज के अन्तर्गत मान

हैं। इसका काम भी रचना में प्रभाव डालने की शक्ति उत्पन्न करना है। अन्तिम गुण लय है जो यमक, अनुप्रास आदि के सिवा सुन्दर और एक-रस शब्द योजना से उत्पन्न होता है; और इसी लिए यह रचना का शब्द-गत सौन्दर्य है। एक के बाद एक उपयुक्त शब्द का विन्यास ही इसका मुख्य आधार है। सारांश यह कि रचना सब प्रकार से सरल, स्वच्छ, स्पष्ट, मधुर, प्रभावोत्पादक, शिष्टतापूर्ण और संगीतमय होनी चाहिए।

शब्दों का ठीक चुनाव और वाक्यों में उनका उपयुक्त स्थापन, वाक्यों का सुन्दर, सुष्ठ और स्पष्ट विन्यास, विचारों का समुचित विश्लेषण और प्रतिपादन, थोड़े से शब्दों में अधिक भाव प्रकट करना और पाठकों के मनोरंजन का ध्यान रखते हुए उनपर पूरा-पूरा प्रभाव डालना ही शैली की विशेषताएँ हैं। हर जगह उपयुक्त क्रिया-प्रयोग और बीच-बीच में मुहावरे और कहावतें रखने से भाषा का प्रवाह ठीक रहता है और रचना में जान आती है; और ये बातें शैली स्थिर करने में बहुत कुछ सहायक होती हैं। फिर शैली में इन सबसे बढ़कर जो बात होती है, वह है रचना पर लेखक की वैयक्तिक छाप। यह छाप ऐसी प्रबल होनी चाहिए कि इसे देखते ही लेखक पहचाना जा सके। रचना देखकर यह कहा जा सके कि यह अमुक लेखक की ही है, उसके सिवा और किसी की हो ही नहीं सकती। अच्छा लेखक वही समझा जाता है, जिसकी निज की शैली बोलती हुई शैली हो। जिस लेखक की या जिस रचना में कोई विशिष्ट शैली न हो, उसकी गिनती अच्छे साहित्यकार या अच्छे साहित्य में नहीं होती। इसी लिए अच्छे साहित्यकार बननेवालों को अपनी विशिष्ट शैली बनानी पड़ती है। शैली ही पद्मावत की पंक्तियाँ रामचरित मानस में, तुलसी के पद सूर के पदों में, प्रसाद के वाक्य प्रेमचन्द के वाक्यों में, आचार्य शुक्ल के चोज आचार्य गुलेरी के चीजों में और बा० बालमुकुन्द गुप्त की टिप्पणियाँ आचार्य द्विवेदी की टिप्पणियों में नहीं मिलने देती। शैली ही लेखक का नाम पुकारकर बतलाती और उसका परिचय देती है। साहित्य का सारा सौन्दर्य, आलोचना का सारा आधार और लेखक की विशिष्टता की सारी पहचान शैली में ही निहित रहती है।

[१५]

फुटकर बातें

हिज्जे या अक्षरी की भूलें—अशुद्ध समास—'व' और 'ब' का भेद-अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु—अक्षरों के नीचे बिन्दियाँ—विराम-चिह्नों का उपयोग—पूर्ण विराम और अल्प विराम—योग-सूचक चिह्न—प्रश्न-चिह्न—अवतरण चिह्न—प्रूफ देखने की योग्यता—स के भूत—लेखकों की भूलों का सुधार।

अब तक भाषा की शुद्धता के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बतलाई जा चुकी हैं फिर भी कुछ छोटी-मोटी बातें रह गई हैं। जैसे—शब्दों के रूप, विराम-चिह्न आदि। ये सब बातें यद्यपि देखने में बहुत सामान्य जान पड़ती हैं, पर भाषा की शुद्धता के विचार से इनका बहुत अधिक महत्त्व है। इस प्रकरण में हम इसी प्रकार की कुछ फुटकर बातों का विचार करना चाहते हैं। आशा है इनसे भी लेखकों तथा विद्यार्थियों को भाषा का स्वरूप शुद्ध और स्थिर रखने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

हिज्जे या अक्षरी की भूलें

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो देव-नागरी में हिज्जे या अक्षरी का कोई स्थान नहीं है। उसका स्थान तो उन लिपियों में होता है जिनमें लिखा कुछ जाता है, और पढ़ा कुछ। जैसे लिखा जाय 'बालकुल' और पढ़ा जाय 'बिलकुल' या लिखा जाय 'हाल्फ' और पढ़ा जाय 'हाफ'; या 'वर्षा' का सूचक 'रेन' तो लिखा जाय rain और 'शासन' का सूचक 'रेन' लिखा जाय reign अथवा, 'टुकड़ा' या 'खंड' का सूचक 'पीस' तो लिखा जाय Piece और 'शान्ति' का सूचक 'पीस' लिखा जाय Peace। जिन लिपियों में एक एक उच्चारण के लिए कई अक्षर हों (जैसे—उर्दू में 'स' के लिए 'से' 'सीन' और 'साद' या 'ज़' के लिए ज़ाल, ज़े, ज़ाद और ज़ो) उनमें भी हिज्जे की आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ ये सब बातें नहीं हैं। हमारे यहाँ तो शब्द के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान ही अपेक्षित

होता है। हमारे यहाँ ऐसे शब्द बहुत कम हैं, जिनमें उच्चारण के कारण हिज्जे की गड़बड़ी हो सकती हो। यह ठीक है कि आज-कल 'प्रिय' में 'प्र' का उच्चारण भी वैसा ही होता है, जैसा 'पृष्ठ' में 'पृ' का; और इस आधार पर हम कह सकते हैं कि 'प्रिय' का उच्चारण भी वैसा ही होता है, जैसा 'पृय' का। पर इस प्रकार के शब्द बहुत ही थोड़े होंगे, जिनमें यह सोचना पड़े कि 'प्रि' लिखा जाय या 'पृ'। अधिकतर अवस्थाओं में यदि शब्द का ठीक उच्चारण मालूम हो तो हिज्जे में भूल के लिए बहुत ही कम अवकाश रह जाता है। कदाचित् यही कारण है कि हमारे यहाँ 'हिज्जे' का वाचक शब्द प्रचलित नहीं है। फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके हिज्जे में धाँधली दिखाई देती है। हमारे यहाँ अनेक परम प्रचलित शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं हैं। 'लिए' और 'चाहिए' सरीखे सामान्य शब्द भी किसी निश्चित रूप में नहीं लिखे जाते। कोई 'लिए' और 'चाहिए' लिखता है, कोई 'लिये' और 'चाहिये'। करावे, कराये और करावै; छूएँगे, छुवेंगे, छुएँगे, छूवेंगे; पाये, पाए, पावे, पावै; जायगा, जायेगा, जाएगा, जावेगा आदि अनेक रूप देखने में आते हैं। यह बात भी नहीं है कि एक लेखक सदा किसी शब्द का कोई एक ही रूप लिखता हो और दूसरा लेखक कोई दूसरा रूप ठीक मानता हो। कोई 'लिए गए' लिखता है, कोई 'लिये गये' और बहुत से लोग लिखते हैं—'लिए गये' या 'लिये गए'। बहुत-से लेखक अपने एक ही लेख में एक ही शब्द कई तरह से लिखते हैं, जैसे—कहीं 'करिये' और कहीं 'कीजिए', कहीं 'लीजिए' और कहीं 'लीजिये' आदि। एक दैनिक पत्र में कुछ स्थानों पर 'दिखायी' और 'सुनायी' तथा कुछ स्थानों पर 'दिखाई' और 'सुनाई' आदि देखकर जब इसके कारण का पता लगाया गया, तब मालूम हुआ कि जहाँ स्त्रीलिंग के विचार से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ 'दिखायी' या 'सुनायी' रक्खा जाता है। जैसे 'उसने पुस्तक दिखायी' और 'बात सुनायी'। और जहाँ क्रिया अपने साधारण रूप में आती है, वहाँ 'दिखाई' या 'सुनाई' रक्खा जाता है। जैसे—'दृश्य दिखाई दिया' और 'शब्द सुनाई पड़ा'। ऐसे तर्क सुनकर आदमी को दंग रह जाना पड़ता है। इससे भी बढ़कर हमें एक बार एक परम प्रसिद्ध सम्पादक और लेखक के हाथ के

लिखे हुए लेख में मिला था—'आशा है कि तीन रुपये भेजकर आप हमें अनुग्रहीत करेंगे।' इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि हिन्दी में हिज्जे की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है; और यदि है भी तो या तो सब लोग वह प्रणाली जानते ही नहीं, या उसे मानते ही नहीं। हिन्दी सरीखी उन्नत भाषा के लिए यह बहुत लज्जा की बात है। हिन्दी की एक प्रशस्त प्रणाली होनी चाहिए और सब लोगों को उसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए। एक सीमा तक प्रशस्त प्रणाली निश्चित भी है; परन्तु वह आस-पास की कई गन्दी प्रणालियों से इस प्रकार घिर गई है कि नये लेखक उसे पहचान नहीं पाते; और जब जो जी में आता है, लिख जाते हैं।

कोई 'आई' लिखता है तो कोई 'आयी'। (अब इस शाखा के लोग कम रह गये हैं।) कोई 'कुँअर' लिखता है तो कोई 'कुँवर' और कोई 'हलुआ' पसन्द करता है तो कोई 'हलुवा'। कोई 'गुंजाइश' निकालता है तो कोई 'गुंजायश'। कोई 'सोसाइटी' ढूँढ़ता है तो कोई 'सोसायटी'। कोई 'घबराता' है तो कोई 'घबड़ाता'। कोई 'पाउंड' माँगता है तो कोई 'पौंड'। कोई 'पहिले' लिखता है, तो कोई 'पहले'। कोई 'अँगुली' दिखाता है तो कोई 'उँगली'। कोई 'रियायत' चाहता है तो कोई 'रिआयत'। कोई 'रेडियो' सुनता है तो कोई 'रेडिओ' पर बोलता है। यही बात युरोप, योरोप, यूरोप; अँग्रेज, अंगरेज; कान्फरेन्स; कान्फ्रेन्स; पार्लमिन्ट, पार्लिमेन्ट, पार्लियामेन्ट आदि के सम्बन्ध में भी है। सीधे-सादे 'माने' (अर्थ) को कुछ लोग 'मायने' बना देते हैं। या तो 'वेष' होना चाहिए या 'भेस'; पर कुछ लोग दोनों को एक में मिलाकर 'भेष' लिखते हैं। यद्यपि अब, अधिकतर लोग शुद्ध रूप 'उपर्युक्त' लिखने लगे हैं, फिर भी पुराने ढंग पर अशुद्ध रूप 'उपरोक्त' लिखनेवाले लोग भी मिलते ही हैं। कुछ लोग 'स्रोत' को भूल से 'श्रोत' भी लिख जाते हैं। कोई केवल 'स्वास्थ' (स्वास्थ्य) लिख कर रह जाता है और कोई 'स्वस्थ्य' (स्वस्थ) तक जा पहुँचता है। संस्कृत के हलन्त शब्दों के सम्बन्ध में भी लोग बहुत गड़बड़ी करते हैं। विद्वान्, भगवान्, जगत् आदि के विद्वान, भगवान, जगत आदि रूप तो हिन्दी के मान लिये जा सकते हैं; पर जब लोग इससे भी और आगे बढ़कर

होता है। हमारे यहाँ ऐसे शब्द बहुत कम हैं, जिनमें उच्चारण के कारण हिज्जे की गड़बड़ी हो सकती हो। यह ठीक है कि आज-कल 'प्रिय' में 'प्र' का उच्चारण भी वैसा ही होता है, जैसा 'पृष्ठ' में 'पृ' का; और इस आधार पर हम कह सकते हैं कि 'प्रिय' का उच्चारण भी वैसा ही होता है, जैसा 'पृय' का। पर इस प्रकार के शब्द बहुत ही थोड़े होंगे, जिनमें यह सोचना पड़े कि 'प्रि' लिखा जाय या 'पृ'। अधिकतर अवस्थाओं में यदि शब्द का ठीक उच्चारण मालूम हो तो हिज्जे में भूल के लिए बहुत ही कम अवकाश रह जाता है। कदाचित् यही कारण है कि हमारे यहाँ 'हिज्जे' का वाचक शब्द प्रचलित नहीं है। फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके हिज्जे में धाँधली दिखाई देती है। हमारे यहाँ अनेक परम प्रचलित शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं हैं। 'लिए' और 'चाहिए' सरीखे सामान्य शब्द भी किसी निश्चित रूप में नहीं लिखे जाते। कोई 'लिए' और 'चाहिए' लिखता है; कोई 'लिये' और 'चाहिये'। करावे, कराये और करावै; छूएँगे, छुवेंगे, छुएँगे, छूवेंगे; पाये, पाए, पावे, पावें; जायगा, जायेगा, जाएगा, जावेगा आदि अनेक रूप देखने में आते हैं। यह बात भी नहीं है कि एक लेखक सदा किसी शब्द का कोई एक ही रूप लिखता हो और दूसरा लेखक कोई दूसरा रूप ठीक मानता हो। कोई 'लिए गए' लिखता है, कोई 'लिये गये' और बहुत से लोग लिखते हैं—'लिए गये' या 'लिये गए'। बहुत-से लेखक अपने एक ही लेख में एक ही शब्द कई तरह से लिखते हैं, जैसे—कहीं 'करिये' और कहीं 'कीजिए', कहीं 'लीजिए' और कहीं 'लीजिये' आदि। एक दैनिक पत्र में कुछ स्थानों पर 'दिखायी' और 'सुनायी' तथा कुछ स्थानों पर 'दिखाई' और 'सुनाई' आदि देखकर जब इसके कारण का पता लगाया गया, तब मालूम हुआ कि जहाँ स्त्रीलिंग के विचार से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ 'दिखायी' या 'सुनायी' रक्खा जाता है। जैसे 'उसने पुस्तक दिखायी' 'बात सुनायी'। और जहाँ क्रिया अपने साधारण रूप में आती है, 'दिखाई' या 'सुनाई' रक्खा जाता है। जैसे—'दृश्य दिखाई दिया' और सुनाई पड़ा'। ऐसे तर्क सुनकर आदमी को दंग रह जाना पड़ता है। भी बढ़कर हमें एक बार एक परम प्रसिद्ध सम्पादक और लेखक के हाथ

लिखे हुए लेख में मिला था—'आशा है कि तीन रुपये भेजकर आप हमें अनुग्रहीत करेंगे।' इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि हिन्दी में हिज्जे की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है; और यदि है भी तो या तो सब लोग वह प्रणाली जानते ही नहीं, या उसे मानते ही नहीं। हिन्दी सरीखी उन्नत भाषा के लिए यह बहुत लज्जा की बात है। हिन्दी की एक प्रशस्त प्रणाली होनी चाहिए और सब लोगों को उसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए। एक सीमा तक प्रशस्त प्रणाली निश्चित भी है; परन्तु वह आस-पास की कई गन्दी प्रणालियों से इस प्रकार घिर गई है कि नये लेखक उसे पहचान नहीं पाते; और जब जो जी में आता है, लिख जाते हैं।

कोई 'आई' लिखता है तो कोई 'आयी'। (अब इस शाखा के लोग कम रह गये हैं।) कोई 'कुँअर' लिखता है तो कोई 'कुँवर' और कोई 'हलुआ' पसन्द करता है तो कोई 'हलुवा'। कोई 'गुंजाइश' निकालता है तो कोई 'गुंजायश'। कोई 'सोसाइटी' ढूँढ़ता है तो कोई 'सोसायटी'। कोई 'घबराता' है तो कोई 'घबड़ाता'। कोई 'पाउंड' माँगता है तो कोई 'पौंड'। कोई 'पहिले' लिखता है, तो कोई 'पहले'। कोई 'अँगुली' दिखाता है तो कोई 'उँगली'। कोई 'रियायत' चाहता है तो कोई 'रिआयत'। कोई 'रेडियो' सुनता है तो कोई 'रेडिओ' पर बोलता है। यही बात युरोप, योरोप, यूरोप; अँग्रेज, अंगरेज; कान्फरेन्स; कान्फ्रेन्स; पार्लमिन्ट, पार्लिमेन्ट, पार्लियामेन्ट आदि के सम्बन्ध में भी है। सीधे-सादे 'माने' (अर्थ) को कुछ लोग 'मायने' बना देते हैं। या तो 'वेष' होना चाहिए या 'भेस'; पर कुछ लोग दोनों को एक में मिलाकर 'भेष' लिखते हैं। यद्यपि अब, अधिकतर लोग शुद्ध रूप 'उपर्युक्त' लिखने लगे हैं, फिर भी पुराने ढंग पर अशुद्ध रूप 'उपरोक्त' लिखनेवाले लोग भी मिलते ही हैं। कुछ लोग 'स्रोत' को भूल से 'श्रोत' भी लिख जाते हैं। कोई केवल 'स्वास्थ' (स्वास्थ्य) लिख कर रह जाता है और कोई 'स्वस्थ्य' (स्वस्थ) तक जा पहुँचता है। संस्कृत के हलन्त शब्दों के सम्बन्ध में भी लोग बहुत गड़बड़ी करते हैं। विद्वान्, भगवान्, जगत् आदि के विद्वान, भगवान, जगत आदि रूप तो हिन्दी के मान लिये जा सकते हैं; पर जब लोग इससे भी और आगे बढ़कर

'महान्' को 'महान' मानकर उससे भाववाचक संज्ञा 'महानता' बनाने लगते हैं, तब समझदारों के मन में ग्लानि सी होने लगती है। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे अक्षर भी हलन्त कर देते हैं जो वस्तुतः सस्वर होने चाहिएँ। शुद्ध रूप 'प्रत्युत' है, पर प्रायः लोग 'प्रत्युत्' लिखते हैं। कुछ विदेशी शब्द कहीं आधे अक्षरों से लिखे जाते हैं और कहीं पूरे अक्षरों से। जैसे—गरमी-गर्मी, बिलकुल-बिल्कुल, सरदार-सर्दार, मुसलमान-मुसल्मान आदि। हमारी सम्मति में ऐसे शब्दों में पूरे अक्षर रखना ही प्रशस्त भी है और लिखाई तथा छापे के विचार से सुगम भी।

अशुद्ध समास

कुछ ऐसे लोग भी हैं जो 'कुछ' और 'एक' को मिलाकर 'कुछेक' या 'हर' और 'एक' को मिलाकर 'हरेक', 'मध्य एशिया' को एक में मिलाकर 'मध्येशिया' और 'हिन्द एशिया' को मिलाकर 'हिन्देशिया' लिखते हैं। माँ-बाप जिनका नाम 'राम-इकबाल' रखते हैं, वे संस्कृत की छाया में पड़कर 'रामैकबाल' बन जाते हैं। जो 'बख्शी' होते हैं, वे मराठी की छाया में पड़कर 'बक्षी' बन जाते हैं। और उनकी देखा-देखी 'रामबख्श' अपने आपको 'रामबक्ष' लिखने लगते हैं। हम अपने संख्यावाचक शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं रख सके हैं। सत्रह-सत्तरह, इक्कीस-इक्किस एक्कीस, चालिस-चालीस आदि अनेक रूप देखने में आते हैं। शुद्ध रूप 'छठा' है, पर कुछ लोग 'छठवाँ', 'छठाँ' या 'छट्टा' भी लिख जाते हैं। लेखकों में अग्रगण्य बने हुए लोग भी पैत्रिक, स्मृद्ध, व्यंग, मलीन, वादाविवाद, सुखदाई, स्थाई, ईर्षा, नर्क और रचेता (शुद्ध रूप पैतृक, समृद्ध, व्यंग्य, मलिन, वाद-विवाद, सुखदायी, स्थायी, ईर्ष्या, नरक और रचयिता) लिखते हैं।

संस्कृत शब्दों के अशुद्ध रूप

'ब्रह्म' को 'ब्रम्ह' और 'चिह्न को 'चिन्ह' लिखनेवाले लोगों की भी कमी नहीं है। 'स्रष्टा' को सृष्टा' और 'द्रष्टा' को 'दृष्टा' लिखनेवाले भी बहुत-से लोग हैं। कुछ लोग 'कौशल्या' को 'कौशिल्या', 'अहल्या' को 'अहिल्या', 'द्वारका' को 'द्वारिका', 'सौदामनी' को 'सौदामिनी', 'अहोरात्र' को 'अहोरात्रि' और 'अहर्निश' को 'अहर्निशि' बना देते हैं। 'जाग्रति' और 'कुतूहल' सरीखे

कुछ शब्दों के तो कई-कई रूप देखने में आते हैं। अधिकतर लोग 'जागृति' और 'कौतूहल' लिखते हैं। 'हविस', 'सिपुर्द', 'वापिस' और 'फिजूल' लिखनेवाले तो बहुत से लोग हैं ही; कुछ लोग 'गिरिस्ती' (गृहस्थी) तक लिखते हैं!

हिन्दी में एक वह भी समय था, जब 'स्टेशन' को 'ष्टेशन' 'मास्टर' को 'माष्टर' और 'कनस्टर' को 'कनष्टर' लिखने की प्रथा थी। उस समय के लोग कहते थे कि संस्कृत व्याकरण के नियम के अनुसार 'ट' के पहले दन्त्य 'स' नहीं, बल्कि मूर्द्धन्य 'ष' का ही संयोग होना चाहिए। उनके कुछ अनुयायी अब तक 'बृटिश' और 'क्रिमिनल' लिखते हैं। एक समय था, जब कि कुछ लोग 'कभी' को 'कधी' लिखते थे। पर अब भी कुछ लोग 'क्यों' और 'यों' को 'क्यूँ' और 'यूँ' लिखते हैं। संस्कृत में रेफ के नीचे आनेवाले अक्षर द्वित्व लिखे जाते हैं। जैसे धर्म्म, कर्म्म, कर्त्तव्य, चर्य्या, वर्त्तन आदि। पर अब लोग प्रायः धर्म, कर्म, कर्तव्य, चर्या और वर्तन ही लिखते हैं। 'तत्त्व' 'महत्त्व' और 'सत्त्व' को बहुत से लोग 'तत्व', 'महत्व' और 'सत्व' लिखते हैं। यही बात 'मूर्छा, और 'मूर्छित' ('मूर्च्छा' और मूर्च्छित') तथा 'अर्ध' और 'परिवर्धन' (अर्द्ध और परिवर्द्धन) के सम्बन्ध में भी है। सिद्धान्ततः ऐसा लिखना ठीक तो नहीं है, पर सुभीते के कारण चल पड़ा है। बहुत-से लोग दूसरी भाषाओं के शब्द ऐसे ढंग से लिखना चाहते हैं कि उनका ठीक वही उच्चारण हो सके जो उनकी मूल भाषा में है; और कुछ लोग ऐसे शब्दों को कुछ तोड़-मरोड़कर अपनी भाषा में लाने का प्रयत्न करते हुए उन्हें तरह-तरह के रूप देते हैं। कुछ लोग पंजाबी और उर्दू की छाया के कारण 'गढ़ना' को 'घड़ना' लिखते हैं। यद्यपि यह शब्द सं० घटन से ही निकला है, पर अधिकतर स्थानों में इसका 'गढ़ना' रूप ही प्रचलित है और यही प्रशस्त माना जाता है। 'सह-बाला' शब्द संस्कृत सह-बाल (बालक) से बना है; पर उर्दूवालों की देखा-देखी कुछ लोग 'शह-बाला' और 'शाह-बाला' तक लिखते हैं। हिन्दी का सीधा-सादा शब्द है—फुहारा जो 'फुहार' से बना है। हमारे ही देश के लोगों ने इसे अरबी जामा पहनाकर 'फौवारा' बना दिया है। इसलिए कोई तो 'फौव्वारा' लिखता है, और कोई 'फौहारा'। शायद कुछ लोग 'फुआरा' भी लिखते हैं। हिन्दी के 'ओह' और 'उह' को

कुछ लोग 'श्रोफ' 'उफ' लिखते हैं। इन्हीं सब प्रवृत्तियों का यह फल है कि कहीं लिखा रहता है—'पटरि' से चलो और कहीं—'शुद्ध घी बिक्ता है'।

हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता यह कही और मानी जाती है कि इसमें जो कुछ लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। और इसी लिए हम जो कुछ बोलते हों, वही लिखा भी जाना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके रूप शुद्धता के विचार से कुछ बदल दिये जाने चाहिएँ। उदाहरणार्थ हम 'रखना' तो बोलते हैं, पर 'रखा गया' या 'रखे रहो' नहीं बोलते, बल्कि 'रक्खा गया' और 'रक्खे रहो' बोलते हैं। विशेषतः कविताओं आदि में तो कुछ अवस्थाओं में मात्रा पूर्ति के विचार से 'रक्खे', 'रक्खो' आदि रूप रखना आवश्यक हो जाता है। जैसे 'खुदा रक्खे, मसीहा का मज़ा कातिल से मिलता है' में 'रखे' लिखने से काम ही नहीं चल सकता। इसलिए ऐसे शब्द लिखे भी इन्हीं रूपों में जाने चाहिएँ।

'ब' और 'व' का भेद

हिन्दी में 'ब' और 'व' की समस्या भी बहुत जटिल है। इतनी जटिल है कि जब नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी का 'हिन्दी शब्दसागर' बनने लगा था, तब कुछ सज्जनों ने प्रस्ताव किया था कि 'ब' और 'व' दोनों से आरम्भ होनेवाले शब्द अलग-अलग यथा-स्थान न रखकर एक साथ इसी प्रकार 'फ' के बाद 'ब' के अन्तर्गत रक्खे जायँ, जिस प्रकार प्रायः बँगला कोशों में रक्खे जाते हैं। परन्तु इस प्रश्न के सभी अंगों पर विचार करके अन्त में दोनों को अलग-अलग रखना ही निश्चित हुआ था। बात भी ठीक है। यदि उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो गया होता तो हिन्दीवालों के सामने एक बहुत ही दूषित आदर्श उपस्थित हो जाता। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो लिखने में 'ब' और 'व' में अन्तर नहीं रखते। उन्हें जानना चाहिए कि 'सेब' और 'सेव', 'बर्त्तन' और 'वर्त्तन', 'जबान' और 'जवान', 'आम बात' और 'आम वात' या 'बहन' और 'वहन' में बहुत अन्तर है। 'बाह्य' का अर्थ होता है—बाहरी; और 'वाह्य' का अर्थ होता है—जिसे वहन करना हो या जो वहन किये जाने के योग्य हो; अथवा घोड़ा, गाड़ी आदि। अतः सदा 'ब' की जगह 'ब' और 'व' की जगह 'व' ही लिखना चाहिए, एक की जगह दूसरे का

प्रयोग नहीं करना चाहिए। लेखकों को अनुस्वार और चन्द्रविन्दु का ध्यान भी रखना आवश्यक होता है। 'निश्चित' और 'निश्चिंत' तथा 'कहीं न कहीं' और 'कही न कही' में बहुत अन्तर है। इस विषय में असावधानी करने से बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। एक बार एक सज्जन ने एक शब्द के साथ व्यर्थ ही चन्द्रविन्दु लगाकर अर्थ का अनर्थ कर डाला था। उन्हें लिखना चाहिए था—'कटीली आँखें'। पर वे लिख गये 'कँटीली आँखें'। आँखें 'कटीली' ही होती हैं; 'कँटीली' तो झाड़ियाँ हुआ करती हैं। 'कटीला' का अर्थ है—'काट करनेवाला' और 'कँटीला' का अर्थ है—'काँटेदार'। चले तो आँखों की प्रशंसा करने, पर उलटे कर गये उनकी निन्दा या उपहास। कुछ स्थलों में बोल-चाल में लोग 'पूछना' की जगह 'पूँछना' कह जाते हैं। इसी से एक सज्जन ने अपने एक उपन्यास में किसी पात्री से कहलाया था—'मैं आपसे यह बात पूँछ सकती हूँ न?' ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि 'पूँछ' का अर्थ 'दुम' होता है। ऐसे ही लोग 'घोटना' और 'घोंटना' में कोई अन्तर नहीं समझते। पर दवा पहले खरल में रखकर 'घोटी' जाती है; और तब मुँह में रखकर 'घोंटी' जाती है। खाँसना, पाँसा, माँग आदि शब्द प्रायः लोग अनुस्वार से ही लिख चलते हैं; और कुछ लोग 'ढंग' को भी 'ढँग' लिख जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

अनुस्वार और चन्द्र विन्दु

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'में' 'है' और 'क्यों' सरीखे शब्दों में भी चन्द्रविन्दु ही होना चाहिए। परन्तु यह तब तक सरलता से नहीं हो सकता, जब तक हमारी लिपि में ही आ-मूल सुधार न हो। कुछ लोगों ने ऐसे नये टाइप अवश्य ढाले हैं, जिनमें ऐसे अक्षरों पर अनुस्वार की जगह चन्द्रविन्दु दिया है। पर कठिनता यह है कि ऐसे टाइप बहुत जल्दी टूट जाते हैं और अक्षर प्रायः फिर ज्यों के त्यों हो जाते हैं। उनमें का अनुस्वार तो उड़ जाता है और खाली अर्द्ध चन्द्र रह जाता है। अतः ऐसे अवसरों को छोड़कर बाकी सभी अवसरों पर अनुस्वार और चन्द्रविन्दु के भेद का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

अब अक्षरों के नीचे लगनेवाली बिन्दी लीजिए। हमारे यहाँ पहले तो ङ

अक्षरों के नीचे बिन्दियाँ

और ढ ही थे; पर पीछे से आवश्यकता पड़ने पर उनके नीचे बिन्दी लगाकर ड़ और ढ़ भी प्रचलित किये गये। ड और ड़ या ढ और ढ़ के उच्चारणों में बहुत अन्तर है। 'डाल' और 'ढब' तथा 'कड़ा' और 'पढ़ाई' के उच्चारणों से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पर लोग इसका पूरा ध्यान नहीं रखते। प्रायः एक की जगह दूसरे का प्रयोग देखने में आता है जो अनुचित है। इससे हमारी भाषा में जो गड़बड़ी होती है, उसके सिवा दूसरी बड़ी हानि यह होती है कि अन्य-भाषा-भाषियों को हमारे शब्दों के ठीक-ठीक उच्चारणों का ज्ञान नहीं होने पाता। हमने एक-दो दक्षिण भारतीयों को 'कड़ा' की जगह 'कडा' कहते सुना है, जो कदाचित् हम लोगों की इसी प्रकार की असावधानी का परिणाम है। लेखकों और विद्यार्थियों को इस विषय में भी सतर्क रहना चाहिए।

आज-कल एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है जो कुछ विवादास्पद है। हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग होता है। कुछ लोग कहते हैं कि हमें विदेशी भाषाओं के शब्दों के शुद्ध रूप देने चाहिएँ; और इसी लिए 'गजब' और 'गलती' आदि न लिखकर 'ग़ज़ब' और 'ग़लती' आदि लिखना चाहिए। अर्थात् ऐसे शब्दों में विशिष्ट अक्षरों के नीचे बिन्दी अवश्य लगानी चाहिए। परन्तु यदि इसी तर्क के आधार पर हम कुछ और आगे बढ़ें तो हमें 'कमीना' और 'पशमीना' न लिखकर 'कमीनः' और 'पश्मीनः' भी लिखना पड़ेगा। इसी लिए अधिकतर लोग विदेशी शब्दों में विशिष्ट अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाने के विरोधी हैं। हमारी समझ में भी यही मत ठीक है। हर जगह अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाना मानो एक नई तरह की गुलामी में फँसना है। हाँ, यदि कुछ विशेष अवसरों पर हमें किसी शब्द का शुद्ध रूप दिखलाना ही अभिष्ट हो, तो अवश्य अक्षरों के नीचे बिन्दी लगानी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोश में शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने की आवश्यकता हो तो हमें वहाँ उसका शुद्ध रूप देना पड़ेगा। और वह शुद्ध रूप दिखाने के लिए हमें आवश्यकता के अनुसार अक्षरों के नीचे बिन्दी भी लगानी पड़ेगी और उसके आगे विसर्ग भी रखना पड़ेगा। और नहीं तो साधारण अवस्था में अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाना

लेख और छापे दोनों की कठिनाइयाँ बढ़ाने के सिवा और कुछ नहीं है। यहाँ हमें भाषा के इस तत्त्व का ध्यान रखना चाहिए कि दूसरों से जो शब्द ग्रहण किये जाते हैं, वे सदा ज्यों-के-त्यों नहीं रहते; और वे तभी हमारे होते हैं; जब हम उन्हें अपने साँचे में ढाल लेते हैं।

जिस भाषा में शब्दों के रूप तक स्थिर न हों, जिसमें उनके हिज्जे तक का ठीक ठिकाना न हो, वह भाषा कभी दूसरी उन्नत भाषाओं के सामने सिर ऊँचा करके खड़ी नहीं हो सकती। हमें सोचना चाहिए कि यदि अन्य भाषा-भाषी हमारी ये त्रुटियाँ देखेंगे तो हमें कितना उपहास्य समझेंगे। जिस प्रकार हमारी भाषा का स्वरूप निश्चित होना आवश्यक है, उसी प्रकार शब्दों के रूप भी स्थिर होना आवश्यक है। इस प्रकार का अनिश्चय और अस्थिरता एक ओर तो हमें दूसरों के सामने हीन सिद्ध करती है और दूसरी ओर हमारे वैयाकरणों और कोशकारों के मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित करती है। अतः यह आवश्यक है कि हम अपने लिए एक प्रशस्त प्रणाली निश्चित करें और भाषा का स्वरूप विकृत होने से बचावें।

विराम-चिह्न

लेखकों के लिए विराम-चिह्नों का ज्ञान भी कम आवश्यक नहीं है। विराम-चिह्न भाषा को स्पष्ट, सुगम और सुबोध बनाने में सहायक होते हैं।

विराम-चिह्नों का उपयोग

ये हमारे लिए नई चीज हैं—पाश्चात्य साहित्य की देन हैं। हमारे यहाँ तो केवल पूर्ण विराम था। संस्कृत भाषा का स्वरूप और व्याकरण ही कुछ ऐसा था कि उसमें विशेष विराम-चिह्नों की आवश्यकता नहीं होती थी। पर हिन्दी का स्वरूप और गठन उससे बहुत कुछ भिन्न है; इसी लिए हिन्दी में अपेक्षाकृत अधिक विराम-चिह्नों की आवश्यकता होती है। हिन्दी में अब भी कुछ ऐसे सज्जन हैं जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने और संस्कृत के प्रभाव में रहने के कारण ही हिन्दी में विराम-चिह्नों की कोई आवश्यकता नहीं समझते। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दी में विराम-चिह्नों की आवश्यकता है और बहुत आवश्यकता है। बहुत-से ऐसे स्थल होते हैं जिनमें विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक उपयोग न होने से अनेक प्रकार के भ्रम

उत्पन्न हो सकते हैं। एक समाचार पत्र में पढ़ा था—'वहाँ एक जगह दुर्घटना हो गई कि एक स्कूल की छत गिर गई लेकिन कोई मरा नहीं।' मानों किसी का न मरना ही दुर्घटना हो! यदि इस वाक्य में 'गिर गई' के बाद पूर्ण-विराम होता तो वाक्य से इस प्रकार का दूषित आशय न निकलता। 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' के अन्त में यदि पूर्ण विराम का चिह्न हो तो उसका अर्थ कुछ और ही होगा; पर यदि प्रश्न-चिह्न हो तो उसका अर्थ कुछ और हो जायगा। अन्त में विराम चिह्न रहने के कारण तो आशय यह होगा कि 'हिन्दी' वह है जिसे कुछ लोग 'हिन्दुस्तानी' भी कहते हैं। पर यदि प्रश्न यह हो कि भाषा का नाम 'हिन्दी' रहे या 'हिन्दुस्तानी' तो अन्त में प्रश्न-चिह्न रखना आवश्यक हो जायगा। आगे चलकर यथा-स्थान ऐसे कई उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें विराम-चिह्नों का ठीक प्रयोग न होने के कारण वाक्य भ्रामक और भद्दे हो गये हैं अथवा दूषित या अनिष्ट आशय प्रकट करते हैं। यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि लेखकों को विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक प्रयोग अवश्य सीखना चाहिए और आवश्यकतानुसार उपयुक्त विराम-चिह्नों का उपयोग भी करना चाहिए।

कुछ लोग केवल लापरवाही और आलस्य के कारण विराम-चिह्न नहीं लगाते। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक मार्क-ट्वेन (Mark Twain) विराम-चिह्नों के झगड़े में नहीं पड़ते थे। कहते हैं कि एक बार जब उन्होंने अपनी एक पुस्तक की हस्तलिखित प्रति प्रकाशक के पास भेजी, तब साथ में उसे यह भी लिख दिया—

'महाशय,

, ; . : ? !—' ' ( ) कृपया ये सब चिह्न आप सारी पुस्तक में अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार लगा लें।

हिन्दी में विराम-चिह्नों की चर्चा अभी बहुत कम हुई है। हिन्दी के कुछ व्याकरणों में इस विषय की थोड़ी बहुत चर्चा मिलती है। कुछ दिन पहले प्रयाग के लेखक संघ की ओर से 'लेखक' नाम का जो मासिक पत्र निकलता था, उसमें इस विषय के कुछ लेख प्रकाशित हुए थे, जो बाद में एक छोटी पुस्तिका के रूप में भी छप गये थे। परन्तु वह पुस्तिका भी कई दृष्टियों से

पूरी नहीं है। वह इस विषय के अँगरेजी ग्रन्थों के आधार पर तो लिखी ही गई है, उसमें अँगरेजी लेखन-शैली का भी आवश्यकता से अधिक अनुकरण किया गया है। स्वयं अपनी भाषा के स्वरूप, प्रकृति और लेखन-शैली का उसमें बहुत कम ध्यान रक्खा गया है। यहाँ हमारे पास इस विषय का विशेष विवेचन करने के लिए स्थान नहीं है। फिर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि लेखन के इस अंग पर भी विशेष रूप से विचार होना चाहिए और विराम-चिह्नों के ठीक-ठीक प्रयोग करने के नियम निर्धारित होने चाहिएँ। यहाँ हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि कुछ विराम-चिह्नों की कहाँ और क्यों आवश्यकता होती है और उनका व्यवहार किस प्रकार होना चाहिए।

पूर्ण विराम के लिए हमारे यहाँ बहुत दिनों से खड़ी पाई (।) प्रचलित है। इधर कुछ दिनों से मराठी के संसर्ग और बम्बई के बने हुए टाइपों के कारण कुछ लोग उस बिन्दी (.) का भी व्यवहार करने लगे हैं, जिसे अँगरेजी में फुल स्टॉप कहते हैं। हमारी समझ में इसका रूप खड़ी पाई (।) ही रहना चाहिए। पर कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं जिनमें इसके कारण भ्रम हो सकता है। जैसे मूल्य २)। ऐसे अवसरों पर खड़ी पाई नहीं होनी चाहिए।

पूर्णविराम और अल्प विराम

अब अल्प-विराम लीजिए। कुछ लोग इसे अनावश्यक समझते हैं, और अधिकतर लोग इसका ठीक तरह से प्रयोग नहीं करते। पहले इसकी आवश्यकता का प्रश्न लीजिए।

एक कहानी है कि एक बार एक सिपाही का घोड़ा भागा। वह भी उसके पीछे चिल्लाता हुआ दौड़ा—'पकड़ो, मत जाने दो।' रास्ते में एक लड़का खड़ा सुन रहा था। उसने 'हो हो' करके, शोर मचाकर और तालियाँ बजाकर उस घोड़े को भड़का दिया, जिससे वह और भी तेजी से भागकर दूर निकल गया। इतने में वह सिपाही आ पहुँचा। उसने पूछा—'तुमने मेरे घोड़े को पकड़ा क्यों नहीं? और उसे भगा क्यों दिया?' लड़के ने कहा—तुम्हीं तो कह रहे थे—'पकड़ो मत, जाने दो।'

बोलने और लिखने में कुछ विशेष कारणों से कहीं न कहीं विराम आता ही है। यदि उक्त वाक्य में अल्प विराम 'पकड़ो' के बाद हो तो उसका अर्थ कुछ और होगा; और यदि 'मत' के बाद हो तो उसका अर्थ कुछ और हो जायगा। यदि लिखा हो—'नहीं जाना चाहिए' तो इसका अर्थ होगा कि जाने के लिए निषेध या मनाही की जा रही है। पर यदि लिखा हो—'नहीं, जाना चाहिए' तो इसका अर्थ यह होगा कि न जाने के विचार का विरोध किया जाता है और जोर देकर कहा जाता है कि अवश्य जाना चाहिए। कुछ अवसरों पर तो अल्प विराम के प्रयोग से अर्थ में कुछ विशेषता भी आ जाती है। 'जैसे मालिक ने नौकर को कोड़े से मारा' बिलकुल सामान्य कथन है। पर 'मालिक ने नौकर को, कोड़े से मारा।' में 'कोड़े' पर कुछ जोर आ जाता है और वह 'मालिक' की निर्दयता या नृशंसता का सूचक हो जाता है। पहले एक और प्रसंग में मैना (पक्षी) की एक पहेली आ चुकी है, जिसमें एक पद है—'उसके सिर पर पाँव।' यदि इसका वास्तविक और संगत अर्थ लिखकर सूचित करना हो तो इसे इस रूप में लिखना होगा—'उसके सिर, पर, पाँव'। नहीं तो लोग उसका वही अर्थ (सिर के ऊपर पाँववाला) लगावेंगे, जो बूझनेवाले को धोखे में डालने के लिए सोचा गया है। यदि लिखा जाय—'सिद्धों की रानी कल्पवती की माता......।' तो इसका अर्थ यह होगा कि कल्पवती ही सिद्धों की रानी थी। पर यदि लिखा जाय—सिद्धों की रानी, कल्पवती की माता...।' तो इसका अर्थ यह होगा कि कल्पवती की माता सिद्धों की रानी थी। इसी प्रकार 'उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न इला-सुत पुरूरवा' का अर्थ तब तक स्पष्ट न होगा, जब तक 'उत्पन्न' के उपरान्त अल्प विराम न हो। 'कतिपय मनस्वी उदात्त ध्येय प्रौढ़ शिक्षण गृह-निर्माण निर्वाचनाधिकार आदि में लगे हैं।' का तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक उपयुक्त स्थानों में विराम चिह्न न लगें। 'जर्मनी की ६० मील चौड़ी दुनियाँ में सर्वोत्कृष्ट रक्षा-पांतों' का अर्थ तभी स्पष्ट होगा, जब 'चौड़ी' के बाद अल्प-विराम रहेगा। नहीं तो कुछ लोगों को भ्रम हो सकता है कि '६० मील चौड़ी' कहीं 'दुनियाँ' का विशेषण-पद तो नहीं है! 'कालानल के समान जलते हुए, क्रोध को

मूर्ति विश्वामित्र ने कहा।' में से यदि 'हुए' के बादवाला अल्प-विराम निकाल दिया जाय तो 'क्रोध' से पहलेवाला पद 'विश्वामित्र' से सम्बन्ध रखनेवाला क्रिया-विशेषण-पद नहीं रह जायगा, बल्कि क्रोध से सम्बन्ध रखनेवाला विशेषण-पद हो जायगा।

विराम-चिह्नों के अनर्थ

बहुत दिन हुए, किसी अँगरेजी अखबार में पढ़ा था कि एक बार दक्षिण अमेरिका की किसी रियासत को एक कानून में अल्प-विराम न लगने के कारण ही करोड़ों रुपयों की हानि उठानी पड़ी थी। उस राज्य ने देश में आनेवाले कुछ पदार्थों पर आयात कर लगाया था। उनमें फल और वृक्ष भी थे। परन्तु फल और वृक्ष के बीच में भूल से अल्प-विराम न लग सका था। फल यह हुआ कि कई वर्षों तक आयात कर केवल फलद वृक्षों पर लगता रहा, स्वयं फलों पर नहीं लगता था। कई बरस बाद जब इस भूल का पता चला, तब हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि इस छोटी-सी भूल के कारण राज्य की करोड़ों रुपयों की हानि हो चुकी थी। दोबारा फल और वृक्ष के बीच में अल्प-विराम रखकर वह कानून फिर से चलाना पड़ा था। कुछ दिन पहले बंगाल की व्यवस्थापिका सभा में एक कानून के मसौदे में कुछ लोग एक स्थान पर अल्प विराम रखवाना चाहते थे; और इसका झगड़ा हाई कोर्ट तक पहुँचा था। तात्पर्य यह कि वाक्यों में विराम-चिह्नों का विशेष महत्त्व होता है। अतः बहुत विचारपूर्वक और सतर्क होकर ठीक तथा उपयुक्त अवसरों पर उनका व्यवहार करना चाहिए।

योग-सूचक चिह्न

हिन्दी में योग-सूचक चिह्नों का ठीक-ठीक उपयोग न होने के कारण कभी-कभी अर्थ समझने में लोगों को बहुत कठिनता होती है। बहुत दिन पहले एक समाचार-पत्र में छपा था—'अमुक राजा ने अमुक संस्था को ५००) का एक कालीन दान दिया।' मतलब था पूरी रकम एक साथ ही या एक-मुश्त (एक-कालीन) दी गई है। पर दूसरे दिन कई आदमी उस संस्था में वह कालीन (गलीचा) देखने के लिए जा पहुँचे, जो उनकी समझ में राजा साहब की तरफ से संस्था को मिला था। वहाँ पहुँचने पर उन्हें

पता चला कि 'एक' और 'कालीन' अलग अलग शब्द नहीं हैं। 'हमारे यहाँ की भाषा-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों में......।' में यदि 'भाषा' और 'विज्ञान' के बीच योग-सूचक चिह्न न हो तो कुछ अवस्थाओं में वाक्य बहुत भ्रामक हो सकता है। 'ग्राम जनता को जगानेवाला पत्र' में या तो 'ग्राम' और 'जनता' के बीच योग-सूचक चिह्न होना चाहिए या 'ग्राम' की जगह 'ग्राम्य'।

आज-कल हिन्दी में एक बहुत प्रचलित पद है—मुक्त व्यापार। यह अँगरेजी के Free Trade का अनुवाद है। इसका आशय है—किसी देश की वह आर्थिक नीति जिसके अनुसार वह दूसरे देशों की चीजें अपने यहाँ बिना किसी विशेष बाधा के आने देता है; और स्वयं अपने यहाँ की चीजें भी इसी प्रकार बाहर जाने देता है। आज-कल कुछ लोग इसके लिए 'निर्बन्ध व्यापार' पद का भी प्रयोग करने लगे हैं। पर यही 'मुक्त व्यापार' हमारे यहाँ का भी पुराना आध्यात्मिक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसका संसार के कार्यों या व्यापारों से कोई सम्बन्ध न रह गया हो, अर्थात् वह जो संसार के सब कार्यों से अलग और निर्लिप्त हो। पहले अर्थ में 'मुक्त' शब्द 'व्यापार' के विशेषण के रूप में ही आया है, परन्तु दूसरे अर्थ में 'मुक्त' और 'व्यापार' मिलकर एक समस्त पद (करण, बहुव्रीहि समास) बन गये हैं। हिन्दी में समस्त पद उस प्रकार मिलाकर नहीं लिखे जाते, जिस प्रकार संस्कृत में लिखे जाते हैं। अतः दोनों अर्थों में गड़बड़ी हो सकती है। अब यदि पहले अर्थ में दोनों शब्द अलग-अलग रक्खे जायँ और दूसरे अर्थ में दोनों के बीच में योग-सूचक चिह्न (जिसे अँगरेजी में हाइफन कहते हैं) लगा दिया जाय, तो दोनों के अलग-अलग अर्थ स्पष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार व्याकरण का एक पारिभाषिक शब्द है—नित्य-सम्बन्ध। यदि 'नित्य' और 'सम्बन्ध' के बीच में योग-सूचक चिह्न न हो तो 'नित्य' साधारण क्रिया-विशेषण समझा जायगा और अनेक अवसरों पर भ्रामक सिद्ध होगा।

एक और उदाहरण लीजिए। 'भाषा की दृष्टि से पत्र कम से कम शुद्ध बनाना कितना कठिन है!' में 'कम से कम' बहुत ही भ्रामक है।

इसका वास्तविक अर्थ तो यह है कि यदि और कुछ नहीं तो पत्र को शुद्ध बनाना ही कठिन है। पर इसका यह भी आशय हो सकता है कि पत्र को जितना कम हो सके, उतना कम शुद्ध बनाना कठिन है। यदि पहला भाव सूचित करने के लिए 'कम-से-कम' और दूसरा भाव सूचित करने के लिए 'कम से कम' लिखा जाय तो भ्रम के लिए अवकाश न रह जायगा।

एक बार एक पुस्तक में 'सरहस्य' शब्द देखकर लेखक चकरा गया था। दोबारा पढ़ने पर पता चला कि यह तो सीधे-सादे 'रहस्य' शब्द के साथ 'स' उपसर्ग के रूप में लगा है। यदि 'स' और 'रहस्य' के बीच में योग-सूचक चिह्न होता तो अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट रहता। विशेषतः कविताओं में नये विद्यार्थी 'असरस', 'सवेदन' और 'सुरट' सरीखे शब्द देखकर चकरा जाते हैं। एक बार एक विद्यार्थी लेखक के पास 'सुरट' का अर्थ पूछने आया था। वह कहता था कि मैंने कई कोश देख डाले, पर किसी में यह शब्द न मिला। मिलता भी कहाँ से? कवि जी ने 'रट' (रटने की क्रिया या भाव) में 'सु' उपसर्ग लगा रक्खा था; और दोनों को मिलाकर यह 'सुरट' शब्द बना लिया था। यदि 'सु' और 'रट' के बीच में योग सूचक चिह्न होता तो बेचारे विद्यार्थी को परेशानी न होती। एक सीधा-सादा शब्द 'कुनैन' लीजिए, जो मलेरिया की प्रसिद्ध दवा है। परंतु कवि लोग दुष्ट या बुरी आँखों के लिए 'नैन' शब्द के पहले 'कु' उपसर्ग भी लगाते हैं। यदि इस प्रकार लिखा जाय—'कु-नैन' तो मतलब झट समझ में आ जायगा और पढ़नेवाले को कुनैन (दवा) के पीछे न दौड़ना पड़ेगा। 'कुशासन' का अर्थ 'बुरा शासन' भी होता है और 'कुश (कुशा) का बना हुआ आसन' भी। यदि पहला अर्थ अभिप्रेत हो तो 'कु' के बाद योग-सूचक चिह्न होना चाहिए। 'उपमाता' का अर्थ 'उपमा देनेवाला' भी है और 'सौतेली माता' भी। पर अन्तिम अर्थ का ठीक बोध तभी होगा, जब 'उप' और 'माता' के बीच में योग-सूचक चिह्न होगा। 'गैर औरत' का अर्थ होगा—पराई या ऐसी औरत जिसके साथ हमारा किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। पर 'गैर-औरत' का अर्थ होगा—वह जो औरत न हो; 'औरत' से भिन्न हो; अर्थात् अ-स्त्री। इस सम्बन्ध की कुछ और बातें आगे प्रूफ के प्रसंग में बतलाई गई हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध विशेषतः प्रूफ देखने

वालों से ही है। पर यहाँ हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि यदि योग-सूचक चिह्न का ठीक-ठीक ध्यान न रखा जाय तो अर्थ और उच्चारण सम्बन्धी अनेक प्रकार के भ्रम हो सकते हैं। यदि 'कन-पटी' न लिखकर 'कनपटी' लिखा जायगा तो दक्षिण-भारत या असम आदि प्रान्तों के अ-हिन्दी-भाषी उसका उच्चारण 'कनप-टी' अथवा 'कनप्टी' के समान करने लगेंगे; और यह हिन्दी के लिए एक कलंक की बात होगी।

अँगरेजी में कुछ ऐसे बँधे हुए और निश्चित यौगिक शब्द या पद हैं, जो सदा योग-सूचक-युक्त ही लिखे जाते हैं। और जहाँ ऐसे बँधे हुए शब्द या पद नहीं होते, वहाँ के लिए निश्चित नियम हैं। पर हमारे यहाँ न तो ऐसे बँधे हुए शब्द या पद हैं, न योग-सूचक के सम्बन्ध में कोई सर्व-मान्य नियम या सिद्धान्त। कोई 'सर्वसम्मति' लिखता है, कोई 'सर्व सम्मति' और कोई 'सर्व-सम्मति'। ऐसा नहीं होना चाहिए। सदा 'सर्व-सम्मति' ही लिखना चाहिए। किसी पुस्तक में पढ़ा था—'उन्होंने भीष्म पितामह की क्रिया और कर्म किया!' पर 'क्रिया-कर्म' यौगिक पद है; और सदा इसी रूप में लिखा जाना चाहिए। 'क्रिया और कर्म' का तो इस प्रसंग में कुछ अर्थ ही नहीं है। शेष यौगिक शब्दों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का निश्चित सिद्धान्त होना चाहिए। यौगिक और बँधे हुए शब्दों को कभी बिना समझे एक-दूसरे से अलग करना भी ठीक नहीं है। एक बार एक सज्जन कहना तो यह चाहते थे कि ब्राह्मण मधुर-प्रिय होते हैं। पर अर्थ का विचार किये बिना कह गये—ब्राह्मण मधुर के प्रिय होते हैं। पर इसका अर्थ यह हो जाता है कि स्वयं मधुर (मीठा) ब्राह्मणों से प्रेम करता है, जो वक्ता के आशय के बिल-कुल विपरीत है।

एक और प्रकार के स्थल होते हैं, जिनमें योग-सूचक चिह्नों की आ-वश्यकता होती है; परन्तु अभी तक हिन्दीवालों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। उदाहरण के लिए वाक्य लीजिए—'वे लोग सिंगापुर जा रहे हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जल या स्थल-मार्ग से।' इस वाक्य में 'मार्ग' शब्द का 'जल' के साथ भी वही सम्बन्ध है, जो 'स्थल' के साथ है। अधिक सतर्क लेखक 'स्थल' और 'मार्ग' के बीच में तो योग-सूचक चिह्न

लगा देते हैं, परन्तु 'जल' शब्द वे भी यों ही छोड़ देते हैं। पर सिद्धान्ततः 'जल' के बाद भी उसी प्रकार योग-सूचक चिह्न लगना चाहिए, जिस प्रकार 'स्थल' के बाद लगता है। अर्थात् वाक्य का रूप इस प्रकार होना चाहिए—'जल-या स्थल-मार्ग से।' इसी प्रकार—निष्ठावान् राष्ट्र और मातृ-भाषा सेवक' का अर्थ तभी ठीक तरह से समझ में आ सकता है, जब 'राष्ट्र' के बाद भी योग-सूचक चिह्न हो। 'हमारे कला और हिन्दी-प्रेमी उदार दाता' में 'कला' के बाद भी योग-सूचक चिह्न होना चाहिए। कुछ दिन हुए, एक समाचार-पत्र में एक लेख का शीर्षक इस रूप में छपा था—'नेता जी की महिला और बाल-सेना।' यह शीर्षक कितना भ्रामक है और कैसे विलक्षण अर्थ का सूचक है! इसकी भ्रामकता और विलक्षणता तभी दूर हो सकती है, जब लिखा जाय—'नेता जी की महिला और बाल-सेनाएँ।' 'उसके सभी साथी भाले, कुल्हाड़े और लट्ठ-बन्द थे' का तो यही अर्थ हो सकता है कि उसके सभी साथी भाले थे, कुल्हाड़े थे, और लट्ठ-बन्द थे।

प्रश्न-चिह्न

प्रश्न-चिह्नों के प्रयोग में भी लोग प्रायः असावधानी करते हैं। वे नहीं सोचते कि 'क्या तमाशा हो रहा है!' और 'क्या तमाशा हो रहा है?' में कितना अन्तर है। एक सनातनी पत्र में यह प्रतिपादित किया गया था कि हरिजनों को देवताओं के दर्शन का अधिकार नहीं है। पर उस लेख का शीर्षक इस प्रकार छपा था—'हरिजन क्यों न दर्शन करें?' साधारणतः इसका अर्थ यही होता है कि लेखक का मत है कि हरिजन भी दर्शन करें; और वह दूसरों से पूछता है कि वे क्यों न दर्शन करें? इस प्रकार अशुद्ध विराम-चिह्न के प्रयोग से ही लेखक का बिलकुल उलटा आशय प्रकट होता था। वाक्य में 'क्या' या 'क्यों' सरीखे शब्द आते ही प्रायः लोग उसके अन्त में प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। वे यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि वाक्य में प्रश्न का भाव भी है या नहीं। उदाहरणार्थ—'न जाने अब आगे चलकर क्या होगा?' 'मैं क्या जानूँ कि वे वहाँ गये या नहीं?' 'अभी तक यह नहीं बतलाया गया कि चीन को क्या क्या सामग्री दी गई?' 'देखिए, कैसा सुगम शब्द बन गया?' 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे आगे क्या है?'

'कैसा बेहूदा आदमी है ?' आदि। इन वाक्यों में प्रश्न का कोई भाव नहीं है; और इनके साथ प्रश्न-चिह्न नहीं होना चाहिए। इनमें से कुछ उदाहरणों में केवल पूर्ण विराम और कुछ में विस्मय-सूचक चिह्न (!) होना चाहिए।

कुछ अवसरों पर प्रश्न-चिह्न प्रायः 'क्यों', 'क्या' आदि प्रश्न-सूचक शब्दों को निरर्थक कर देता है। जैसे 'आपने उनसे पूछ लिया है क्या ?' में 'क्या' अनुपयुक्त स्थान पर होने के अतिरिक्त इसलिए निरर्थक भी है कि उसका भाव स्वयं प्रश्न-चिह्न से सूचित हो जाता है। यही बात 'क्यों ? हमने पहले ही कहा था न ?' में के 'क्यों' के सम्बन्ध में भी है।

हिन्दी का 'नहीं' शब्द कुछ स्थानों में इन्कार या अस्वीकृति के अर्थ में बोला जाता है। यह विषय दूसरा है कि 'नहीं' का इस अर्थ में प्रयोग करना प्रशस्त है या नहीं। यहाँ हम केवल यह

अवतरण चिह्न

बतलाना चाहते हैं कि कुछ अवसरों पर यह 'नहीं' शब्द यदि अवतरण-चिह्न से युक्त न हो तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता। एक वाक्य लीजिए—'मुझसे वह काम करने के लिए कहा गया था; पर मुझे नहीं करना पड़ा।' इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि कुछ ऐसी परि-स्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण वह काम करने की नौबत नहीं आई। पर यदि वक्ता या लेखक का यह आशय हो कि मुझे इन्कार करना पड़ा, तो उस अवस्था में यह अर्थ तभी स्पष्ट होगा, जब 'नहीं' शब्द अवतरण-सूचक चिह्न के बीच (अर्थात् इस रूप में—'नहीं') रहेगा।

अँगरेजी में एक विराम-चिह्न है जो 'कोलन' कहलाता है और जो हमारे यहाँ के ठीक विसर्ग (:) के समान होता है। हमें इसके प्रयोग से बचना चाहिए; क्योंकि हमारे यहाँ यह कभी कभी भ्रामक हो सकता है। कुछ लोग ऐसे स्थानों पर इसका प्रयोग करते हैं, जहाँ एक सीधी लकीर या डैश से ही काम चल सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। कुछ लोग 'वगैरह' आदि शब्द भी विसर्ग से लिखते हैं; जैसे—वगैरः। यह भी ठीक नहीं है। इस प्रकार के दूसरी भाषाओं के शब्द विसर्ग के बदले 'ह' से ही लिखे जाने चाहिएँ। विसर्ग का प्रयोग केवल संस्कृत के शब्दों के साथ होना चाहिए; जैसे—अतः, स्वभावतः मूलतः मनःपूत, अधःपात आदि। अथवा

यदि कहीं अरबी-फ़ारसी शब्दों के शुद्ध रूप दिखलाने की आवश्यकता हो तो वहाँ भी इसका प्रयोग होना चाहिए। और नहीं तो साधारण अवस्था में 'ह' से ही काम लेना चाहिए। यद्यपि यह विषय हिज्जे से सम्बन्ध रखता है, परन्तु यहाँ कोलन का प्रसंग आ जाने के कारण उसी के साथ इसका भी उल्लेख कर दिया गया है।

यहाँ हमारा उद्देश्य विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक उपयोग बतलाना नहीं है। हम तो यही बतलाना चाहते हैं कि हिन्दी में विराम-चिह्नों का उपयोग होना चाहिए और ठीक तरह से होना चाहिए। स्वयं विराम-चिह्नों का एक स्वतन्त्र विषय है और उसकी जानकारी अन्य योग्य स्थानों से प्राप्त करनी चाहिए। यहाँ हम यही कहेंगे कि विराम-चिह्नों के प्रयोग में भी लेखकों को सतर्क रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक और बात बतला देना चाहते हैं जो विराम-चिह्नों के अन्तर्गत ही आती है। लेखकों को गम्भीर विषय लिखने के समय प्रायः पाद-टिप्पणियाँ भी लगानी पड़ती हैं। इसके लिए वे प्रायः ※, †, ‡, +, ×, ÷ आदि चिह्नों का प्रयोग करते हैं। पर अनेक अवसरों पर ये चिह्न भ्रामक सिद्ध होते हैं। अतः इनके स्थान पर यदि १, २, ३ आदि अंकों का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा होगा।

प्रूफ

लेखकों को छपाई की कला की कुछ छोटी-मोटी बातें और प्रूफ देखने के नियम आदि भी अवश्य जानने चाहिएँ। आज-कल छापे का युग है। लेखक लोग जो लिखते हैं, वह प्रायः छापने-छपाने के उद्देश्य से ही। ऐसी अवस्था में छपाई से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ खास और मोटी बातों के ज्ञान का अभाव कुछ अवसरों पर लेखकों के मार्ग में बहुत कठिनता उपस्थित कर सकता है। जो लेखक प्रेस की बातों से परिचित होते हैं और जिन्हें प्रूफ देखने की विद्या या कला का अच्छा ज्ञान होता है, वे उन कठिनाइयों से बचने के सिवा अपनी कृतियों की सुन्दर छपाई और सजावट में भी बहुत-कुछ सहायक हो सकते हैं। इससे भी अधिक उपयोगी प्रूफ शुद्ध करने के नियमों का ज्ञान

प्रूफ देखने की योग्यता

है। आप अच्छी से अच्छी भाषा लिखें, परन्तु यदि प्रूफ ठीक तरह से न देखा जाय तो आपकी भाषा का बहुत-कुछ सौन्दर्य मिट्टी में मिल जायगा; और सम्भव है कि कुछ स्थानों में तथ्यों या भावों की हत्या भी हो जाय। फिर लेखक जब अपनी रचना का प्रूफ स्वयं देखता है, तब उस रचना का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। भाषा-सम्बन्धी बहुत-से छोटे-मोटे दोष, जो साधारणतः यों दिखाई नहीं देते, प्रूफ देखने के समय प्रायः सामने आ जाते और सहज में दूर किये जा सकते हैं। आप स्वयं अपनी या किसी दूसरे की लिखी भाषा शुद्ध करने बैठिए। अवश्य आप उसके बहुत-से दोष दूर कर सकेंगे। फिर भी बहुत सम्भव है कि उसके कुछ-न-कुछ दोष बाकी रह जायँ। कारण यही है कि हाथ की लिखी प्रति उतनी अधिक स्पष्ट नहीं होती, जितनी छपी हुई प्रति होती है। इसी लिए हाथ की लिखी प्रति शुद्ध करने के समय हमारी बहुत-सी शक्ति और बहुत-कुछ ध्यान उसे पढ़ने ही में लगा रहता है। पर वही चीज जब टाइपों में अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है, तब हमारी वह बची हुई शक्ति और ध्यान भाषा के सूक्ष्म दोष देखने में लग जाता है और हम उसे सहज में बहुत अधिक निर्दोष कर सकते हैं।

लेखकों को जहाँ और बहुत-सी बातें जानने की आवश्यकता होती है, वहाँ प्रूफ देखने की अर्थात् छापे की भूलें ठीक करने की योग्यता प्राप्त करना भी आवश्यक होता है। छापे की भूलें ठीक करने की भी एक विद्या या कला है, जो समय लगाकर और बहुत ध्यानपूर्वक सीखनी पड़ती है। हिन्दी में अभी तक इस विषय की विशेष चर्चा नहीं हुई है। कुछ लोग छापेखानों में रहकर इस विषय की थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त कर लेते और उतने से ही किसी तरह काम चला लेते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्रूफ देखनेवालों को अपने मुकाबले में तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। परन्तु अच्छे प्रूफ-रीडर बनने के लिए अच्छे लेखक के समान ही योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। और फिर स्वयं भद्दी भाषा लिखने की अपेक्षा प्रूफ-रीडर बन कर प्रूफ में दूसरों की भाषा का भद्दापन दूर करके उसे सुन्दर रूप देना कहीं अच्छा है। अनेक लेखक दुनियाँ भर की ऊल-जलूल भाषा लिखकर प्रेस में भेज देते हैं।

अच्छे प्रूफ-रीडर ही उसे बहुत-कुछ परिष्कृत तथा सुन्दर रूप में जनता के सामने उपस्थित करते हैं। पर उनका नाम होना तो दूर रहा, वे कभी धन्यवाद के पात्र भी नहीं समझे जाते। फिर मान लीजिए कि हम बहुत ही अच्छी भाषा लिखते हैं और उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अवस्था में भी इस बात की बहुत बड़ी आशंका रहती है कि हमारी भाषा और भावों का बहुत-कुछ सौन्दर्य कहीं अच्छी तरह प्रूफ न देखा जाने के कारण ही नष्ट न हो जाय। एक बार एक समाचार-पत्र में देखा था—"यदि वे (देशी राज्य) अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं, तो उस स्थिति में हिन्दोस्तान को पाकिस्तान में समझौता कर सकते हैं।" यह स्पष्ट है कि 'हिन्दोस्तान को पाकिस्तान में समझौता कर सकते हैं' प्रूफ देखनेवाले की भूल से ही छप गया था। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वयं अपनी चीजों का प्रूफ देखना चाहिए; और इसी लिए अच्छी तरह प्रूफ देखने की कला भी सीखनी चाहिए।

यहाँ हम इस सम्बन्ध में एक और बात बतला देना चाहते हैं। हमें कभी अपनी लिखी हुई चीज के सभी प्रूफ सदा स्वयं नहीं देखने चाहिएँ। होना यह चाहिए कि पहले एक या दो प्रूफ कोई अच्छा प्रूफ देखनेवाला देख ले और तब अन्तिम प्रूफ हम स्वयं देखें। होता यह है कि अपनी लिखी हुई चीज की प्रायः सभी बातें पहले से हमारे मन में जमी रहती हैं। जब हम उसके दो-एक प्रूफ स्वयं देखते हैं, तब वे बातें हमें कंठस्थ-सी हो जाती हैं। इसी लिए प्रूफ में बहुत-सी भूलें रह जाती हैं। इस पुस्तक के पहले संस्करण में छापे की जो बहुत-सी भूलें रह गई थीं, उसका एक कारण यह भी था कि लेखक ने ही, दृष्टि बहुत कुछ क्षीण होने पर भी, सब प्रूफ स्वयं देखे थे। शुद्ध छपाई के लिए किसी अच्छे प्रूफ देखनेवाले की सहायता लेना बहुत आवश्यक है।

प्रेस के भूत

स्वर्गीय बा० रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन प्रेस के अध्यक्ष) प्रायः कहा करते थे कि प्रूफ शुद्ध करने का काम बहुत-कुछ जंगल-काटने के काम के समान है। आप एक तरफ से जंगल काटते हुए आगे बढ़ते जाइए। फिर भी कुछ-न-कुछ झाड़-झंखाड़ रह ही जायगा; और सम्भव है कि कुछ नया भी पैदा हो जाय। भूलें रह

जाना बहुत-कुछ दृष्टि-दोष के कारण ही होता है। पर कुछ ऐसे कारण भी होते हैं जो हमारे-आप के वश के बाहर होते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि प्रूफ उठाने या छापने के समय कुछ मात्राएँ या अक्षर अपने स्थान से निकलकर गिर जाते या इधर-उधर हो जाते हैं। अक्षर निकलता कहीं से है, और लगा कहीं दिया जाता है। इस प्रकार की गड़बड़ी का उत्तरदायित्व 'प्रेस के भूतों' के सिर मढ़ा जाता है। 'प्रेस के भूतों' से प्रेस के कर्मचारियों का मतलब नहीं होता, बल्कि मतलब होता है—कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में आपसे आप हो जानेवाली अशुद्धि अथवा प्रेस के अनजान कर्मचारियों से हो जानेवाली गड़बड़ी। लेखों और पुस्तकों में इस प्रकार की अशुद्धियों को (जो बिलकुल स्पष्ट होती हैं) छोड़कर और प्रकार की अशुद्धियाँ नहीं रहनी चाहिएँ। प्रूफ में छपाई की साधारण अशुद्धियाँ दूर की जाती हैं।

प्रेस के भूतों की कृपा से कभी-कभी बहुत बड़े अनर्थ हो जाते हैं। पुरानी नार्थ वेस्टर्न रेलवे के कुछ विशिष्ट स्थानों में काम करनेवाले कर्मचारियों को बहुत दिनों से जाड़े में गरम कपड़े मिलते आते थे। जिन स्थानों के कर्मचारियों को ऐसे कपड़े मिलते थे, उनकी सूची हर साल प्रकाशित होती थी। सन् १९४४ के लिए जो सूची छपी थी, उसमें प्रेस के भूतों की कृपा से कालका-शिमला रेलवे का नाम छपना छूट गया था। और संयोगवश उस वर्ष इतना अधिक शीत और बरफ पड़ा, जितना बीसियों वर्षों से नहीं पड़ा था! उस शाखा के बेचारे कर्मचारियों को गरम कपड़े न मिलने से शीत का बहुत अधिक कष्ट सहना पड़ा। इसके कारण का अनुसन्धान करते करते पता चला कि भूल से सूची में उस रेल-शाखा का नाम नहीं छपा था। जब भारत-सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया, तब गरम कपड़े मिलने की आज्ञा तो हुई, परन्तु तब तक कड़ाके का जाड़ा बीत चुका था। एक बार एक प्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक पत्र में एक ऐसा अग्रलेख देखने में आया था, जो ठीक उसी रूप में दस-बारह दिन पहले निकल चुका था। एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र में एक अग्र-लेख लगातार उसी रूप में तीन अंकों में तीन दिन तक छपा था। यद्यपि इसमें सम्पादकीय विभाग की भी कुछ असावधानी थी, पर थी यह सारी करामात प्रेस के भूतों की ही।

समाचार-पत्रों और पुस्तकों में प्रायः छापे की विलक्षण भूलें देखने में आती हैं। एक बार एक सज्जन ने लिखा तो था—'उसका सारा शरीर क्लेद
से भर गया' पर छपा था—'उसका सारा शरीर प्लेग से
अर्थ का अनर्थ भर गया।' एक जगह 'देहात' का 'देहान्त' हो गया था;
और दूसरी जगह 'चिन्ताएँ' का 'चिताएँ'। एक और जगह 'स्वर्ग सिधार गई' की जगह छपा था—'स्वर्ग सुधार गई' और एक जगह 'वह सोई न थी' की जगह छप गया था—'वह रोई न थी।' एक दैनिक-पत्र में 'फूड कंट्रोलर' की जगह 'फूल कंट्रोलर' छप गया था! एक दूसरे दैनिक में इटली के प्रसिद्ध उद्धारक गैरीबाल्डी के नाम की जगह 'मेरी बाल्टी' छप गया था। और एक जगह 'बे-मौके' की जगह छप गया था—'बे माँके।' एक स्थान पर 'बँगला' की जगह 'बगला' छप गया था, जिसके कारण वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं निकलता था। 'अलसता' की जगह 'असलता', 'लड़की' की जगह 'लकड़ी', 'बारह' की जगह 'बाहर', 'आलोचना' की जगह 'अलोचना', 'बढ़ती' की जगह 'बढ़नी' और 'गाड़ी' की जगह 'गाढ़ी' देखकर पाठक भ्रम में पड़ सकते हैं। जहाँ 'र' और 'व' साथ आते हैं, वहाँ कभी-कभी प्रूफ देखनेवाले की असावधानी के कारण 'ख' छप जाता है। एक बार 'मारवाड़ी' की जगह 'माखाड़ी' और 'शेर व सखुन' की जगह 'शेख सखुन' छप गया था। इसलिए प्रूफ देखते समय प्रत्येक अक्षर, मात्रा और बिन्दु-विसर्ग तक का पूरा ध्यान रखना चाहिए—'निर्धन' का 'निधन' नहीं होने देना चाहिए; 'अपना' कहीं 'सपना' न हो जाय!

सब कुछ शुद्ध छपने पर भी केवल शब्दों के बीच में ठीक स्पेस या स्थान न होने के कारण ही कभी-कभी भद्दी भूलें हो जाती हैं। 'सुन्दर कोप नहीं सपने' की जगह 'सुन्दर को पनहीं सपने' तो बहुत पुरानी और प्रसिद्ध बात है। 'आप भी तर जायँगे', और 'आप भीतर जायँगे' 'सावन के बादलो' और 'सावन के बाद लो', 'कहो तो लादूँ' और 'कहो तो ला दूँ', 'वह दयनीय जीवन था' और 'वह दयनीय जीव न था' में कितना अन्तर है! 'काजल' की जगह 'का जल' कुछ अवस्थाओं में बहुत भ्रामक हो सकता है। एक मासिक पत्र में एक कविता का शीर्षक 'नव वर्षागमन' की

जगह 'नव वर्षा गमत' छप गया था जिससे अर्थ ही बिलकुल गड़बड़ा गया था। 'ला री, ला' की जगह 'लारी ला', 'जला ली है' की जगह 'जलाली है', 'कांग्रेसजन को दंड' की जगह 'कांग्रेसजन कोदंड', 'मनन करेगा' की जगह 'मन न करेगा' और 'ठिकाना जेब में अपने नहीं एक चार पाई का' की जगह 'ठिकाना जेब में अपने नहीं एक चारपाई का' कितना भ्रामक है!. एक पुस्तक में देखा था—'राजा को अपनाकर सबसे लेना चाहिए' जिसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। होना चाहिए था—'राजा को अपना कर सबसे लेना चाहिए।' 'स्वागत करो पसार कर' में यदि 'पसारकर' हो तो वह पूर्व-कालिक क्रिया के रूप में माना जायगा; और यदि 'पसार कर' हो तो उसमें का 'कर' संज्ञा के रूप में और 'हाथ' का सूचक होगा। ऐसी सबसे मजेदार भूल जो हमें मिली, वह एक रामचरितमानस में थी। उसमें—'भजंतीह लोके परे वा नराणां, में 'वा नराणां' मिलकर 'वानराणां' हो गया था!

प्रूफ देखनेवालों को एक और बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। प्रायः छापे के अक्षर बैठाने के समय ऐसा होता है कि शब्द तो पूरा नहीं होने पाता और पंक्ति समाप्त हो जाती है। ऐसे अवसर पर यदि प्रूफ देखनेवाला समझदार न हो तो बहुत गड़बड़ी हो सकती है। मान लीजिए कि लेखक ने 'रोम-लता' शब्द का प्रयोग किया है। पंक्ति कहीं इसी शब्द के बीच में समाप्त होती है। वहाँ ऐसा नहीं होना चाहिए कि 'रोमल' तो ऊपरवाली पंक्ति के अन्त में आवे और 'ता' नीचे की पंक्ति के आरम्भ में आ जाय। पढ़नेवाले के लिए इस भ्रम की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए कि 'रोमल' कोई स्वतंत्र शब्द है और उसमें 'ता' भाववाचक प्रत्यय के रूप में लगा है। पहली पंक्ति के अन्त में 'रोम' और दूसरी पंक्ति के आरम्भ में 'लता' होना चाहिए। यही बात भारत, असन्तोष और अनुकरण सरीखे शब्दों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यदि शब्द दो पंक्तियों में विभक्त होता हो तो वह ठीक जगह से तोड़ा जाना चाहिए। जैसे—भा-रत, अ-सन्तोष, अनु-करण, न कि भार-त, अस-न्तोष, अनुक रण आदि।

इसके सिवा बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमें अच्छा प्रूफ देखनेवाला कम

सतर्क लेखकों के लेख-आदि अधिक स्पष्ट, सुन्दर तथा सुवाच्य बना सकता है।

लेखकों की भूलों का सुधार

लेखकों से जो बातें शीघ्रता या प्रमाद के कारण छूट जाती हैं, उनकी बहुत-कुछ पूर्ति अच्छे प्रूफ-रीडर कर दिया करते हैं। इसके सिवा कभी कभी छापेखाने के भूतों की कृपा से ऐसी भूलें हो जाती हैं, जिनके कारण लेखकों और सम्पादकों को लज्जित होना पड़ता है। एक बार एक प्रसिद्ध स्थानिक दैनिक पत्र में मोटे-मोटे अक्षरों में छपा था—'विज्ञापन के लिए अस्थान खाली है।' यदि प्रूफ-रीडर ने अपना काम ठीक तरह से किया होता तो कभी ऐसी भद्दी भूल न होती। यहाँ आकर यह सिद्धांत चरितार्थ होना चाहिए—मनुष्य जो कुछ करे, वह बहुत अच्छी तरह करे।

कुछ लोगों की यह आदत-सी होती है कि वे प्रूफ में बार-बार बहुत अधिक परिवर्त्तन और काट-छाँट करते और बहुत-सी बातें घटाते-बढ़ाते हैं। अनेक दृष्टियों से यह ठीक नहीं है। इससे एक तो प्रेसवालों को बहुत अधिक कठिनता होती है; और दूसरे बहुत-सी अशुद्धियाँ छूट जाने का डर रहता है। अच्छे लेखक और प्रूफ देखनेवाले, जहाँ तक हो सकता है, कम परिवर्त्तन और संशोधन करते हैं। पर वे थोड़े-से परिवर्त्तन और संशोधन ही ऐसे होते हैं जो अधिक-से-अधिक काम दे जाते हैं। प्रूफ में जहाँ कहीं विशेष परिवर्त्तन या संशोधन की आवश्यकता हो, वहाँ खूब सोच-समझकर ऐसे ही परिवर्त्तन और संशोधन करने चाहिएँ, जिनमें प्रेसवालों को भी कम कठिनाई हो और भाषा का संशोधन भी अधिक से अधिक हो। हमें एक बार एक समाचार-पत्र के एक ही अंक में ये दो भद्दी भूलें मिली थीं—(१) मैं चार तोले सोना गंगा की कछार में गाड़ दिया हूँ। और (२) मैंने एक नवजात शिशु ग्रहण के अवसर पर लक्ष्मी घाट पर पाया हूँ। यदि प्रूफ-रीडर योग्य होता तो वह पहले वाक्य में 'दिया' की जगह 'आया' और दूसरे वाक्य में 'हूँ' की जगह 'है' बनाकर इन्हें बहुत सहज में शुद्ध और सुन्दर बना सकता था। इस प्रकार की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान रखकर वह रद्दी हिन्दी को भी अच्छी हिन्दी बना सकता है।

---

[१६]

हमारी आवश्यकताएँ

भाषा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ—स्वरूप स्थिर करने की आवश्यकता—रूप, अर्थ और प्रयोग—अँगरेजी शब्दों के निश्चित अर्थ—विदेशी शब्दों का ग्रहण और त्याग—नये शब्दों के रूप—कोश और व्याकरण—नई क्रियाओं की आवश्यकता—विभक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त—लिपि-सुधार की आवश्यकता।

भाषा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ

जब तक हम जीते रहेंगे और आगे बढ़ते रहेंगे, तब तक अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ भी हमारे साथ लगी ही रहेंगी। आवश्यकताएँ जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। हमारे जो अंग व्यवहार में आने अथवा पुराने होने के कारण छीजते रहते हैं, उनकी पूर्त्ति के लिए भी और अपने समस्त अंगों की पुष्टि, वृद्धि और विकास के लिए भी हमें अनेक पोषक तत्त्वों की आवश्यकता होती है। जो बात हमारे इस भौतिक शरीर के सम्बन्ध में है, वही हमारी भाषा के शरीर के सम्बन्ध में भी है। इस दृष्टि से यदि हम कहें कि भाषा के क्षेत्र में भी और लिपि के क्षेत्र में भी हमारी कुछ आवश्यकताएँ हैं, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

पहले हम भाषा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ लेते हैं। इस पुस्तक में अब तक जितनी बातें बतलाई गई हैं, उनसे पता चलता है कि हम अभी तक अपनी भाषा का स्वरूप स्थिर नहीं कर सके हैं। हमारे शब्द, उनके रूप, वाक्य-रचना, लेख-प्रणाली आदि सभी बातें अनिश्चित रूप में चल रही हैं और परिमार्जन तथा मर्यादा-बन्धन की अपेक्षा रखती हैं। देश में राष्ट्रीयता की जो लहर उठी है, उससे हमारी भाषा के प्रवाह में बहुत-कुछ बल और वेग तो अवश्य आ गया है, पर न तो अभी तक उस प्रवाह का कोई निश्चित स्वरूप है

न कोई निश्चित मार्ग या धारा। और इसी लिए उसकी दिशा भी ठीक तरह से निश्चित नहीं हो रही है। अतः हमारी पहली और सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारी भाषा का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो।

हिन्दी लिखनेवालों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। आज-कल जिसे देखिए, वही हिन्दी लिखता दिखाई देता है। यह हमारे लिए अभिमान और सौभाग्य की बात है। पर यदि हमारे सामने यह प्रश्न आवे कि सचमुच ठीक और अच्छी हिन्दी लिखनेवाले लेखक कितने हैं, तो हमें कहना पड़ेगा कि उनकी संख्या बहुत कम है। हमारे यहाँ के अधिकतर लेखक ईश्वर की दया से स्वयंभू ही हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि हम समझते हैं कि हमें सब कुछ आता है; और इसी लिए हम किसी के पास बैठकर उससे कुछ सीखना नहीं चाहते। दूसरे, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, हमारी भाषा का स्वरूप दिन-पर-दिन और भी विकृत होता जा रहा है। यह स्थिति हमारे लिए कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। यदि सचमुच हम अपनी भाषा को ठीक अर्थों में राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हों तो हमें सबसे पहले उसका स्वरूप स्थिर करना होगा। यह ऐसा काम है, जिसमें हिन्दी के लेखक मात्र को हाथ बँटाना चाहिए। बड़े लेखकों को भाषा का स्वरूप स्थिर करना चाहिए; और छोटे लेखकों को उनका अनुकरण करना चाहिए। यदि बड़े लेखक इस ओर से उदासीन रहेंगे, तो भाषा की दुर्दशा दिन पर-दिन बढ़ती ही जायगी।

स्वरूप स्थिर करने की आवश्यकता

भाषा का स्वरूप स्थिर करने का यह अर्थ नहीं है कि हम उसे इस प्रकार चारो ओर से कसकर जकड़ दें कि उसका विकास ही रुक जाय। यह तो भाषा का गला घोंटना होगा। सुनते हैं, फ्रांस की प्रसिद्ध 'एकाडेमी' ने ऐसा निश्चय कर रक्खा था कि बिना हमारी अनुमति के कोई नया शब्द फ्रांसीसी भाषा में न लिया जाय। इसी लिए उस भाषा में केवल एक लाख के लगभग शब्द हैं। इसका फल यह होता है कि फ्रांसीसी भाषा के वाक्यों का अर्थ बहुत कुछ अस्पष्ट तथा सन्दिग्ध रह जाता है, और उसमें नये तथा सूक्ष्म अर्थ प्रकट करने में कठिनता होती है। इसके विपरीत अँगरेजी में ऐसी

कोई रुकावट नहीं है, जिससे उसमें चार लाख के लगभग शब्द हैं। अतः हमें भाषा के विकास का मार्ग तो खुला रखना चाहिए, पर उसे अशुद्ध, भद्दे और प्रकृति-विरुद्ध प्रयोगों से बचाना चाहिए। भाषा के स्वरूप से सम्बद्ध एक बहुत बड़ा प्रश्न है। स्वरूप स्थिर तो हो, पर वह स्वरूप कैसा हो? हम सभी बातों में 'राष्ट्रीयता' की पुकार मचाते हैं। पर जिसे हम अपनी 'राष्ट्र भाषा' कहते हैं, उसमें से हम नित्य-प्रति 'राष्ट्रीयता' निकालते जाते हैं। हम भाषा का स्वरूप परम 'अ-राष्ट्रिय' बनाते जा रहे हैं। हमारी वाक्य-रचना और भाव-व्यंजन-प्रणाली बहुत अ-राष्ट्रिय और परकीय होती जा रही है। उसमें से हिन्दीपन दिन-पर-दिन निकलता जा रहा है और उसका स्थान अँगरेजीपन लेता जा रहा है। हमपर इतनी अधिक अँगरेजियत छा गई है कि जान-बूझकर भी और अनजान में भी हम अपनी भाषा का स्वरूप बहुत ही विकृत कर रहे हैं। आपस की साधारण बात-चीत में भी हम अपने ढंग के वाक्य छोड़कर अँगरेजी, उर्दू, फारसी, बँगला, मराठी आदि न जाने कितनी भाषाओं के ढंग के वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम अपने व्यवहार से सिद्ध करते हैं कि हमारी 'राष्ट्रीयता' की पुकार बिलकुल निस्सार है। हमारे वाक्यों पर अँगरेजी तो मानों सिर से पैर तक छाई रहती है। अब अँगरेजी-पढ़े लोगों में कोट पैंट और हैट पहननेवाले तो बहुत कम रह गये हैं; पर अपनी भाषा को कोट-पैंट और हैट पहनानेवालों की संख्या दिन-पर-दिन इतनी बढ़ती जाती है कि हमारी भाषा का स्वरूप विकृत क्या, बल्कि भ्रष्ट होता जा रहा है। यदि ऐसा न होता तो हम अपनी 'राष्ट्र-भाषा' का स्वरूप इतना 'अ-राष्ट्रिय' न कर डालते! जो हो चुका, वह हो चुका। पर अब तो हम सँभलें। यदि हमारी 'राष्ट्र-भाषा' में ही 'राष्ट्रीयता' न होगी, तो फिर उसे और कहाँ ठिकाना मिलेगा?

अब हमारा देश स्वतंत्र हो गया है। हिन्दी निश्चित रूप से देश की राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा बन रही है। अतः उसका स्वरूप स्थिर करना, उसे सब प्रकार से राष्ट्रिय भाषा के उपयुक्त बनाना और उसका स्वरूप पूर्ण रूप से राष्ट्रिय बनाना हमारा परम कर्त्तव्य हो गया है। उसके लिए हमें अभी से पूर्ण सचेष्ट और प्रयत्नशील होना चाहिए। इस समय यदि हम

कुछ भी शिथिलता दिखलावेंगे, तो हमारी भाषा का स्वरूप, सम्भव है, बहुत अधिक विकृत हो जाय। देश में बहुत से नये-नये विधान बन रहे हैं और बराबर बनते रहेंगे। उन विधानों की भाषा प्रायः अँगरेजी के अनुकरण पर लिखी जाती और अँगरेजी साँचे में ढली होती है। उदाहरणार्थ—'इस उपनियम के प्रयोजनों के लिए, कोई भी कर्मचारी उस स्थान से जहाँ उसे काम करना आवश्यक हो, अनुपस्थित माना जायगा यदि, यद्यपि वह ऐसे स्थान पर उपस्थित हो, किसी भी तरह हो, हड़ताल के कारण अथवा किसी अन्य कारण से जो उक्त परिस्थितियों में न्यायोचित न हो, वह अपना काम करने से इन्कार करे।' इसमें 'कोई भी' और 'किसी भी' को यदि हम छोड़ भी दें, तो 'यदि' और 'यद्यपि' का एक साथ प्रयोग कितना भद्दा और खटकनेवाला है! तिसपर सारे वाक्य का अर्थ कितने आदमी समझ सकते हैं! इसका सहज और सुन्दर रूप हो सकता है—'यदि कोई कर्मचारी अपने काम करने के स्थान पर उपस्थित तो हो, पर हड़ताल के कारण अथवा किसी ऐसे कारण से, जो उक्त परिस्थितियों में न्यायोचित न हो, अपना काम करने से इन्कार करेगा, तो इस उपनियम के प्रयोजनों के लिए वह अपने काम से अनुपस्थित माना जायगा।' पर हम अपनी भाषा तथा उसमें बननेवाले विधानों का स्वरूप तभी इतना सुन्दर और स्पष्ट कर सकेंगे, जब हम अपने दिमाग में घुसी हुई अँगरेजियत निकाल फेंकेंगे और सब बातों पर बिलकुल स्वतन्त्र होकर अपनी भाषा की प्रकृति का ध्यान रखते हुए विचार करेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो हम अपनी भाषा और भाव-व्यंजन की प्रणाली दिन-पर-दिन अधिक जटिल और दुरूह करते जायँगे। और कुछ ही दिनों में यह जटिलता और दुरूहता इतनी अधिक बढ़ जायगी कि हमें अपने विधान आदि फिर नये सिरे से लिखने और नये साँचे में ढालने पड़ेंगे।

हमारी दूसरी आवश्यकता है—शब्दों के रूप, अर्थ और प्रयोग निश्चित करना। शब्दों के रूपों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ बहुत बड़ी धाँधली चल रही है, जिसका कुछ उल्लेख पिछले प्रकरण में हिज्जे के प्रसंग में किया जा चुका है। एक ही शब्द कई-कई रूपों में लिखा जाता है। हमारे यहाँ के अनेक प्राचीन कवि एक शब्द को अनेक रूप देने में बहुत सिद्धहस्त थे! हम

इसके लिए न तो उनकी निन्दा करते हैं, न उन्हें उलाहना देते हैं। उनका समय ही वैसा था। वे जो कुछ कर गये वह बहुत कर गये, और बहुत अच्छा कर गये। पर आज-कल की परिस्थितियाँ देखते हुए हमारा जो कर्त्तव्य है, वह भी हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए; और यथा-साध्य उसके पालन का प्रयत्न करना चाहिए। अपने यहाँ के शब्दों के रूप स्थिर करना कई दृष्टियों से बहुत आवश्यक है। इससे हम अपनी भाषा हिन्दी-भाषियों के लिए भी और अ-हिन्दी-भाषियों के लिए भी सुगम कर सकेंगे। और साथ ही हम अपने वैयाकरणों तथा कोशकारों को भी कई तरह की झंझटों से बचा सकेंगे। और इस प्रकार हम अपनी भाषा का जो गौरव बढ़ावेंगे, वह अलग।

रूप, अर्थ और प्रयोग

संस्कृत के कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनके अर्थों में कुछ प्रान्तीय भेद देखने में आते हैं। मराठी में 'शिक्षा' का अर्थ 'दंड' और बँगला में 'राग' का अर्थ 'क्रोध' होता है। सुनते हैं कि उड़िया भाषा में 'क्रोध' या 'नाराजगी' के अर्थ में 'अनुराग' का प्रयोग होता है। अतः हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारे यहाँ संस्कृत शब्दों के अर्थ उनके मूल अर्थों से भिन्न न होने पावें—उनसे बहुत दूर न जाने पावें। जब हम हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं, तब हमें अन्य भाषा-भाषी विद्वानों के सहयोग से इस प्रकार का भी कुछ प्रयत्न करना चाहिए कि संस्कृत शब्द सब जगह प्रायः मूल और समान अर्थों में ही प्रयुक्त हों। और यदि हम आवश्यकता-वश नये शब्द या अर्थ चलावें, तो सारे देश का ध्यान रखकर चलावें।

यह युग प्रतिद्वन्द्विता का है। जहाँ प्रतिद्वन्द्विता होती है, वहाँ उपयोगिता का तत्त्व आप से आप मुख्यता प्राप्त कर लेता है। जब एक ही तरह की कई चीजें सामने हों, तब वही चीज सबसे अधिक अपनाई जायगी, जो सबसे अधिक उपयोगी होगी। आरम्भ में कुछ समय तक अनुचित पक्षपात और दुराग्रह भले ही बाजी मार ले जायँ पर अन्त में पूछ उपयोगिता की ही होगी। यदि हम अभी से इस बात का ध्यान रक्खेंगे, तब तो हमारी भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकेगी, नहीं तो नहीं। यह ठीक है कि हमारी भाषा मध्य देश की भाषा होने और मूलतः इसी देश में उत्पन्न होने के कारण बहुत

दिनों से यहाँ की सार्वदेशिक भाषा रही है; और उसमें अनेक ऐसे तत्त्व वर्त्तमान हैं जो बहुत दिनों तक उसे उस पद पर रक्खेंगे। फिर भी सुगमता और उपयोगिता का प्रश्न बना ही रहेगा। अतः हमें अपनी भाषा में ऐसी सुगमता उत्पन्न करनी चाहिए और उसमें इतनी अधिक उपयोगिता लानी चाहिए कि उसे उस पद से हटाना असम्भव हो जाय।

भाषा की सबसे बड़ी योग्यता और उपयोगिता उसके शब्द-भंडार और भाव-व्यंजनवाली शक्ति में होती है। हमारी हिन्दी के लिए यह बहुत बड़े अभिमान की बात है कि वह उस संस्कृत की परम्परा में और उसकी प्रत्यक्ष उत्तराधिकारिणी है, जो किसी समय अपने इन्हीं गुणों के कारण संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा थी। उसका 'देववाणी' नाम ही इस बात का सूचक है कि वह समस्त मानवी वाणियों से बढ़कर थी। पर काल या समय सबको खा जाता है। आज उसकी गिनती मृत भाषाओं में होती है। किसी समय भारत में —भारत में हा क्यों, भारत से सम्बन्ध रखनेवाले आस-पास के देशों में भी—जो स्थान संस्कृत का था, वही स्थान और शायद उससे भी कुछ और ऊँचा स्थान आज-कल सारे संसार में अँगरेजी का है। यह ठीक है कि अँगरेजी की पीठ पर बहुत बलवती राजसत्ता है, पर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि स्वयं भाषा की दृष्टि से भी उसमें अनेक गुण हैं, जिनके कारण और भाषाओं की अपेक्षा संसार में उसका सबसे अधिक प्रचार है। उसका शब्द-भाण्डार बहुत बड़ा है; उसकी भाव-व्यंजक शक्ति भी बहुत प्रबल है; और उसमें नमनशीलता भी सबसे अधिक है। हमें भी अपनी भाषा में ये गुण लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमारी आकर भाषा संस्कृत का शब्द-भाण्डार भी साधारण नहीं है। किसी समय तो वही शब्द-भाण्डार सबसे बड़ा था—इतना बड़ा था कि एक पदार्थवाचक शब्द के पचास-पचास और सौ-सौ पर्याय उसमें थे। पर्याय गढ़ने में हम सबसे बढ़-चढ़ गये थे। हमारे यहाँ कालिका के 'क' कारादि, तारा के 'त' कारादि और बगला देवी के 'ब' कारादि सरीखे अनेक शत-नाम और सहस्र-नाम मौजूद हैं। पांडु के पाँच पुत्रों में अर्जुन भी थे। उधर अर्जुन एक प्रसिद्ध वृक्ष का भी नाम था। अर्जुन (वृक्ष) के लिए जब कोड़ियों पर्याय गढ़ते-गढ़ते हम थक गये, तब हमने वे सभी पर्याय अर्जुन (पांडव)

के लिए भी रख लिये। यही कारण है कि संस्कृत में कुछ ऐसे शब्द हो गये हैं, जो पचासों और सैकड़ों दूसरे शब्दों के वाचक हैं। अर्थात् एक-एक शब्द के पचास-पचास और सौ-सौ अर्थ हो गये हैं, जो साधारणतः याद नहीं रक्खे जा सकते। एक 'सारंग' शब्द के ही हिन्दी शब्द-सागर में ६० से अधिक अर्थ दिये हैं; और 'कमल' के तो शायद सैकड़ों पर्याय हैं। इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हैं। कवि लोग एक-एक छन्द में दस-दस और बीस-बीस जगह ऐसे किसी एक ही शब्द का प्रयोग करके उन्हें दिमागी कलाबाजी का क्षेत्र बनाते रहे हैं। जैसे—

सारँग सम कटि हाथ, माथ बिच सारँग राजत।
सारँग लाए अंग, देखि छबि सारँग लाजत॥
सारँग भूषण पीत पट, सारँग पद सारग-धर।
रघुनाथदास बन्दन करत, सीता-पति रघुबंश-वर॥

और

सारँग अधर धरे कर सारँग, सारँग जाति सारँग मति भोरी।
सारँग दसन बसन पुनि सारँग, सारँग बसन पीत-पट जोरी॥

पर आज-कल की परिस्थिति देखते हुए इस प्रकार के अधिकतर शब्द अपने अत्यधिक अर्थों के सहित हमारे लिए प्रायः फालतू ही हैं। तब से अब तक बहुत-सी नई विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञान-विज्ञान प्रचलित हुए हैं। विचारों और उन्हें व्यक्त करने की प्रणालियों के भी बहुत-से सूक्ष्म भेद और प्रकार हमारे सामने आ रहे हैं; अतः हमें बहुत-से नये शब्द भी गढ़ने पड़ते हैं। और अब तो राजनीतिक, वैधानिक, व्यावहारिक और वैज्ञानिक विषयों के हजारों-लाखों शब्दों की हमें आवश्यकता पड़ रही है। यह ठीक है कि अँगरेजी में तो ज्यों-ज्यों आवश्यकता पड़ती गई, त्यों-त्यों शब्द गढ़े गये; और हमें केवल वे शब्द देखकर नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं। पर नये शब्द गढ़ने का यह काम जिस व्यवस्थित रूप में होना चाहिए, उस रूप में नहीं हो रहा है। हम अनुकरण तो करना चाहते हैं, पर अपनी बुद्धि लगाना नहीं चाहते। पर अब हमें अन्ध अनुकरण छोड़कर बुद्धि से भी कुछ काम लेना चाहिए।

अँगरेजी शब्दों के निश्चित अर्थ

प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ या भाव होता है; और वह अर्थ या भाव सूचित करने के लिए सदा उसी शब्द का प्रयोग होता है[1]। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो ऊपर से देखने में एक दूसरे के पर्याय-से ही जान पड़ते हैं, परन्तु जिनके अर्थों में बहुत सूक्ष्म भेद होते हैं। अँगरेजी में ऐसे बहुत-से शब्द-युग्म हैं, जिनके अर्थ और भाव में बहुत कुछ भेद है; परन्तु हमारे यहाँ हिन्दी में उनके लिए बहुधा किसी एक ही शब्द से काम लिया जाता है। क्लाक, टाइम-पीस और वॉच तीनों के लिए हमारे यहाँ 'घड़ी' ही प्रचलित है। हम All rights reserved की जगह लिखते हैं—सर्वाधिकार सुरक्षित। और Security Council के लिए लिखते हैं—सुरक्षा परिषद्। अर्थात् Reservation भी सुरक्षा; और Security भी सुरक्षा! यह बात अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण है और हमारी भाषा की हीनता सूचित करती है। ऐसे शब्दों के लिए हमें अलग-अलग शब्द निश्चित करने चाहिएँ; और प्रसंग के अनुसार सदा उपयुक्त तथा निश्चित शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए हम यहाँ कुछ ऐसे अँगरेजी शब्द युग्म देते हैं, जिनके लिए हमें अपने यहाँ अलग-अलग शब्द निश्चित करने चाहिएँ।

Acquittal....................Discharge.

Air..........................Wind.

---

१. यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो कभी कोई भाषा पूर्ण नहीं हो सकती। अच्छी-अच्छी भाषाओं की अपूर्णता का प्रमाण सान फ्रान्सिस्को के संसार सुरक्षा-सम्मेलन के समय (मई-जून, १९४५) मिला था। वहाँ डम्बर्टन ओक्सवाले अधिकारपत्र का अनुवाद करने के समय चीनी भाषा में एक हजार नये शब्द गढ़ने पड़े थे। अरबों को स्पष्ट रूप से यह स्वीकृत करना पड़ा था कि हमारी भाषा में कुछ शब्दों के पर्याय हैं ही नहीं। अँगरेजी मसौदे के बीसियों शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ मत-भेद था। रूसी भाषा में Elect और Select के लिए, और स्पेनी तथा चीनी भाषाओं में 'चेयरमैन' और 'प्रेसिडेण्ट' के लिए अलग-अलग शब्द नहीं थे।

Criticism........................Review
Development......................Evolution
Distinction.......................Difference
Doubt.................. ....Suspicion
Governor ....Administrator
Flesh............................Meat
Honour...........................Prestige
House ....Home
Insolvant........................Bankrupt
Liberty..........................Freedom
Mutiny...........................Rebellion
Price............... ....Value
Reign ... .Govern
Sample...........................Specimen
State............... ....Government
Statesman......................Politician
Trade............................Commerce
War..............................Battle
Winner...........................Victorious आदि।

ऊपर शब्दों के जो युग्म दिये गये हैं, उनमें के हर एक शब्द के अर्थ और भाव में बहुत अन्तर है। पर हमारे यहाँ उस अन्तर का ध्यान न रखकर उनके लिए प्रायः एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए हम Flesh और Meat दोनों को मांस या गोश्त ही कहते हैं। Price और Value दोनों के लिए मूल्य या कीमत और Statesman तथा Politician दोनों के लिए सभी जगह 'राजनीतिज्ञ' शब्द का प्रयोग होता है। हमारे यहाँ 'अध्यक्ष' और 'सभापति' दोनों हैं, पर हम यह निश्चित नहीं कर सके हैं कि इनमें से कौन-सा शब्द 'चेयरमैन' के लिए प्रयुक्त हो और कौन-सा 'प्रेसीडेन्ट' के लिए। संस्कृत में शब्दों की कमी नहीं

है। हम ऐसे शब्दों के लिए अलग-अलग संस्कृत शब्द निश्चित कर सकते हैं; अथवा आवश्यकता होने पर अरबी-फारसी आदि के परम प्रचलित शब्द भी काम में ला सकते हैं। क्यों न हम Criticism के लिए 'टीका', Review के लिए 'आलोचना', Development के लिए 'अभिवर्द्धन', Evolution के लिए 'विकास', Honour के लिए 'सम्मान', Prestige के लिए 'प्रतिष्ठा', Trade के लिए 'व्यापार', Commerce के लिए 'व्यवसाय', War के लिए 'युद्ध', Battle के लिए 'लड़ाई', Value के लिए 'मूल्य', Price के लिए 'दाम', Politician के लिए 'राजनीतिज्ञ', Statesman के लिए 'राजकर्त्ता', Distinction के लिए 'अन्तर', Difference के लिए 'भेद', Governor के लिए 'शासक', तथा Administrator के लिए अपने यहाँ के पुराने शब्द 'व्यवहर्ता' का व्यवहार करें? हमारा किसी विशेष शब्द के लिए कोई आग्रह नहीं है। हम तो यही चाहते हैं कि ऐसे शब्दों के लिए कुछ हिन्दी शब्द भी स्थिर हो जायँ और सर्वत्र उन्हीं का प्रयोग हो।

संज्ञाओं से बढ़कर विकट प्रश्न विशेषणों का है। अँगरेजी का एक विशेषण है Plain जिसके कई अर्थ हैं; और कई अर्थों में इतने अधिक सूक्ष्म भेद और उपभेद हैं कि उन्हें देखकर हम चकित रह जाते हैं। उसके एक अर्थ के भेद लीजिए—

Obvious, Clear, manifest, Apparent, Lucid, Conspicuous, Distinct, Evident, Unmistakable, Undisguised आदि।

इसके कुछ और अर्थ-भेद इस प्रकार हैं—

Artless, Simple, Natural, Candid, Honest, Straightforward, Open, Frank, Unreserved, Direct, Down-right, Positive, Unequivocal, Ugly, Ordinary, Homely, Uncomely, Uncouth, Inartistic, Unlovely आदि।

अब आप ही सोचें कि इन शब्दों के लिए हमारे यहाँ कितने शब्द हैं, और जहाँ भावों के सूक्ष्म भेद दिखलाने की आवश्यकता होती है,

वहाँ हम क्या करते हैं। बस, एक-दो शब्दों में जैसे-तैसे काम चलता करते हैं। पर अब काम चलता करनेवाली इस प्रवृत्ति का धीरे धीरे अन्त होना चाहिए और हमें इनके लिए शब्द गढ़ने चाहिएँ। कुछ लोग, विशेषतः पत्र-सम्पादक, कभी-कभी कुछ ऐसे शब्द गढ़ लेते हैं, जो बहुत ही अयुक्त और अनुपयुक्त होते हैं। अन्य उपयुक्त शब्दों के अभाव में नये लेखक भी उन्हीं अयुक्त और अनुपयुक्त शब्दों का व्यवहार करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनसे ठीक अर्थ निकलता है या नहीं। इस प्रकार के कुछ अयुक्त शब्द भाषा में घर-सा कर लेते हैं और उन्हें अपदस्थ करके उनके स्थान पर नये युक्त और उपयुक्त शब्द चलाना बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे यहाँ के भूगोलों आदि में बहुत दिनों से 'सहायक नदी' पद चला आ रहा है जो अँगरेजी के ट्रिब्यूटरी (Tributary) का अनुवाद है। पर कोई यह नहीं सोचता कि इसमें का 'सहायक' शब्द वास्तविक अर्थ से बहुत दूर होने के कारण कितना निरर्थक है। आज यदि हम इसकी जगह 'पूरक' या इसी प्रकार का और कोई शब्द चलाना चाहें तो कदाचित् हमें विफल ही होना पड़ेगा। कई समाचार-पत्र Authorised और Unauthorised के लिए क्रमात् 'अधिकृत' और 'अनधिकृत' का प्रयोग करते हैं। पर वे यह नहीं सोचते कि 'अधिकृत' का वास्तविक अर्थ क्या है और वह किस भाव का सूचक है। 'अधिकृत' का सीधा-सादा अर्थ है—'जिसपर अधिकार किया गया हो'; और यह अर्थ Authorised के अर्थ से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। कुछ लोग इससे भी बढ़कर विलक्षण शब्द 'अधिकारी' का प्रयोग करते हैं। जैसे 'इस विषय में श्री हैंडरसन का वक्तव्य अधिक अधिकारी है।' इस प्रकार अलग-अलग लेखक अलग-अलग शब्द गढ़ते हैं; और प्रायः शब्द बदलते भी रहते हैं। भाषा की स्थिरता की दृष्टि से यह बहुत ही बुरा है। अतः नये शब्द बहुत ही समझ-बूझकर गढ़े जाने चाहिएँ। इसके सिवा अँगरेजी के Sub, Pro, Vice, Re, Un, Pre, Mis आदि उपसर्गों के लिए भी हमें ऐसे उपसर्गों की आवश्यकता है, जो सब जगह समान रूप से काम में आ सकें। यदि इस प्रकार के सभी शब्दों के लिए हम आज ही पर्याय निश्चित न कर सकें तो न सही। पर कुछ काम तो आरम्भ हो ही

जाना चाहिए। आज हम कुछ शब्दों के लिए पर्याय निश्चित करें; फिर आगे आनेवाली पीढ़ी बाकी शब्दों के लिए पर्याय निश्चित करेगी। अँगरेजी भाषा का सारा ढाँचा एक ही दिन में खड़ा नहीं हुआ है। उसमें सैकड़ों वर्ष लगे हैं। यदि हमें भी इस काम में दस-पाँच वर्ष लग जायँ तो कोई हर्ज नहीं। पर ऐसी बातों की ओर हमारा ध्यान तो जाना चाहिए। अभी तक हम इस ओर से प्रायः उदासीन ही रहे हैं।

इधर जब से हमारा देश स्वतंत्र हुआ है और सारे भारत में हिन्दी को राज-भाषा बनाने के लिए जोरों का जो प्रयत्न आरम्भ हुआ है, उसके फल-स्वरूप कुछ प्रान्तीय सरकारों ने हिन्दी में बहुत से नये संस्कृत-जन्य शब्द बनाने का आयोजन किया है। कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ और व्यक्तिगत रूप से कुछ विद्वान् भी शब्द-निर्माण के इस काम में लगे हैं। ऐसे कुछ प्रयत्नों के फल भी जन-साधारण के सामने आ चुके हैं। इस प्रकार जो नये शब्द बने हैं, उनमें से कुछ तो ठीक-ठिकाने के हैं और कुछ या तो अनुपयुक्त और या चिन्तनीय हैं। इस प्रकार के अलग-अलग प्रयत्नों में व्यर्थ बहुत-सा समय भी नष्ट होता है और धन भी। यदि भारत-सरकार यह काम अपने हाथ में ले ले और सभी प्रान्तीय सरकारों तथा भाषाओं के प्रति-निधियों के सहयोग तथा सहायता से यह काम करावे तो कुछ ही समय में सारे भारत के लिए एक बहुत ही सुन्दर और सर्व-मान्य शब्दावली बन सकती है। मराठी, बँगला, गुजराती आदि के साहित्यज्ञों को भी इनकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी हमें है। अतः यह काम सारे देश के और सभी भारतीय भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वानों के सहयोग से होना चाहिए। किसी एक के निश्चित किये हुए पर्याय, सम्भव है, औरों को मान्य न हों। पर जब देश भर के और सभी भाषाओं के विद्वान् मिलकर यह काम करेंगे, तब बहुत-सी कठिनाइयाँ सहज में दूर हो जायँगी; और सारे देश के लिए एक निश्चित राष्ट्र-भाषा की नींव पड़ जायगी।

अँगरेजी में कुछ विशिष्ट प्रकार के शब्द गढ़ने का एक और ढंग है। अँगरेजी का News (समाचार, शब्द North, East, West और South (चारों दिशाओं के नाम) के आरम्भिक अक्षरों के योग से बना

है। दूसरे महायुद्ध के समय आक्रमणकारी हवाई जहाजों के आने का पहले से पता बतानेवाला जो अद्भुत यन्त्र बना था, उसका नाम Radar भी Radio Detection and Ranging के आरम्भिक अक्षरों का योग करके ही रक्खा गया था। पाश्चात्य जन्तु-संग्रहालयों में जन्तुओं के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विलक्षण प्रयोग होते हैं। नर शेर और मादा चीते के संयोग से जो बच्चे उत्पन्न किये जाते हैं, वे एक नई संकर जाति के होते हैं। उस संकर जाति का नाम उन्होंने Lion (शेर) और Tiger (चीता) के क्रमात् कुछ आरम्भिक और अन्तिम अक्षर मिलाकर Liger बना लिया है। इसी प्रकार नर चीते और मादा शेर से उत्पन्न बच्चों के लिए वे Tion का प्रयोग करते हैं। इधर हाल में भारत में Constituent Assembly के लिए इसी प्रकार Consembly शब्द गढ़ लिया गया है। हमें भी ऐसे तथा और प्रकार के शब्दों के लिए इस ढंग से शब्द बनाने चाहिएँ। तलाक या Divorce के लिए हमारे यहाँ इसलिए कोई शब्द नहीं है कि हमारे यहाँ इस प्रकार के विवाह-विच्छेद की प्रथा ही नहीं थी। विवाह-विच्छेद जरा बड़ा शब्द हो जाता है; अतः हम उसके लिए 'विविच्छेद' अथवा 'प्रणय-त्याग' के आधार पर 'प्रत्याग' की तरह का कोई शब्द गढ़ सकते हैं। इधर कुछ दिनों से भाषा-विज्ञान के कुछ ग्रन्थों में भारत-युरोपीय (Indo-European) के लिए 'भारोपीय' शब्द दिखाई देने लगा है। यही बात इस प्रकार के और शब्दों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

कुछ लोग यह चाहते हैं कि हम जितने नये शब्द लें, वे सब विशुद्ध संस्कृत के ही तत्सम या तद्भव शब्द हों, और किसी भाषा के न हों। परन्तु यह विचार कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि रेल, टिकट, क्लब, सिनेमा, रेडियो, कांग्रेस, लीग, पेन्सिल, फोटो, टाइप, टायर, बारनिश, इंच, फुट आदि सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जो हमारी ही भाषा में नहीं, संसार भर की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में बहुत-कुछ इन्हीं रूपों में प्रचलित हो गये हैं। द्वितीय महायुद्ध की कृपा से कन्ट्रोल, रैशन, सप्लाई, परमिट, कोटा, रेट आदि बहुत-से शब्द गाँव-देहातों तक में प्रचलित हो गये हैं। इनके स्थान पर नये शब्द गढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, बल्कि हानिकारक भी

होगा। हमारी इसी प्रवृत्ति से अनुचित लाभ उठाकर और हमारी भाषा को बदनाम करने और बिगाड़ने के लिए टिकट के स्थान पर 'घर-घुसेड़' शब्द रखने का प्रस्ताव हुआ था! और Curfew के लिए एक सज्जन ने अपने कोश में 'घरमुंदी' शब्द दिया था। यही प्रवृत्ति कुछ लोगों से 'स्फट्यान शाल्वीय' और 'इर्यात् तरस्वेय' सरीखे ऐसे शब्द बनवाती है जो न सहज में बोले या याद रक्खे जा सकते हैं और न जल्दी किसी की समझ में आ सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा एक नम्र निवेदन है। जो लोग अपनी भाषा का प्रचार सारे देश में करना चाहते हों, उन्हें ऐसे सहज शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए जो अधिक-से-अधिक क्षेत्रों और प्रान्तों में बोले और समझे जा सकते हों। भाषा के प्रचार का यह मूल सिद्धान्त हमें सदा स्मरण रखना चाहिए। कोई पूछ सकता है कि आज-कल जो भाषा हिन्दी समाचार-पत्रों और पुस्तकों में मिलती है, वह कितने आदमी समझते हैं। इसका उत्तर है—देश के तीन-चौथाई पढ़े-लिखे आदमी। हमारी हिन्दी बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, राजपूताने, गुजरात आदि में ही नहीं बल्कि तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम प्रान्तों में भी कुछ-न-कुछ समझी जाती है। हाँ, जो लोग स्वयं अपनी भाषा के शब्द छोड़कर जबरदस्ती विदेशी भाषाओं के शब्द बोलने और सुनने-समझने के अभ्यस्त हो गये हों, और 'समन बग़रज़ क़रादाद उमूर तनक़ीह तलब' को ही इस देश की भाषा बनाना चाहते हों, उनसे तर्क करना व्यर्थ है।

यहाँ ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्द तो सहज में निकाले या छोड़े जा सकते हैं और निकाले या छोड़े जाने चाहिएँ; पर केवल 'विदेशी बहिष्कार' के फेर में पड़कर

विदेशी शब्दों का ग्रहण और त्याग

बाहरी सरल शब्दों के स्थान पर अपने यहाँ के कठिन शब्द प्रचलित करने का प्रयत्न निरर्थक और विफल ही होगा। किसी भाषा में जब कुछ विदेशी सरल शब्द आकर मिल जाते हैं, तब उनके स्थान पर अपने यहाँ के नये शब्द चलाना कठिन तो होता ही है, प्रायः व्यर्थ भी होता है। इसके बदले यदि कठिन और दुर्बोध शब्द निकालकर उनकी जगह सरल और सुबोध

शब्द चलाने का प्रयत्न किया जाय तो वह श्रेयस्कर भी होगा और सफल भी।

सच्ची राष्ट्रीयता की भावना अपनी वस्तुओं के प्रति अनुराग उत्पन्न कराती है और विदेशी तथा परकीय तत्त्वों को दूर करने में सहायक होती है। जापान में पहले 'शिन्तो' धर्म चलता था, जिसपर बाद में बौद्ध धर्म की इतनी गहरी रंगत चढ़ी थी कि उसका मूल रूप बिलकुल दब गया था। पर जब जापानियों में राष्ट्रीयता की भावना आई, तब उन्होंने अपने धर्म पर से सारी बौद्ध रंगत धो डाली और उसका हजारों बरस का पुराना रूप ढूँढ़ निकाला और उसी का प्रचार आरम्भ किया। युरोप में किसी समय जरमन भाषा में से विदेशी शब्द चुन-चुनकर निकाले गये थे। तुर्कों ने भी ऐसी ही मनोदशा में अरबी शब्दों का बहिष्कार किया था। ईरान ने भी उसका अनुकरण किया। वहाँ भी भाषा में आधे के लगभग जो अरबी शब्द घुस गये थे, वे सब सरकारी आज्ञा से बहिष्कृत होने लगे और उनके स्थान पर ईरानी या फारसी भाषा के शब्द चलने लगे। उन्होंने अरबी के 'अल्लाह' और 'रसूल' तक की जगह अपने यहाँ के 'खुदा' और 'पैगम्बर' शब्द चलाये; और 'बिस्मिल्लाह' की जगह 'बनामे खुदा' का प्रचार किया। अपने देश तक का नाम उन्होंने 'फारस' की जगह 'ईरान' प्रचलित किया, जो हमारे 'आर्य' शब्द का ही रूपान्तर है। अब अफगानिस्तान भला क्यों पीछे रहता! उसने अरबी और फारसी दोनों भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार आरम्भ किया है। ये सब तो स्वतन्त्र देशों की बातें हैं। पर हमारा देश इधर बहुत दिनों से परतन्त्र था, इसलिए यदि यहाँ उलटी गंगा बही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हमारे यहाँ एक विशिष्ट वर्ग में राष्ट्रीयता की झूठी और पूरी परकीय भावना भरने का प्रयत्न होता रहा। हमारे बाप-दादा अनेक पीढ़ियों से जो शब्द बोलते आये थे, उनकी जगह हमारे कुछ भाई अपनी भाषा में बलपूर्वक ऐसे शब्द भरना चाहते थे, जो हमारी प्रकृति के विरुद्ध होने के अतिरिक्त अन्य देशों में पूरी तरह से परित्यक्त और तिरस्कृत हो चुके थे। पर अब हमारा देश स्वतंत्र हो गया है और हम आशा करते हैं कि अब हमारी भाषा पूर्ण रूप से राष्ट्रिय हो जायगी। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम सभी विदेशी शब्दों का पूर्ण रूप से बहिष्कार करेंगे; हम अपनी भाषा में वही विदेशी शब्द रहने

देंगे और वही नये शब्द ग्रहण करेंगे जो हमें परम आवश्यक प्रतीत होंगे और जिनसे हमारी भाषा के समुचित विकास और प्रचार में सहायता मिलेगी।

हैदराबाद (दक्षिण) में हाई स्कूल के लिए 'फ़ौक़ानियः', मिडिल स्कूल के लिए 'वस्तानियः' और प्राइमरी स्कूल के लिए 'तहतानियः' सरीखे ऐसे शब्द गढ़े गये हैं, जिनका इस देश की जनता के साथ बादरायण के सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अंजुमन तहफ्फुज़ हुकूके गुरबा' का अर्थ इस देश के कितने निवासी समझ सकते हैं? ऐसे शब्द गढ़नेवालों से हम विशेष कुछ न कहकर उनका ध्यान श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित की इस उक्ति की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं—'अपनी जन्मभूमि में जमी हुई जड़ें छोड़कर कोई राष्ट्र कभी वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता।' यद्यपि श्रीमती पंडित ने यह बात राजनीतिक प्रसंग में कही थी, पर हम समझते हैं कि भाषा के क्षेत्र में भी यह अक्षरशः सत्य है। इससे भी बढ़कर महात्मा गान्धी ने एक अवसर पर कहा था—'यदि हम स्वतन्त्रता चाहते हों तो हमें अँगरेज़ी में लिखना और बोलना छोड़ देना चाहिए।' इसमें 'लिखना' और 'बोलना' के साथ 'सोचना' भी जोड़ दिया जाना चाहिए। सच्ची राष्ट्रीयता का यही मूल मन्त्र है। हिन्दी से अलग उर्दू भाषा की सृष्टि करने के उपरान्त जब राजनीतिक कारणों से बँगला और मराठी तक में अरबी और फारसी के नये-नये शब्द जबर्दस्ती भरे जाने लगे,[1] तब मराठीवालों ने भी अरबी और

---

१. भारत का विभाजन हो जाने के उपरान्त कुछ ऐसे पाकिस्तानियों ने, जिनमें आवश्यकता से अधिक और अतिरिक्त उर्दू प्रेम था, और जो उर्दू को जबरदस्ती पाकिस्तान की भाषा बनाना चाहते थे, ढाके के रेडियो के द्वारा बँगला भाषा पर अरबी-फारसी के कठिन और दुरूह शब्द लादने का प्रयत्न किया था। पर ढाके के बहुत-से मुसलमान नवयुवकों और विद्यार्थियों ने इस घातक नीति का प्रबल विरोध किया था, जिससे रेडियो विभाग के अधिकारियों को अपनी नीति बदलकर फिर देश की स्वाभाविक भाषा बँगला का आश्रय लेना पड़ा था (जुलाई १९४८)। हाँ, भारत में अंजुमन तरक़्क़ीए उर्दू ने यह अवश्य मान लिया है कि इस देश की भाषा उर्दू नहीं हो सकती; और इसी लिए अब वह 'हिन्दुस्तानी' के नाम से उर्दू को जीवित रखना चाहती है।

फारसी के शब्दों का बहिष्कार आरम्भ किया। सुनते हैं, मराठी में एक 'बहिष्कार कोश' भी छप गया है, जिसमें यह बतलाया गया है कि अमुक-अमुक विदेशी शब्दों का बहिष्कार होना चाहिए और उनकी जगह अमुक-अमुक देशी शब्द काम में लाये जाने चाहिएँ। एक सीमा तक यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी है। यदि सभी देशवासियों में यह ठीक तरह से बढ़ती रहे तो हम एक ऐसे समय की भी प्रतीक्षा कर सकते हैं, जब हमारे यहाँ भी 'अल्लाह' और 'खुदा' दोनों की जगह 'ईश्वर' ही दिखाई देगा। इस बात का कुछ सूक्ष्म आभास हमें 'जमील' के इस शेर में मिल सकता है—

> कीजे न 'जमील' उर्दू का सिंगार, अब ईरानी तल्मीहों[1] से।
> पहनेगी विदेसी गहने क्यों यह बेटी भारत माता की॥

फिर भी भाषा की दृष्टि से हमें एक बात का ध्यान रखना ही पड़ेगा। वह यह कि भाषा में नये और बाहरी शब्द आकर मिलते ही रहेंगे। सच पूछिए तो दूसरी भाषाओं से आवश्यक और उपयोगी शब्द ग्रहण करने और पचाने की शक्ति प्रत्येक जीवित और उन्नत भाषा में होना जरूरी है। जो भाषा नये शब्द ग्रहण नहीं कर सकती, वह या तो मृत होगी या मृत-प्राय। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो कोई भाषा और कोई जाति विशुद्ध नहीं है। सब में कुछ-न-कुछ परकीय मिश्रण अवश्य है। इसी लिए हम विदेशी शब्दों का अनुपात तो अवश्य कम कर सकते हैं, पर कदाचित् उन्हें बिलकुल निर्मूल नहीं कर सकते। विदेशी भाषाओं के बहुत-से शब्द हमारी भाषा में इस प्रकार मिल गये हैं कि उनका सारा विदेशीपन नष्ट हो चुका है और वे हमारी भाषा के अंग बन गये हैं। अनार, सेब, बन्द, कमर, कसर, किराया, सवार, कुरसी, जादू, सरकार, दरबार, नीलाम, बहार, गिरह, कागज, पुल, दीमक, सिपाही, वरदी, लंगर, बरफ, वकील, सन्, हवा, हाल, माल आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इसके सिवा कब्र, कफन, ऐनक या चश्मा आदि बहुत-से ऐसे शब्द भी हैं जिनके लिए नये शब्द गढ़ना कठिन

---

१ तल्मीह=किसी कथानक या पारिभाषिक तथ्य का संकेत।

ही नहीं बल्कि व्यर्थ भी है। 'कम' का बहिष्कार करके उसकी जगह 'अल्प' पर 'न्यून' नहीं चलाया जा सकता; और न 'रेल' का काम 'वाष्पचालित यान' से अथवा 'सिगनल' का काम 'पथ-दर्शक लौह पट्टिका' से ही लिया जा सकता है। 'सफेद' को भी हमें इसलिए अपना ही शब्द मानना पड़ेगा कि वह वस्तुतः संस्कृत के 'श्वेत' से बना है। यही बात फारसी के 'दार' 'बन्द' आदि प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी है। इन्हें भी हमें इसलिए विदेशी और त्याज्य नहीं समझना चाहिए कि ये हमारे यहाँ के सं० 'धर' 'बन्ध' आदि प्रत्ययों से निकले हुए हैं। बहुत-सी विदेशी संज्ञाओं से तो हमारे यहाँ क्रियाएँ भी बन गई हैं। जैसे—गुजरना, दागना, शरमाना आदि। देहाती लोग तो 'तलाशना' और 'जल्दियाना' भी बोलते हैं। भला 'खरीदना' और 'बदलना' सरीखे शब्द हमारी भाषा में से तब तक कैसे निकल सकते हैं, जब तक हम उनके स्थान पर क्रमात् 'मोलना' या 'कीनना' या 'क्रयना' और 'परिवर्तना' सरीखी क्रियाएँ न चलावें? और फिर ऐसी नई क्रियाओं के प्रचलित हो सकने की भी तो कोई आशा नहीं है। बहुत-से शब्दों के साथ कुछ विशिष्ट अर्थ और मुहावरे भी हमारे यहाँ प्रचलित हो गये हैं। यदि हम 'हवा' का बहिष्कार करेंगे तो फिर 'हवा खाना', 'हवा बताना', 'हवा बाँधना' और 'हवा से बातें करना' भी छोड़ना पड़ेगा। इसी लिए हम समझते हैं कि ऐसे शब्दों को अपनी भाषा से निकालने का प्रयत्न अनावश्यक तो होगा ही, शायद निरर्थक भी हो तो आश्चर्य नहीं।

संसार की सबसे उन्नत भाषा अँगरेजी ने भी बहुत-सी दूसरी भाषाओं से अनेक उपयोगी शब्द लिये हैं; और उन भाषाओं में हमारी हिन्दी भी है। दूसरी भाषाओं से शब्द लेना कोई लज्जा की बात नहीं है। लज्जा की बात है उन्हें लेकर भी हजम न कर सकना—उनपर अपनी पूरी-पूरी छाप न बैठा सकना। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो आवश्यकता के अनुसार दूसरी भाषाओं के शब्द ग्रहण करके उन्हें अच्छी तरह पचाना जीवित भाषा का एक विशेष लक्षण है। पर विदेशी शब्दों की अधिकता ग्राहक भाषा की दरिद्रता की सूचक होती है। अतः इस सम्बन्ध में सिद्धान्त यह

नये शब्दों के रूप

होना चाहिए कि किसी शब्द की आवश्यकता पड़ने पर पहले हम अपना घर देखें। यदि हमारे यहाँ काम चलाने योग्य शब्द न मिले, तब पड़ोसियों के यहाँ से शब्द लेकर काम चलावें। जब पास-पड़ोस से भी काम न चले, तब दूर के देशों से भी थोड़ा-बहुत आयात कर लेने में कोई हानि नहीं है[1]। पर हाँ, हम जो कुछ लें, वह हमारी प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए और हमारी पाचन-शक्ति के प्रभाव में आ जाना चाहिए।

उदाहरण के लिए प्रचलित शब्द 'अन्तर्राष्ट्रीय' लीजिए। यह अँगरेजी के 'इंटरनैशनल' शब्द की जगह प्रचलित है। यदि सच पूछिए तो इसमें का 'अन्तर' शब्द अँगरेजी के 'इंटर' से मिलते-जुलते संस्कृत रूप के सिवा कुछ भी नहीं है। दोनों में अर्थ-साम्य तो है नहीं, हाँ अक्षर-साम्य है; और है 'अन्तर्' का दुरुपयोग। 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार भी ठीक नहीं है। वैयाकरणों का मत है कि इसका शुद्ध रूप 'अन्ताराष्ट्रीय' होगा। इसी लिए कुछ लोग 'अन्तर्राष्ट्रीय' की जगह 'सार्वराष्ट्रीय' रखते हैं। पर 'अन्तर्राष्ट्रीय' चल पड़ा है और केवल इसलिए चल पड़ा है कि उसमें का 'अन्तर्' अपना-सा जान पड़ने के सिवा अँगरेजी के 'इंटर' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता भी है। अब इसी के अनुकरण पर अन्तर्जातीय, अन्तर्देशीय, अन्तर्सामाजिक आदि बहुत से शब्द बनने लगे हैं, जो खूब चलते हैं। यह मानों अँगरेजी के 'इंटर' शब्द पर ही हमने अपनी रंग और पक्की मोहर लगाई है। अब इससे भी आगे बढ़कर कुछ लोग इन्टेरिम (Interim) शब्द के लिए 'अन्तरिम' का प्रयोग करने लगे हैं। वे यह नहीं सोचते कि 'अन्तरिम' का कुछ अर्थ होता है या नहीं। केवल अँगरेजी के 'इन्टेरिम' से मिलता-जुलता होने के कारण वह प्रचलित हो चला है। विज्ञान का एक अँगरेजी पारिभाषिक शब्द है 'आयन' (Ion) जो एक विशेष अवस्था के विद्युन्मय कणों के लिए प्रयुक्त होता है। हमारे यहाँ के कुछ वैज्ञानिकों ने यह शब्द इसी लिए ज्यों-का-त्यों उसी अर्थ में ले लिया है कि इसके रूप और उच्चारण में कहीं से परकीयता नहीं झलकती, बल्कि

---

१. इस सिद्धान्त के अनुसार हमें 'सालोमन' और 'अलेक्जैंडर' सरीखे शब्दों की जगह क्रमात् 'सुलेमान' और 'सिकन्दर' सरीखे शब्दों का ही व्यवहार करना चाहिए।

यह देखने में बिल्कुल संस्कृत का शब्द जान पड़ता है। वे इससे 'आयनित' (विशेषण) भी बना लेते हैं। अब हम यदि ऐसा सुन्दर और सहज शब्द छोड़कर इसकी जगह 'स्फुटित विद्युन्मय कण' रखना और चलाना चाहें तो हमारा वह प्रयत्न हास्यास्पद ही होगा। कुछ लोगों ने Avalanche के लिए 'अवलांश' का प्रयोग किया है, जो इसी कोटि में आता है। इसी प्रकार का एक शब्द 'अतलान्तक' है जो 'एटलान्टिक' की जगह चलने लगा है। इसका अर्थ चाहे कुछ हो, पर एक तो 'एटलान्टिक' से इसका वर्ण-साम्य है, और दूसरे यह हमें अपना जान पड़ता है। फिर सुन्दर और सहज भी है। अँगरेजी के अल्टिमेटम (Ultimatum) शब्द के लिए एक पत्रकार ने 'अन्तिमेत्थम्' शब्द का प्रयोग आरम्भ किया है, जो रूप में 'अल्टिमेटम' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता होने के अतिरिक्त बिलकुल सार्थक और मूल का ठीक-ठीक भाव प्रकट करनेवाला भी है। कुछ हिन्दी-प्रेमी व्यापारियों ने रसीद की जगह 'प्राप्तिका' और 'कैश मेमो' की जगह 'विक्रयिका' आदि शब्द बनाये हैं, जो बहुत सुन्दर हैं और सहज में चल सकते हैं। 'रसीद' के लिए हमारे यहाँ एक पुराना शब्द 'पावती' भी है जो व्यापारिक क्षेत्रों में खूब चलता है; पर वह बहुत-कुछ acknowledgment के भाव से युक्त या मिलता-जुलता है। सारांश यह कि हमें शब्द तो अवश्य लेने पड़ेंगे, और बनाने भी पड़ेंगे; पर चलेंगे वही, जो हमारी प्रकृति के अनुकूल होने के अतिरिक्त उच्चारण और लेखन की दृष्टि से सहज भी होंगे। 'रहस्यमय मधुर सम्बन्ध' और 'खुला विद्रोह' सरीखे प्रयोगों में मूल भाव तो अवश्य परकीय हैं, पर उनपर हमने ऐसी छाप लगा दी है कि उनकी सारी परकीयता नष्ट हो गई है और वे हमें बिलकुल अपनी-सी चीज जान पड़ते हैं। अब कुछ लोग आवश्यकतावश बढ़ाव, सुलझाव, हराव (हरापन), फेनिल, तंद्रिल, सुरमीला, झेंपीला सरीखे कुछ नये शब्द भी चलाने लगे हैं, जो शुभ लक्षण है।

यह तो सभी लोग स्वीकृत करते हैं कि हमें बहुत-से नये शब्दों की आवश्यकता है। वस्तुतः वह भाषा निर्जीव या प्रायः निर्जीव-सी होती है, जिसमें नये शब्दों का समावेश नहीं होता। यदि हम सजीव हैं और हमारी

कोश और व्याकरण

भाषा भी सजीव है, तो हमें नये शब्द गढ़ने भी पड़ेंगे और कभी कभी दूसरों से लेने भी पड़ेंगे। इसी लिए बहुत-से लोग नये शब्द गढ़ते भी हैं। पर प्रायः लोग नये शब्द गढ़ने के समय कई आवश्यक और उपयोगी बातों का ध्यान नहीं रखते। वे न तो यही सोचते हैं कि हम जो नये शब्द गढ़ते हैं, वे ठीक-ठीक भाव प्रकट करनेवाले हैं या नहीं; और न यही देखते हैं कि वे सरल हैं या कठिन। प्रायः इस प्रकार नये गढ़े जानेवाले शब्द हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध भी पड़ते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार के नये शब्द समान रूप से प्रचलित नहीं होने पाते। लेखक को हाल के बने हुए दस-बारह छोटे-बड़े शब्दकोश देखने का अवसर मिला है। वे सब शब्द-कोश अँगरेजी-हिन्दी के ही हैं। उनमें अँगरेजी के एक ही शब्द के लिए कोई कुछ पर्याय रखता है और कोई कुछ। एक बड़े कोश में Pragmatism के इतने अर्थ दिये हैं—व्यवहारवाद, कार्य-साधकतावाद, उपयोगितावाद, व्यावहारिक सत्तावाद, क्रियावाद। अब यदि पाँच लेखक इनमें से हर एक का अलग-अलग व्यवहार करें, तो बेचारे पाठक क्या समझेंगे! या इनमें से कौन सा शब्द ठीक माना और प्रचलित किया जाय? एक हिन्दी-अँगरेजी कोश में हमने 'उतरन' शब्द के दो अर्थ देखे थे। एक तो मुक्त होना; और दूसरा, उतरे हुए कपड़े। दूसरा अर्थ तो ठीक है, पर पहला ठीक नहीं है। वह संस्कृत के 'उऋण' का हिन्दी रूप मान लिया गया है। पर उसका बोल-चाल का रूप 'उत्तरिन' है, न कि 'उतरन'। कई बड़े-बड़े कोश देखने पर तो हमारी यह धारणा हुई कि उनके सम्पादक अक्षर-क्रम से शब्द लगाना और शब्दों के शुद्ध रूप या हिज्जे तक नहीं जानते। एक अवसर पर एक समिति के सामने रखने के लिए लेखक ने आध घन्टे के अन्दर ऐसे आठ-दस कोशों में से बीसियों भद्दे, अशुद्ध और निरर्थक अर्थ तथा पर्याय ढूँढ़ निकाले थे। आप भी कोश उठाकर वैसी भूलें देख सकते हैं। इस प्रकार के कोश तैयार करने का अधिकतर समय, परिश्रम और धन प्रायः व्यर्थ जाता है। यही कारण है कि एक प्रकार का एक कोश तैयार हो जाने पर लोग झट दूसरा कोश बनाने की आवश्यकता समझते हैं; और

जब वह भी लोगों की दृष्टि में बे-कार ठहरता है, तब तीसरा कोश बनाया जाता है। कोश तैयार करना हर आदमी का काम नहीं है। इसके लिए विशेष योग्यता, अनुभव और शब्द-ज्ञान की आवश्यकता होती है। बहुत-कुछ यही बात व्याकरणों के सम्बन्ध में भी देखने में आती है। हमारे यहाँ के अधिकतर व्याकरण या तो अँगरेजी व्याकरण के साँचे में या संस्कृत व्याकरण के साँचे में ढले हुए दिखाई देते हैं। हिन्दी की प्रकृति या आन्तरिक स्वरूप का उनमें बहुत ही कम ध्यान रक्खा जाता है। और यही कारण है कि अनेक सुविज्ञों को हिन्दी के सर्वांगपूर्ण व्याकरण का अभाव बराबर खटकता है। हमारा नम्र निवेदन यही है कि लोगों को कोश और व्याकरण तैयार करने का काम बहुत समझ-बूझकर उठाना चाहिए; और उसके प्रत्येक अंग पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए।

*नये शब्द गढ़ने के सम्बन्ध में हम एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं। पहले कई प्रकरणों में हम यह बतला चुके हैं कि बहुत-से लोग बिलकुल मन-माने ढंग से और अशुद्ध शब्द गढ़ चलते हैं, जिनमें से कुछ शब्द प्रचलित भी हो जाते हैं। यह बात विशेषतः भाव-वाचक संज्ञाओं और विशेषणों के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट रूप में देखने में आती है। सब लोग संस्कृत व्याकरण के सब नियम और सूक्ष्म अन्तर तो जानते नहीं; मोटे-मोटे कुछ नियम जानकर प्रायः सब जगह उन्हीं के अनुसार नये शब्द गढ़ चलते हैं, जो अशुद्ध भी होते हैं और भद्दे भी। संस्कृत के सब नियम हिन्दी में ज्यों-के-त्यों नहीं चल सकते। अतः हिन्दी के विद्वान् वैयाकरणों का कर्त्तव्य है कि नये शब्द गढ़ने के सम्बन्ध में वे संस्कृत के व्याकरणों के नियमों के आधार पर कुछ ऐसे स्वतंत्र नियम बनावें, जो सुगम होने के अतिरिक्त हिन्दी की प्रकृति के अनुसार हों और जिनके आधार पर लोग सहज में नये शब्द गढ़ सकें। यदि साधारण लेखकों को मनमाने ढंग से नये शब्द गढ़ने की स्वतंत्रता रहेगी, तो भाषा का स्वरूप बहुत ही विकृत हो जायगा और वह अपनी प्रकृति से बहुत दूर जा पड़ेगी। आशा है, हिन्दी विद्वान् तथा वैयाकरण इस विषय की ओर विशेष ध्यान देंगे।

अभी तक हमने जो कुछ कहा है, वह संज्ञाओं और विशेषणों के ही सम्बन्ध

में है। अब हम क्रियाओं के सम्बन्ध में भी कुछ बातें बतलाना चाहते हैं।

नई क्रियाओं की आवश्यकता

अँगरेजी भाषा के संसार-व्यापी प्रचार का एक कारण यह भी है कि वह बहुत ही नमनशील या लचीली (जिसे कुछ लोग लचकीली भी कहते हैं!) भाषा है। उसमें प्रायः सभी संज्ञाओं से सहज में अकर्मक और सकर्मक क्रियाएँ, विशेषण और क्रिया-विशेषण बन सकते हैं। क्रियाओं से संज्ञाएँ और विशेषण बनाने के भी उसमें बँधे हुए सहज नियम हैं। यों अँगरेजी भाषा की हँसी उड़ाने के लिए हम भले ही कह लें कि यदि Boot से बहुवचन Boots, बनता है, तो Foot से Feet क्यों बनता है, Foots क्यों नहीं बनता; अथवा यदि He से संबंध-कारक में His बनता है, तो She से Shis क्यों नहीं बनता? पर वास्तव में अँगरेजी बहुत ही सुलझी हुई भाषा है। हमारी प्राचीन संस्कृत भाषा में भी इस तरह का बहुत अधिक सुलझाव था, जिसका कुछ अंश पुरानी हिन्दी ने भी पाया था। पर इधर कुछ दिनों से हम लोग उर्दू के प्रवाह में कुछ ऐसे बहे कि अपनी भाषा के कई गुण और कई अच्छी प्रवृत्तियाँ खो बैठे।

कुछ दिन पहले माननीय सम्पूर्णानन्द जी ने एक प्रसंग में कहा था कि हम संस्कृत में 'हिटलर' से 'हिटलरायते' तो बना सकते हैं, पर हिन्दी में 'हिटलराना' नहीं कह सकते। इस प्रकार उन्होंने मानों अपनी भाषा की एक त्रुटि की ओर संकेत किया था। मतलब यह था कि क्रियाएँ बनाने की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। अवधी और ब्रज-भाषा दोनों में संज्ञाओं से बनी हुई बहुत-सी क्रियाएँ भरी पड़ी हैं। जैसे-आदर से आदरना (और निदरना भी) अर्थ से अरथानां, भ्रम से भरमना और भरमाना, थाह से थहाना या थाहना, अनुसरण से अनुसरना, कादर से कदराना, अधिक से अधिकाना, ध्यान से ध्याना, कन्धा से काँधना आदि। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'गान' से 'गानना' क्रिया भी बनाई थी। यथा—

नर अरु नारि राम-गुन गानहिं।

उर्दू के आरम्भिक इतिहास में भी, जब हमारी भाषा का उसपर पूरा-पूरा प्रभाव था और उसने 'स्वतन्त्र' होने का प्रयत्न आरम्भ नहीं किया था,

यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल रूप में काम करती थी। उस समय की बनी हुई गुजरना, कबूलना, बदलना आदि बहुत-सी क्रियाएँ अब भी हिन्दी और उर्दू दोनों में प्रचलित हैं, जो शायद जल्दी निकाले नहीं निकल सकतीं। उन्होंने 'फ़रमूदन' से 'फरमाना' तो बनाया ही था, 'बहस' से 'बहसना' भी बनाया था, जो देहातों में अब भी कहीं-कहीं बोला जाता है। एक शेर है—

बहसने आया जो तुमसे आइना, आने भी दो।
खैर तुम अपनी तरफ देखो, चलो जाने भी दो॥

हमारे यहाँ भी 'बात' से 'बतराना' और 'बतियाना' बनता था, जिसका 'बतलाना' रूप आज-कल कुछ और ही अर्थों में प्रचलित है। पर बाद में जब उर्दू में 'फसाहत' लाई जाने लगी और देशी भाषा के शब्द गँवारू कहे जाने और छाँट-छाँटकर निकाले जाने लगे, तब संज्ञाओं से इस प्रकार की क्रियाएँ बनाने की प्रवृत्ति का भी अन्त होने लगा। उस समय की राजकीय कृपा से कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उर्दू का बोल-बाला होने के कारण हम हिन्दीवाले भी अपनी भाषा उसी रंग में रँगने लगे; और इस प्रकार अपनी कई अच्छी बातों से हाथ धो बैठे। हमारे यहाँ के महाजन और मुनीम तो अब तक खाता खतियाते हैं; पर आज-कल के शिक्षित ऐसी क्रियाओं को स्थानिक या पूरबी कहकर नाक भौं सिकोड़ते हैं। सुना था कि हैदराबाद (दक्षिण) के उर्दू के कुछ प्रेमियों और प्रचारकों ने इस सम्बन्ध में एक नया आन्दोलन आरम्भ किया है। उनके ध्यान में भी यह बात आई है कि भाषा में संज्ञाओं से क्रियाएँ बनाने की शक्ति बढ़नी चाहिए। वे तो शायद अरबी और फारसी की संज्ञाओं से ही क्रियाएँ बनाना चाहेंगे; फिर भी उन्हें देशी भाषाओं की बहुत-सी संज्ञाओं की शरण लेनी ही पड़ेगी। हमारे लिए इस प्रकार के नये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ पहले से बनी हुई बहुत-सी ऐसी क्रियाएँ मौजूद हैं जिन्हें हम धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं। पहले हमें उन्हीं से आरम्भ करना चाहिए। 'उमंग में आना' (या भरना) से 'उमँगना' कहीं अच्छा है, और 'विकसित होना' से 'विकसना' में बहुत कुछ लाघव है। 'समुद्र लहरें मार रहा था' से 'समुद्र लहरा रहा था' कहीं सुगम और सुंदर है। पहले हमें उन्हीं क्रियाओं को जिलाना चाहिए, जो हमारी उपेक्षा के कारण मर रही

हैं। उदाहरणार्थ—साधना, सकारना, रचना, उपजना आदि। इनके फिर से जी उठने और सचेष्ट होने पर आप-से-आप हमें नई क्रियाएँ बनाने के रास्ते मिलने लगेंगे। पर यह काम भी बहुत समझ-बूझकर होना चाहिए। यदि आरम्भ में ही हम 'हिटलराना' और 'चर्चिलाना' शुरू कर देंगे और कुछ ऐसी विलक्षण क्रियाएँ बनाने लग जायँगे जो देखने में भद्दी मालूम हों तो यह मार्ग खुलने ही न पावेगा।

नये शब्दों की तलाश में चारो तरफ भटकने या भद्दे शब्द गढ़ने की अपेक्षा कहीं अच्छा यह है कि पहले हम अपना घर देखें। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने बहुत-से सुन्दर शब्द गढ़े थे, पर हम उन्हें छोड़ते जा रहे हैं। सूरदास जी ने लिखा है—

मैं हरि-भक्त नाम मम नारद। मोसों कहि तू अपनो हारद।

इसमें का 'हारद' शब्द कितना सुन्दर है, पर कैसा परित्यक्त है! ऐसे सैकड़ों-हजारों शब्द ढूँढ़कर निकाले जा सकते हैं। हमें उचित है कि अपने यहाँ की प्रान्तीय भाषाओं और स्थानिक हिन्दी बोलियों की तरफ निगाह दौड़ावें। हमारे यहाँ की ग्राम्य और स्थानिक बोलियों में बहुत-से सुन्दर शब्द, पद, क्रियाएँ, भाव-व्यंजन की प्रणालियाँ और मुहावरे भरे पड़े हैं, जिन्हें लोग धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। हमें उर्दू के एक-दो बड़े कोशों में बहुत से ऐसे शब्द, क्रियाएँ और मुहावरे मिले हैं जो हैं तो स्थानिक ही, पर बहुत ही सुन्दर और-व्यंजक हैं। यद्यपि वे सभी ठेठ हिन्दी के और बिलकुल तद्भव शब्द हैं, पर उनमें एक विलक्षणता है। किसी समय उर्दू के अनेक कवि उनका खूब व्यवहार करते थे और उन्हें अपने शेरों में स्थान देते थे। फिर जब वे लोग देशी भाषा के शब्दों को 'मतरूक' (परित्यक्त) कहकर छोड़ने लगे और उनके स्थान पर ढूँढ़-ढूँढ़कर, अरबी-फारसी के शब्द रखने लगे, तब हमारी भाषा के वे शब्द जहाँ के-तहाँ रह गये। हम हिन्दीवालों ने न तो कभी साहित्य में उन शब्दों का प्रयोग ही किया, न उनकी सुध ही ली। परिणाम यह हो रहा है कि हमारे वे शब्द मरते जा रहे हैं। इनमें बहुतेरे ऐसे शब्द और मुहावरे हैं, जो इस समय हमारे लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार बुन्देलखण्डी, बघेली और बिहारी

बोलियों में भी बहुत-से ऐसे शब्द हैं जो लिये जा सकते हैं। पर ऐसे शब्द लेते समय हमें अपनी भाषा की प्रकृति और उन शब्दों के स्वरूप का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। हमें ऐसे ही शब्द लेने चाहिएँ, जिनपर स्थानिकता या गँवारपन की छाप न हो; और यदि हो भी तो वे सहज में शिष्ट हिन्दी के साँचे में ढाले जा सकें।

बहुत-से लोग यह कहते हैं कि हम जो कुछ बोलते हैं, वही लिखेंगे[1]। यह बात कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि यदि आपको ठीक बोलना ही न आता हो तो! फिर बोलने में हम बहुत-सी भूलें भी करते हैं, पर लिखने में ऐसा नहीं कर सकते। बोलने को तो हम 'दर असल में' 'बे-फजूल' और 'निखालिस' भी बोल जाते हैं। हमने कुछ लोगों को 'पसन्द' की जगह 'प्रसन्न' और 'पसन्दी' भी बोलते हुए सुना है। लोग मान्य या प्रतिष्ठित की जगह 'मानिन्द आदमी' भी बोलते हैं। कुछ लोग 'विकार' की जगह 'बेकार' बोलते हैं। जैसे—अमरूद हमको बेकार करता है। पाचक बेचनेवाले कहते हैं—हाजमा हजम। परन्तु क्या ये सभी प्रयोग हम साहित्य में रख सकते हैं? कभी नहीं। साहित्य की भाषा और बोल-चाल की भाषा में सदा सब जगह अन्तर रहता है और रहेगा। हाँ, साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा से बहुत दूर नहीं जा पड़नी चाहिए। साहित्य की भाषा का ऐसा रूप तो नहीं होना चाहिए कि जन-साधारण से उसका कोई सम्पर्क ही न रह जाय; पर वह शिष्ट और नागरिक अवश्य होना चाहिए।

हम पहले कह चुके हैं कि विदेशी भाषाओं में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका बहिष्कार हमारे लिए कठिन भी होगा और हानिकर भी। बहुत-से विदेशी शब्द तो हमें आवश्यकता-वश भी लेने पड़ेंगे। जो विदेशी शब्द हमारी भाषा में आकर पूरी तरह से घुल-मिल गये हैं, उनसे हम अलग-अलग तरह के

---

१. कदाचित् इसी सिद्धान्त के अनुसार पटने के एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक इस रूप में छपा था—'श्री देव का छपड़ा में भाषण।' बिहार के लोग प्रायः 'र' की जगह 'ड़' और 'ड़' की जगह 'र' बोलते हैं। जैसे—'हम घोरा पर चढ़ के बजार में गये रहे।' इसी लिए यहाँ 'छपरा' (बल्कि 'छपरे') का 'छपड़ा' हो गया था!

भाव प्रकट करने में सहायता ले सकते हैं। 'हवा' भी हमारी भाषा का प्रायः उतना ही आवश्यक अंग हो गया है, जितना 'वायु' या 'पवन' है। इसी प्रकार और भी बहुत-से शब्द हैं। अँगरेजी शब्दों में हमें जो सूक्ष्म अन्तर दिखाई देते हैं, वे सूचित करनेवाले शब्द स्थिर करते समय ऐसे शब्द हमारे बहुत काम आ सकते हैं। एक बात और है। जब एक बार कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होने लग जाय, तब उसमें किसी तरह की छेड़-छाड़ करना ठीक नहीं। उदाहरणार्थ 'नर' और 'मादा' हैं तो विदेशी भाषा के शब्द ही, पर प्रायः सभी भारतीय भाषाओं और बोलियों में मिल गये हैं। फिर 'नर' शब्द उतना विदेशी भी नहीं है; क्योंकि वह हमारे यहाँ के संस्कृत 'नर' से ही निकलकर विदेशी भाषा में चला गया है, और वहाँ से एक विशिष्ट निश्चित अर्थ लेकर फिर हमारी भाषा में आ गया है। 'मादा' भी वस्तुतः 'मातृ' से ही निकला है। ये दोनों शब्द पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं के लिंग के सूचक हो गये हैं। जैसा कि हम पहले एक अवसर पर बतला चुके हैं, यदि हम इनके स्थान पर 'पुरुष' और 'स्त्री' का प्रयोग आरम्भ कर दें तो ये शब्द अनेक स्थलों पर बहुत-कुछ भ्रामक हो सकते हैं। जो कुछ हम ले चुके हैं, उससे हमें पूरा-पूरा और ठीक तरह से काम लेना चाहिए। साथ ही हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि फारसी भाषा से हमें विशेष द्वेष इसलिए नहीं होना चाहिए कि वह भी प्राचीन संस्कृत की ही एक शाखा है। उसके बहुत-से पुराने शब्द संस्कृत के उसी प्रकार तद्भव शब्द हैं, जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं के तद्भव शब्द हैं। फारसी में भी बहुत-कुछ उसी प्रकार समास बनते, प्रत्यय लगते और सन्धियाँ होती हैं, जिस प्रकार संस्कृत में। फारसी के जिन शब्दों पर हमारी संस्कृत की स्पष्ट छाप है, वे वस्तुतः हमारे ही हैं, पराये नहीं हैं। उदाहरणार्थ—सप्ताह और हफ्तः, पाद और पा, हस्त और दस्त, शिर और सर, गो और गाय, अश्व और अस्प, पितृ और पिदर, भ्रातृ और बिरादर, क्षीर और शीर, जाति और ज़ात, कर और गर आदि। संस्कृत 'दन्त' से पंजाबी में भी 'दन्द' बना है और फारसी में भी 'दन्द' ही है। फारसी में इस 'दन्द' का बहुवचन 'दन्दाँ' होता है और पंजाबी में भी, विभक्ति लगने से पहले, उसका बहुवचन रूप 'दन्दाँ' ही होता है।

संस्कृत 'पाद' (पैर के अर्थ में) से बँगला में तो 'पा' होता ही है, फारसी में भी 'पा' ही होता है। फ़ारसी का 'तेज़' (विशेषण) हमारे यहाँ के सं० 'तेज' (तेजस्) से ही निकला है। हाँ, अरबी शब्दों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह बिलकुल भिन्न जाति की भाषा है और उसकी प्रकृति हमारी भाषा की प्रकृति से बहुत अलग है। हाँ, विदेशी शब्द लेते समय हमें उनके मूल रूप का ध्यान छोड़कर उन्हें अपने यहाँ का रूप देना चाहिए। तकाज़ा, ज़ुबान, सर, जहेज़, खुर्दः, पर्दः, बैरक, टैंक, बॉम्ब आदि की जगह हमें तगादा, जबान, सिर, दहेज, खुदरा, परदा, बारिक, टंक, बम आदि रूप ही रखने चाहिएँ।

विभक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

हिन्दी में विभक्तियों के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित नियम या सिद्धान्त नहीं है। कुछ लोग सभी शब्दों के साथ विभक्तियाँ मिलाकर लिखने के पक्षपाती हैं; और कुछ लोग केवल सर्वनामों के साथ उन्हें मिलाकर लिखते हैं; बाकी शब्दों में अलग रखते हैं। कुछ लोग केवल का, की, के, ने, में, को और से ही शब्दों के साथ मिलाते हैं; 'पर' नहीं मिलाते। पूर्वकालिक क्रियाएँ (लेकर, देकर, होकर आदि) भी कुछ लोग मिलाकर और कुछ लोग अलग लिखते हैं। आज-कल के कुछ ऐसे नये लेखक भी हैं जो यह जानते ही नहीं कि हिन्दी में विभक्तियों के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। ऐसे लेखक दोनों में से किसी एक पक्ष के सिद्धान्त का भी ठीक तरह से पालन नहीं करते। इस सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट अवसरों पर हमारे देखने में यह विलक्षण बात भी आई है कि कुछ लेखक विभक्तियाँ मिलाकर तो अवश्य लिखते हैं, पर वे 'की' विभक्ति और 'की' ('किया' का स्त्री० रूप) में अन्तर नहीं समझते। वे कुछ इस तरह लिखते हैं—'इस बातकी बहुत कुछ कोशिश की गई थी।' इसे हम छापे की भूल इसलिए नहीं कह सकते कि हमने कई लेखकों को कई जगह इस तरह के प्रयोग करते हुए देखा है। बहुत दिन पहले हमारे समाचार-पत्रों में इस विषय पर बड़ा विवाद छिड़ा था, जो बरसों तक चलता रहा। उस समय कोई सिद्धान्त तो स्थिर न हो सका था; हाँ, विवाद इतना बढ़ा कि वह अपने पीछे कई क्षेत्रों में बहुत कटुता छोड़ गया। पर

भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए एक सिद्धान्त होना चाहिए। सदा के लिए इस विषय में दो पक्ष बने रहना वांछनीय नहीं है।

भाषा के बाद लिपि लीजिए। लिपि के सुधार का प्रश्न छिड़ने पर कुछ लोग बेहतर चिढ़ और चौंक जाते हैं वे समझते हैं कि यह हमारी संस्कृति पर आघात हो रहा है। हमने साक्षर ही नहीं बल्कि विद्वान् कहलानेवाले कुछ लोगों को भी यह कहते हुए सुना है कि हमारी लिपि की सभी बातें, जिनमें वर्ण-माला का क्रम और अक्षरों के लिखे जानेवाले रूप भी सम्मिलित हैं, हजारों बरसों से इसी तरह और ज्यों की-त्यों चली आ रही हैं; और हम प्राण रहते उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने देंगे ! कुशल यही है कि इस प्रकार के उपयोगी कामों में बाधक होने के लिए प्राणों तक की बाजी लगानेवाले सज्जनों की हमारे यहाँ अधिकता नहीं है। फिर भी लिपि-सम्बन्धी आवश्यकताओं का विवेचन करने से पहले हम ऐसे महानुभावों को एक-दो बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। पहली बात तो यह है कि इधर दो हजार वर्षों में हमारी वर्ण-माला और लिपि ने न जाने कितने उलट-फेर देखे हैं। इस बीच में अनेक नये अक्षर बढ़ गये हैं और कुछ पुराने अक्षर और उच्चारण छूट भी गये हैं। अक्षरों के लिखे जानेवाले रूपों में भी धीरे-धीरे बहुत से हेर-फेर हुए हैं और वे बहुत-कुछ विकसित होने के बाद सभी प्रांतों में, अपने वर्त्तमान रूपों में आये हैं। अतः इस कथन में कुछ भी तथ्य नहीं है कि हमारी वर्ण-माला और लिपि अशोक-काल से इसी रूप में चली आ रही है। ऐसा कहकर तो हम अपने आपको विज्ञों के सामने उपहासास्पद ही बनाते हैं। अतः इस प्रकार की थोथी बातों को छोड़कर हमें लिपि-सम्बन्धी प्रश्नों पर शान्त भाव से विचार करना चाहिए।

लिपि-सुधार की आवश्यकता

इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि वर्ण-माला या अक्षरों का क्रम (जिसमें उनके उच्चारण भी सम्मिलित हैं) एक चीज है; और अक्षरों के लिखे जानेवाले रूप दूसरी चीज हैं। जहाँ तक वर्ण-माला का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह मानने में शायद किसी को आपत्ति न होगी कि देवनागरी से बढ़कर पूर्ण और वैज्ञानिक अक्षरावली संसार की और किसी

लिपि की नहीं है। आज-कल जिसे हम उर्दू लिपि कहते हैं, वह जहाँ-जहाँ गई, वहाँ-वहाँ उसमें कुछ नये चिह्न, कुछ नये अक्षर जोड़ने की आवश्यकता हुई। हमारे देश के ट, ड और ड़ सूचित करने के लिए उसमें ٹ (टे) ڈ (डाल) और ڑ (ड़े) जोड़ने पड़े थे और महाप्राण अक्षर लिखने के लिए उसमें ھ (दो-चश्मी हे) बढ़ाई गई थी। उर्दू लिपि का सबसे अधिक सुधार सिन्धियों ने किया। उन्होंने महाप्राण अक्षर लिखने के लिए यह 'दो-चश्मी हे' भी उड़ा दी। उन्हें 'छ' लिखना होता है तो चे (چ) में ही तीन की जगह चार नुकते लगा देते हैं; और 'थ' लिखना होता है तो 'ते' (ت) पर दो की जगह चार नुक़ते कर देते हैं। उर्दू लिपि में ث (से) س (सीन) और ص (साद या स्वाद) और ذ (ज़ाल) ز (ज़े) ض (ज़ाद या ज़्वाद) और ظ (ज़ो) सरीखे जो बहुत-कुछ समान उच्चारणवाले अक्षर हैं, वे उस लिपि के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचने पर वहाँ की अलग-अलग आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ाये गये हैं। उर्दू लिपि की ये त्रुटियाँ दूर करने के लिए डा० महमूद ने प्रस्ताव किया था कि इस प्रकार के प्रायः समान उच्चारणवाले शब्द किसी एक निश्चित अक्षर से ही लिखे जाया करें और शेष अक्षर उर्दू वर्ण-माला में से निकाल दिये जायँ। पर अनेक प्रतिक्रियक मुसलमानों ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। पर अब उर्दूवालों ने एक शुभ सुधार किया है जो उर्दू को हिन्दी के कुछ पास ला रहा है। आज-कल प्रायः आरम्भिक विद्यालयों में विद्यार्थियों को अलिफ, बे, पे आदि की जगह अ, ब, प आदि सिखाये जाते हैं; और हिज्जे कराते समय 'काफ रे ज़बर कर' की जगह उनसे 'क + र = कर' कहलाया जाता है। हम उनकी इस सद्बुद्धि का हृदय से अभिनन्दन करते और इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि की कामना करते हैं।

उर्दू का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उसमें पूरे अक्षर प्रायः लिखे ही नहीं जाते, अधूरे और संक्षिप्त रूप में ही लिखे जाते हैं; और जहाँ पूरे अक्षर लिखे भी जाते हैं, वहाँ भी वे पाठकों के मन में भ्रम उत्पन्न किये बिना नहीं रहते। उसमें मकसम, मकसिम और मुकस्सिम सरीखे शब्द साधारणतः एक ही तरह से लिखे जाते हैं। स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने एक अवसर पर बतलाया था कि उर्दू में लिखा हुआ एक ملک शब्द शायद बारह या

तरह से पढ़ा जा सकता है। यदि उसमें लिखा जायगा—'बुक डिपो' तो पढ़ा जायगा—'बकड़पो' और यदि लिखा जायगा—'जवाब तक नहीं मिला' तो पढ़ा जायगा—'जो अब तक नहीं मिला'। एक पुस्तक में छपा तो था—'इन सूक्तों के......।' पर पढ़ा जाता था—'इन सौ कुत्तों के...।' भागवत के एक हस्त-लिखित उर्दू अनुवाद में एक बार हम लोगों ने एक जगह पढ़ा था—'बाल्मीक जी नवाब खान्दान थे।' घण्टों सिर-पच्ची करने पर अन्त में समझ में आया—'बाल्मीक जी तो आप चांडाल थे।' कुछ दिन पहले महात्मा गान्धी ने हिन्दुस्तानी कान्फरेन्स को उर्दू में लिखकर जो सन्देश भेजा था, वह वहाँ बिल्कुल गलत पढ़ा गया था। सन् १९४५ में संयुक्त प्रान्त में जब निर्वाचक-सूची बनने लगी थी, तब अधिकारियों के ध्यान में यह बात आई कि उर्दू लिपि में जो हिन्दी नाम लिखे जाते हैं, वे ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सकते। इसलिए उन्होंने निश्चय किया था कि सब नाम पहले हिन्दी में लिखे जायँ; और उनका क्रम नागरी वर्णमाला के अनुसार लगाया जाय; और तब उर्दू में उनकी प्रतिलिपि तैयार की जाय। इस प्रकार पुरानी सरकार को भी उर्दू-लिपि की सदोषता माननी पड़ी थी। अतः उर्दू का विचार छोड़कर हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

रोमन लिपि में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। उसमें जो गुण हैं, उनका विचार तो आगे होगा; पर यहाँ वर्ण-माला की पूर्णता का प्रश्न है, इसलिए हमें पहले उसकी त्रुटियाँ ही दिखानी पड़ती हैं। जहाँ तक वर्ण-माला का सम्बन्ध है, वहाँ तक रोमन बहुत ही अपूर्ण है और उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं। केवल २६ अक्षर मनुष्य की भाषा लिखने के लिए कभी पर्याप्त नहीं हो सकते। उसकी इसी अपूर्णता और त्रुटियों के कारण जार्ज बर्नर्ड शॉ सरीखे जगत्-प्रसिद्ध विद्वान् को कहना पड़ा था कि अँगरेजी भाषा में होनेवाले ४२ उच्चारणों के लिए जो आदमी ४२ अक्षरों की एक पूरी वर्णमाला तैयार कर दे, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति देने को तैयार हूँ। हमारी देवनागरी की सबसे बड़ी तारीफ यही है कि उसमें वे त्रुटियाँ बिलकुल नहीं हैं, जो उर्दू या रोमन आदि लिपियों में हैं। इसी लिए एक सज्जन ने बर्नर्ड शॉ के उत्तर में कहा था कि क्यों न अँगरेजी भाषा भी देवनागरी वर्णमाला ग्रहण कर

लें ! यह प्रस्ताव है तो बहुत समीचीन, पर अभी इसके कार्यान्वित होने की कोई आशा नहीं है। सुना है, अमेरिका के रॉबर्ट आवेन नामक एक सज्जन ने, जो बहुत दिनों तक वहाँ की सिनेट के सदस्य रह चुके हैं और जो अब बिलकुल अन्धे हो गये हैं, ४२ अक्षरों की ऐसी नई वर्णमाला और लिपि तैयार की है जो संसार की सभी भाषाओं के लिए काम दे सकती है। यह भी सुनने में आया था कि महात्मा गान्धी तथा बर्नर्ड शॉ ने उसे पसन्द किया था। उसके सम्बन्ध में विशेष बातें तो अभी तक ज्ञात नहीं हुई हैं, फिर भी उसके वर्णों की संख्या देखकर हम कह सकते हैं कि वह बहुत कुछ हमारी देव-नागरी के ढंग की ही होनी चाहिए। जहाँ तक वर्णों के क्रम और उच्चारण का सम्बन्ध है, वहाँ तक हमारी वर्ण-माला संसार में सर्व-श्रेष्ठ है; और सचमुच वह हमारे लिए बहुत बड़े अभिमान की चीज है।

परन्तु हमें इस अभिमान के कारण फूलकर ही नहीं रह जाना चाहिए। हमें फिर भी यह देखना चाहिए कि उनमें कहीं कोई कमी तो नहीं है। और यदि अच्छी तरह विचार करने पर हमें उसमें कोई कमी दिखाई दे तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें अपनी वर्ण-माला का तो पूरा-पूरा मोह होना चाहिए, पर अक्षरों के लिखे जानेवाले रूपों का मिथ्या मोह नहीं होना चाहिए। अक्षरों के रूप पर विचार करते हुए हम यह बतलाना चाहते हैं कि हमारी वर्ण-माला में किन बातों की कमी है।

आज-कल प्रतियोगिता का युग है। सभी चीजें मुकाबले में देखी जाती हैं[1]। और किसी लिपि-प्रणाली के मुकाबले में तो शायद नहीं, पर रोमन लिपि-प्रणाली के मुकाबले में हमारी लिपि, छापेखाने और टाइप राइटर की दृष्टि से भी और लिखाई के सुभीते के विचार से भी, बहुत-कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू ने लखनऊ में एक अवसर पर (जून, १९४५) कहा था 'आज-कल किसी भाषा की अच्छाई इस बात से नहीं देखी जाती कि उसका व्याकरण कितना पूर्ण है, बल्कि वह तो इस दृष्टिकोण से देखी जाती है कि किस भाषा के लिखने, छापने और प्रयोग करने में सबसे ज्यादा सहूलियत होती है।' इस कथन में लिखाई छपाई की सहूलियत का जो जिक्र है, वह लिपि के सम्बन्ध में ही है।

है। उर्दू का यहाँ हमने जान-बूझकर इसलिए नाम नहीं लिया कि एक तो उसकी सदोषता सभी लोग मानते हैं; और दूसरे वह एक प्रकार की संक्षिप्त लिपि-प्रणाली ही है। रोमन अक्षरों की बनावट कुछ ऐसी होती है कि वे बहुत ही छोटे होने पर भी सहज में पढ़े जा सकते हैं। पर देव-नागरी के उतने छोटे अक्षर सिर्फ इसलिए नहीं ढलते कि उस आकार में वे पढ़े ही नहीं जा सकते। हमारे अक्षरों की बनावट इतनी पेचीली होती है कि विवश होकर उनके कुछ बड़े आकार के टाइप ढालने पड़ते हैं। फल यह होता है कि अँगरेजी के एक पृष्ठ का अनुवाद साधारणतः हिन्दी के दो पृष्ठों में छपता है। अँगरेजी में जो पुस्तक दो सौ पृष्ठों की हो, हिन्दी में वह चार सौ पृष्ठों की होगी। स्वयं अपने और कांग्रेस पर लगाये हुए सरकारी अभियोगों का महात्मा गांधी ने जो उत्तर दिया था (१९४४), वह अँगरेजी दैनिक 'अमृतबाजार पत्रिका' ने तो अपने दो ही पृष्ठों में छाप डाला—चाहे बहुत ही छोटे अक्षरों में क्यों न छापा हो। पर हमारे यहाँ उतने छोटे अक्षर किसी तरह बन ही नहीं सकते। और जितने छोटे अक्षर बन सकते हैं, या बनते हैं, उनमें यदि उस उत्तर का अविकल अनुवाद छापा जाय तो शायद उस आकार के छः पृष्ठों में भी पूरा न आवे। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें उतना ही काम करने के लिए अँगरेजी की अपेक्षा तिगुने व्यय, परिश्रम, कागज और समय की आवश्यकता होगी। यदि इस दृष्टि से विचार करने पर भी हिन्दीवालों को अपने अक्षरों के रूप त्रुटिपूर्ण न जान पड़ें तो फिर हमें और कुछ नहीं कहना है।

आज-कल सभी उन्नत देशों में छापे के अक्षर बैठाने का काम मशीनों से लिया जाता है। इसके लिए मोनो-टाइप, लाइनो-टाइप आदि कई तरह की मशीनें हैं, जिनसे रोमन अक्षर छापे के लिए बैठाये जाते हैं और जिनका बहुत अधिक प्रचार है। देव-नागरी अक्षरों के लिए भी इस प्रकार की कुछ मशीनें बनी हैं जो कुछ स्थानों में काम में लाई जाती हैं; पर देव-नागरी लिपि के अक्षरों की रूप-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण ही इन मशीनों का विशेष प्रचार नहीं होने पाता। यदि हम अपनी लिपि की वे कठिनाइयाँ दूर कर सकें तो इस प्रकार की मशीनें खूब चल सकती हैं और उनके द्वारा सारे

देश में इस लिपि का बहुत सहज में प्रचार हो सकता है।

अब टाइप-राइटर की दृष्टि से विचार कीजिए। जो कठिनाई छापे के सम्बन्ध में है, बहुत कुछ वही कठिनाई टाइप-राइटर के सम्बन्ध में भी है। पर वह कठिनाई इस दृष्टि से कुछ कम हो सकती है कि अँगरेजी में तो सभी अक्षर छोटे और बड़े दो तरह के होते हैं, पर हिन्दी में वे एक ही तरह के होते हैं। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से कठिनाई इसलिए फिर ज्यों-की-त्यों हो जाती है कि हमारे यहाँ के अधिकतर अक्षर पूरे भी होते हैं और दूसरे अक्षरों से संयुक्त होने के लिए आधे भी। अतः बात फिर जहाँ-की तहाँ आ जाती है; बल्कि देव-नागरी अक्षरों की संख्या अधिक होने के कारण कठिनाई कुछ और बढ़ जाती है। अँगरेजी टाइप-राइटर में जो अनेक विराम-चिह्न आदि होते हैं, वे हिन्दी टाइप-राइटर में नहीं आ सकते। यही कारण है कि अँगरेजी के टाइप-रायटर के मुकाबले में हिन्दी के टाइप-राइटर में अनेक त्रुटियाँ होती हैं और उससे काम लेना बहुत-कुछ कठिन होता है; और इसी लिए उसका यथोचित प्रचार भी नहीं होने पाता।

छापे और टाइप-राइटर की कठिनाइयाँ हमारे अक्षरों की विलक्षण बनावट के कारण ही होती हैं; और उनकी वह विलक्षणता हाथ से लिखने के समय ज्यों-की-त्यों ही नहीं बनी रहती, बल्कि कुछ और बढ़ भी जाती है। एक 'क' लिखने के लिए पहले ऊपर शीर्ष-रेखा लगाइए, फिर बीच में एक खड़ी पाई लगाइए, फिर एक तरफ एक वृत्त-सा बनाइए और तब दूसरी तरफ एक छोटी बेड़ी पाई लगाकर उसे नीचे की तरफ ले जाकर खड़ी पाई बनाइए। एक अक्षर लिखने में इतने कृत्य! इसी लिए अब कुछ लोग शीर्ष-रेखा छोड़कर लिखने लग गये हैं, जिससे कुछ तो समय और श्रम बचता ही है। पर बदले में अक्षरों की सुन्दरता कम हो जाती है।

हम डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के इस मत का तो समर्थन नहीं कर सकते कि हमें रोमन-लिपि ग्रहण कर लेनी चाहिए, क्योंकि वह तो आप ही अनेक दोषों से युक्त है। उसे लेकर हम क्या करेंगे! पर हाँ, यदि किसी प्रकार हम भी उससे कुछ मिलती-जुलती लिपि-प्रणाली निकाल सकें या उसी में कुछ हेर-फेर करके उसे अपनी वर्ण-माला और आवश्यकता के

अनुसार सुधारकर अपने अनुरूप कर सकें तो फिर हम दावे से कह सकेंगे कि हमारी लिपि-प्रणाली सभी दृष्टियों से ठीक वैसी ही पूर्ण है, जैसी पूर्ण हमारी वर्ण-माला है। उस अवस्था में संसार की और कोई लिपि इसका मुकाबला न कर सकेगी; और इसका बहुत अधिक प्रचार होगा। बल्कि हमारा तो निश्चित मत है कि उस अवस्था में पहले तो हमारी लिपि का और तब उसके द्वारा हमारी भाषा का उसी प्रकार संसार के अनेक बड़े-बड़े भागों में प्रचार हो जायगा, जिस प्रकार आज-कल अँगरेजी भाषा और रोमन लिपि का है। इधर आठ-दस वर्षों में बहुत से लोगों ने देव नागरी के सुधार के प्रश्न पर विचार किया है; और कुछ सज्जनों ने कुछ नये सुझाव भी जनता के सामने रक्खे हैं। उन सब पर उचित विचार होना चाहिए; और जो सुझाव सबसे अच्छे हों, वे ग्रहण किये जाने चाहिएँ। यह विषय ऐसा है जो देश के विद्वानों के लिए विशेष रूप से विचारणीय है। और इसी लिए हमारी प्रान्तीय सरकार ने भी और केन्द्रीय सरकार ने भी लिपि-सुधार के लिए समितियाँ बना दी हैं, जिनके निर्णय की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही है।

लिपि-सुधार की एक योजना कुछ क्षेत्रों में प्रचलित है जो वर्धा योजना के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें मुख्य बात यही है कि स्वरों के लिए अलग चिह्न नहीं रक्खे गये हैं। एक 'अ' में ही स्वरों की मात्राएँ लगाकर काम निकाला जाता है। चाहे शिक्षा (वेदांग) के विचार से यह प्रणाली भले ही कुछ दूषित सिद्ध हो, पर सुभीते और उपयोगिता का ध्यान रखते हुए यह दोष क्षम्य हो सकता है। यदि 'आ' और 'ओ' लिखा जाता है, तो 'अि' और 'अी' क्यों न लिखा जाय? वर्धावाली योजना कोई बिलकुल नई चीज भी नहीं है। गुरुमुखी में अब तक 'ई' की जगह 'अी' लिखा जाता है। हमारे यहाँ के प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थों में भी उसका कुछ प्रयोग कहीं-कहीं देखने में आता है। जैसे—

सकहिं न खेइ अैक नहिं आवा।

पर आज-कल 'अैक' की जगह 'ऐक' लिखा जाता है। इसमें के 'ऐ' के सम्बन्ध में कुछ शिक्षकों की एक आपत्ति यह भी है कि जब 'ए' की मात्रा है, और साधारणतः उससे 'ए' का बोध होता है, तब यही मात्रा 'ए' के ऊपर

लगने पर (अर्थात्) 'ऐ' में दीर्घ स्वर की सूचक कैसे हो जाती है? वर्धा-वाली प्रणाली से छापे की कुछ कठिनाइयाँ अवश्य दूर हो जाती हैं, और इसी लिए अब धीरे-धीरे उसका प्रचार हो रहा है। पर इतने से ही हमारा काम नहीं चल सकता। अभी हमें अनेक प्रकार के सुधार करने पड़ेंगे और बहुत-कुछ आगे बढ़ना होगा।

इधर कुछ दिनों में हमने अपनी लिपि-प्रणाली में कुछ छोटे-मोटे सुधार किये भी हैं। अँगरेजी के Hall और Paul सरीखे शब्द अब हम मराठी-वालों की तरह 'हॉल' और 'पॉल' लिखने लगे हैं। हम 'अङ्ग' या 'अङ्ग' की जगह 'अंग', पङ्क्त' या 'पङ्क्ति' की जगह 'पंक्ति' और 'चञ्चल' की जगह 'चंचल' ही लिखते हैं। 'सङ्ग्रह' रूप लिखने में भी, नये चिह्नों की पढ़ने में भी और छापे की दृष्टि से भी बहुत कठिन है; आवश्यकता इसलिए सब लोग 'संग्रह' ही लिखते हैं। और ऐसा ही होना चाहिए।

पर कुछ स्वरों में हमें एक-दो नये चिह्नों की आवश्यकता प्रतीत होती है। हिन्दी के 'और' का उच्चारण कुछ और तरह का होता है और संस्कृत के 'गौर' का और तरह का। स्वयं 'और' भी पश्चिम में कुछ और तरह से बोला जाता है, पूरब में कुछ और तरह से। उसका पूर्वी उच्चारण बहुत-कुछ 'अउर' से मिलता-जुलता है। यही बात 'ऐसा' और 'दैनिक' या 'खैर' और 'दैत्य' के उच्चारणों के सम्बन्ध में भी है। 'ऐसा' का उच्चारण बहुत-कुछ 'अयसा' के समान और 'खैर' का 'खयर' के समान तथा 'दैनिक' का उच्चारण बहुत-कुछ 'दइनिक' के समान तथा 'दैत्य' का 'दइत्य' के समान होता है। अँगरेजी में Bell, Tell आदि का उच्चारण और तरह का होता है और Bale, Tale आदि का उच्चारण कुछ और तरह का। अर्थात् एक ही मात्रा में ह्रस्व और दीर्घ के-से कुछ भेद होते हैं। कुछ विशेष अवस्थाओं में हमें इनके सूचक चिह्नों की बहुत आवश्यकता होती है। इस प्रकार के भेद सूचित करने के लिए कुछ लोगों ने बँगला की ऐकार की मात्रा के ऊपरी भाग से काम लेना आरम्भ किया है और वे 'बेल' 'टेल' आदि लिखने लगे हैं। पर अभी इसका प्रचार बहुत कम हुआ

गाँव में एक छोटा कूआँ और उसके पास ही एक बड़ा ताल भी था। कूएँ का पानी पीने के काम आता था और ताल का पानी नहाने-धोने के लिए था। उससे कुछ ही आगे एक छोटी नदी भी बहती थी। सावन-भादों में नदी का पानी बहुत बढ़ जाता था और गाँव के बहुत पास आ जाता था। पर गरमी के दिनों में नदी सूख जाती थी और उसमें घुटने-घुटने भर पानी रह जाता था। सबेरे सन्ध्या गाँव के लोग उसमें नहाते थे और लड़के उसके किनारे खेलते थे।

गाँव के पास ही एक छोटा जंगल भी था। उसी जंगल में गाँववालों की गौएँ चरने जाती थीं। बुढ़िया की गौ भी वहीं चरती थी। बुढ़िया वहीं से जलाने के लिए लकड़ियाँ भी चुन लाया करती थी। बैसाख-जेठ में भी उस जंगल में बहुत ठंढक रहती। दोपहर को भी वहाँ धूप नहीं लगती थी और पेड़ों के नीचे ठंढी हवा चलती थी।

बुढ़िया पास-पड़ोस के सब लोगों से मेल-जोल रखती थी। गाँव के लोग भी उसके खेतों की देख-भाल कर दिया करते थे। वह कभी किसी से लड़ती-झगड़ती नहीं थी। कभी-कभी कुछ लोग काम धन्धे से छुट्टी पाने पर उसके पास आ बैठते। उनसे बुढ़िया अपने छोटे-मोटे काम भी करा लेती थी। रसोई बना चुकने पर दोपहर को वह कुछ सूत भी कात लेती थी। उसी सूत से उसके ओढ़ने-बिछाने के एक-दो कपड़े बन जाते थे। घर में गौ थी ही, जिससे दूध-दही और घी का भी काम चल जाता था। सन्ध्या होने पर वह घर में दिया जलाकर भजन करने बैठ जाती थी। उस समय गाँव के दस-पाँच आदमी भी वहाँ आ पहुँचते थे और उसके पास बैठकर ईश्वर का नाम जपते थे।

इस तरह बुढ़िया आप भी सुखी रहती थी और दूसरों को भी सुखी रखती थी। वह सदा सबको अच्छी बातें बताती थी। बहुत-से लोग तो उसकी मीठी-मीठी बातें सुनने के लिए ही उसके पास आ बैठते थे। छोटे-छोटे लड़कों और लड़कियों की तो उसके घर भीड़ लगी रहती थी। गाँव भर में वही सबसे सयानी या समझदार और सुखी समझी जाती। इसी से आस-पास के गाँवों में उसका बहुत नाम हो गया था।

गाँव में एक छोटा कूआँ और उसके पास ही एक बड़ा ताल भी था। कूएँ का पानी पीने के काम आता था और ताल का पानी नहाने-धोने के लिए था। उससे कुछ ही आगे एक छोटी नदी भी बहती थी। सावन-भादों में नदी का पानी बहुत बढ़ जाता था और गाँव के बहुत पास आ जाता था। पर गरमी के दिनों में नदी सूख जाती थी और उसमें घुटने-घुटने भर पानी रह जाता था। सबेरे सन्ध्या गाँव के लोग उसमें नहाते थे और लड़के उसके किनारे खेलते थे।

गाँव के पास ही एक छोटा जंगल भी था। उसी जंगल में गाँववालों की गौएँ चरने जाती थीं। बुढ़िया की गौ भी वहीं चरती थी। बुढ़िया वहीं से जलाने के लिए लकड़ियाँ भी चुन लाया करती थी। बैसाख-जेठ में भी उस जंगल में बहुत ठंढक रहती। दोपहर को भी वहाँ धूप नहीं लगती थी और पेड़ों के नीचे ठंढी हवा चलती थी।

बुढ़िया पास-पड़ोस के सब लोगों से मेल-जोल रखती थी। गाँव के लोग भी उसके खेतों की देख-भाल कर दिया करते थे। वह कभी किसी से लड़ती-झगड़ती नहीं थी। कभी-कभी कुछ लोग काम धन्धे से छुट्टी पाने पर उसके पास आ बैठते। उनसे बुढ़िया अपने छोटे-मोटे काम भी करा लेती थी। रसोई बना चुकने पर दोपहर को वह कुछ सूत भी कात लेती थी। उसी सूत से उसके ओढ़ने-बिछाने के एक-दो कपड़े बन जाते थे। घर में गौ थी ही, जिससे दूध-दही और घी का भी काम चल जाता था। सन्ध्या होने पर वह घर में दिया जलाकर भजन करने बैठ जाती थी। उस समय गाँव के दस-पाँच आदमी भी वहाँ आ पहुँचते थे और उसके पास बैठकर ईश्वर का नाम जपते थे।

इस तरह बुढ़िया आप भी सुखी रहती थी और दूसरों को भी सुखी रखती थी। वह सदा सबको अच्छी बातें बताती थी। बहुत-से लोग तो उसकी मीठी-मीठी बातें सुनने के लिए ही उसके पास आ बैठते थे। छोटे-छोटे लड़कों और लड़कियों की तो उसके घर भीड़ लगी रहती थी। गाँव भर में वही सबसे सयानी या समझदार और सुखी समझी जाती। इसी से आस-पास के गाँवों में उसका बहुत नाम हो गया था।

अगर तुम भी लोगों से लड़ना-झगड़ना छोड़कर मीठा बोलना सीखो और सदा सबकी भलाई के काम किया करो, तो सब लोग तुम्हारी भी बड़ाई करेंगे और तुम बहुत सुख से रहोगे।

(ख) दस से पन्द्रह वर्ष तक के बालकों के लिए

भारत के पश्चिम में फारस नाम का एक देश है। किसी समय वहाँ एक बहुत बड़ा राजा राज्य करता था। वह अपने अच्छे गुणों के कारण दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वह सदा सबके साथ न्याय करता और किसी को कष्ट न होने देता था। उसके राज्य में सब लोग बहुत सुखी थे। न तो कोई किसी को सता सकता था, न सिर उठा सकता था।

राजा न तो किसी की निन्दा सुनना पसन्द करता था, न अपनी प्रशंसा। हाँ, ठीक बातें सभी लोग उसके सामने निडर होकर कह सकते थे। वह सदा अपने नौकरों को भी और प्रजा को भी अच्छी शिक्षाएँ देता था। जहाँ तक हो सकता था, वह सबका उपकार करता था और कठिन समय पड़ने पर सबकी सहायता करता था। इसी से सब लोग उससे प्रेम भी करते थे और उसका आदर भी।

जब राजा बुड्ढा हो चला, तब उसने सोचा कि अब मुझे संसार के सब झगड़े-बखेड़े छोड़कर बाकी समय परमात्मा के ध्यान में बिताना चाहिए। राज्य का मालिक तो उसका बड़ा लड़का था ही; पर उसके सिवा उसके दो और लड़के भी थे। सारा राज्य तो उसने अपने बड़े लड़के को सौंप दिया; पर एक बहुत बड़ा मोती, जिसका दाम बहुत अधिक था, अपने पास रख लिया। वह मोती राजा अपने उस लड़के को देना चाहता था जिसके विचार सबसे अच्छे हों। इसलिए एक दिन उसने अपने तीनों लड़कों को अपने पास बुलाया और उनसे पूछा कि इधर तीन महीनों के अन्दर तुम लोगों ने कौन-सा सबसे अच्छा काम किया है।

पहले सबसे बड़े लड़के ने उत्तर दिया—महाराज, कोई महीने-भर पहले जब मैं आपकी आज्ञा से राज्य का काम देखने के लिए कहीं

पर गया था, तब एक जौहरी ने मुझे बहुत-से रत्न एक स्थान पर पहुँचाने के लिए दिये थे। उन रत्नों का उस जौहरी के पास कोई लेख नहीं था। यदि मैं चाहता तो उसमें से बहुत-से रत्न निकाल लेता। पर मैंने ऐसा करना उचित न समझा और सब रत्न ज्यों-के-त्यों ठिकाने पहुँचा दिये। मेरे ध्यान में तो यही मेरा सबसे अच्छा काम है।

दूसरे राजकुमार ने कहा—महाराज, अभी परसों सन्ध्या को जब मैं टहलने निकला था, तब मैंने देखा कि एक स्त्री का छोटा-सा बालक खेलता-खेलता नदी में गिर गया। वह स्त्री सहायता के लिए रोने-चिल्लाने लगी। मैं अपने जीवन की परवा न करके चट नदी में कूद पड़ा और उस बालक को खींचकर किनारे ले आया। यदि मैं ऐसा न करता तो उस बालक के प्राण न बचते। मैंने अपनी जान जोखिम में डालकर उस लड़के के प्राण बचाये थे।

सबसे छोटे राजकुमार ने कहा—कल मैं सैर करने के लिए पास की पहाड़ी पर चढ़ रहा था। वहाँ एक चट्टान पर मुझे अपना एक पुराना शत्रु सोया हुआ दिखाई दिया। यदि वह नींद में करवट लेता तो पहाड़ी के नीचे जा पड़ता और उसके प्राण निकल जाते। इसलिए मैंने उसे जगाकर सचेत कर दिया। इस पर उसने लज्जित होकर मुझे धन्यवाद दिया और वह मेरा मित्र बन गया।

राजा ने वह बड़ा मोती उसी छोटे लड़के को दे दिया; क्योंकि उसने अपने शत्रु पर भी दया दिखलाकर उसे अपना मित्र बना लिया था। राजा समझता था कि शत्रु पर भी दया करनेवाला ही सबसे अच्छा होता है।

(ग) पन्द्रह से बीस वर्ष तक के नव-युवकों के लिए

नेटाल की कोयलेवाली खानों में जो हड़ताल हुई, वह कुछ ही दिनों में बढ़कर चीनी के कारखानों तक भी पहुँच गई थी। इस पर सरकार ने उचित और अनुचित सभी उपायों से मजदूरों को दबाना आरम्भ किया। पुलिस ने अनेक अवसरों पर हड़तालियों पर गोलियाँ भी चलाई थीं, जिनसे बहुत से असहाय मजदूर घायल हो गये थे और कुछ लोग मर भी गये थे। सरकारी जासूस जगह-जगह घूमते रहते थे; और यह पता लगाते फिरते थे कि वास्तव में इन मजदूरों को भड़कानेवाले नेता कौन हैं। जहाँ उन्हें किसी

पर जरा भी सन्देह होता था, वहाँ वे चट उसके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करते थे। ऐसे अवसरों पर वे अधिक जाँच-पड़ताल या छान-बीन करने की आवश्यकता नहीं समझते थे; और न कभी उस आदमी से कुछ पूछते थे, जिसपर उन्हें अभियोग चलाना होता था। फल यह हुआ कि चारो ओर लोगों पर अन्धाधुन्ध अत्याचार होने लगे। यदि अपनी रक्षा के लिए कोई कुछ प्रमाण देना चाहता था, तो उसे उसका भी अवसर नहीं दिया जाता था। न्यायालयों का तो यह नियम-सा हो गया था कि जो सामने आवे, उसे अवश्य दंड दिया जाय। थोड़े ही समय में सब कैदखाने भर गये और सरकार को नये कैदखाने बनवाने पड़े। कैदखानों में भी छोटे-छोटे अपराधों के लिए लोगों को कठोर दंड दिये जाते थे, और अनेक प्रकार से उनका अपमान किया जाता था। सरकार की ओर से नित्य नई नई आज्ञाएँ निकला करती थीं; और अधिकारी अपना अधिकार जतलाने का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे। न जाने कितने घर नष्ट हुए, कितनी सुहागिनें विधवा हुईं और कितने बालक अनाथ हुए। दिन-पर-दिन बढ़नेवाले अत्याचारों ने लोगों को अधीर कर दिया। इस प्रकार के अत्याचार उन्होंने पहले कभी सहे नहीं थे; और झूठे अभियोग सुनने का उन्हें अभ्यास नहीं था। व्यर्थ की डाँट-डपट और झिड़कियाँ सुनते-सुनते लोग तंग आ गये थे। परन्तु उन्हें गान्धी जी से सत्य और अहिंसा की जो शिक्षा मिली थी, उसके कारण वे यही समझते थे कि परमात्मा इस समय हमारे इन गुणों की परीक्षा ले रहा है; और अन्त में हमारी विजय होगी। ये सब कष्ट सहकर ही हम जल्दी अपने अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। इसी लिए उन लोगों पर जो कुछ बीतती थी, उसे वे बहुत प्रसन्नता से सहते थे और अपने अच्छे भविष्य की आशा लगाये रहते थे। कष्ट उनका उत्साह कम नहीं कर सकते थे। इस सम्बन्ध में सबसे विलक्षण बात यह थी कि कभी उनके मुँह से कोई शिकायत तक नहीं निकलती थी। और यही कारण था कि अन्त में सरकार को दबकर उनसे समझौता करना पड़ा; और उनकी प्रायः सभी माँगें पूरी करनी पड़ीं। संसार ने देख लिया कि अत्याचारों और अन्याय पर सत्य तथा न्याय की कैसे विजय होती है।

बुन्देलखंड में झाँसी नामक एक प्रसिद्ध और प्राचीन नगर है। सन् १८५७ के विप्लव से पहले वहाँ एक बड़ा देशी राज्य था। मुगल सूबेदार मुहम्मद खाँ बंगश को परास्त करने में बाजीराव पेशवा को महाराज छत्रसाल से जो बहुत अधिक सहायता मिली थी, उसके पुरस्कार-स्वरूप बाजीराव पेशवा ने अपने विशाल राज्य का कुछ अंश, जिसकी व्यवस्था पहले पेशवाओं के सूबेदार करते थे, महाराज छत्रसाल को दे दिया था। सन् १७५६ में रघुनाथ हरि नेवालकर नामक एक सज्जन झाँसी के सूबेदार नियुक्त हुए थे, जिन्होंने चालिस वर्षों तक बहुत ही योग्यतापूर्वक वहाँ का शासन किया था। इसलिए पेशवाओं ने वहाँ की सूबेदारी सदा के लिए उन्हें और उनके वंशजों को दे दी थी। जब पेशवाओं की शक्ति बहुत क्षीण हो गई, तब सूबेदार शिवराज भाऊ ने वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। तभी से झाँसी की गणना भारत के बड़े और स्वतन्त्र राज्यों में होने लगी थी। इसी राजवंश के महाराज गंगाधर राव सन् १८३८ में झाँसी के राज सिंहासन पर आसीन हुए थे। सुप्रसिद्ध वीर तथा युद्ध-कुशल महारानी लक्ष्मीबाई इन्हीं महाराज गंगाधर राव की महिषी थीं।

महारानी लक्ष्मीबाई के पिता श्री मोरोपन्त ताम्बे बहुत ही साधारण कोटि के गृहस्थ थे। वे दूसरे बाजीराव पेशवा के भाई चिमाजी आप्पा की सेवा में काशी में रहकर सामान्य रूप से अपना जीवन व्यतीत करते थे। उसी अवस्था में १९ नवम्बर सन् १८३५ को काशी में उनकी गृहिणी के गर्भ से लक्ष्मीबाई ने जन्म धारण किया था। जब लक्ष्मीबाई की अवस्था केवल तीन वर्ष की थी, तभी उनकी माता का परलोक-वास हो गया था; इससे उनके लालन-पालन का भार उनके पिता पर आ पड़ा था। चिमाजी आप्पा के स्वर्गवासी होने पर मोरोपन्त अपनी कन्या सहित दूसरे बाजीराव पेशवा की सेवा में रहने के लिए बिठूर चले गये। बाल्यावस्था से ही बालिका लक्ष्मीबाई परम रूपवती होने के अतिरिक्त विचक्षण और कुशाग्र-बुद्धि भी थीं; और उनमें उज्वल भविष्य के अनेक लक्षण दृष्टि-गोचर होने लगे थे। इसलिए पेशवा भी उनपर वात्सल्य-भाव से पूर्ण अनुग्रह रखते थे। पेशवा के लड़कों के साथ

रहकर लक्ष्मीबाई ने अल्प समय में ही घुड़-सवारी और अस्त्र-शस्त्र आदि चलाने की कला की अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली थी। संयोग से ही उन्हें जो वह शुभ अवसर मिल गया था, उसका उन्होंने पूरा-पूरा और उचित उपयोग किया था। कुछ दिनों के उपरान्त बाजीराव पेशवा की ही कृपा तथा प्रयत्न से उनका विवाह झाँसी के महाराज गंगाधरराव जी से हो गया था। लक्ष्मी-बाई के अनुपम रूप तथा गुणों से परम सन्तुष्ट होकर महाराज गंगाधरराव भी उनका यथेष्ट आदर-सत्कार करते थे। लक्ष्मीबाई भी सबके साथ अपनी उत्कृष्ट मर्यादा के अनुरूप ही आचरण तथा व्यवहार करती थीं। इन्हीं लक्ष्मीबाई ने अपने शौर्य और रण-कौशल से युद्ध में बड़े-बड़े अँगरेज सैनिक अधिकारियों के दाँत खट्टे किये थे; और सन् १८५७ वाले स्वातंत्र्य-युद्ध में वीरतापूर्वक लड़कर अपने देश का गौरव बढ़ाया था और ... अर्जित की थी।